आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के उपन्यासों के कथ्यगत अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

की

पी0एच0डी0 उपाधि के निमित्त प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

2002

शोध निर्देशिका
डॉ0 श्रीमती नीलम मुकेश
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
दयानन्द वैदिक महाविद्यालय, उरई
(जालौन)

अनुसंधित्सिका
कु0 राखी पाण्डेय
52, पुराना रायगंज
सीपरी बाजार, झाँसी

डॉ. (श्रीमती) नीलम मुकेश
विभागाध्यक्ष
हिन्दी विभाग
डी.वी.पी.जी. कालेज, उरई

कार्यालय : 52214
निवास : 50532

निवास :
1075, सिविल लाइन, जालौन रोड
उरई–285001 (जिला जालौन)

दिनांक 19.12.02

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है, कि कु0 राखी पाण्डेय ने 'हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों के कथ्यगत अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन' विषय पर पी–एच0डी0 उपाधि के लिए मेरे निर्देशन में रहकर शोधकार्य विधिवत् बड़े परिश्रम एवं लगन से पूरा कर लिया है।

इनका शोधकार्य सर्वथा मौलिक है, अतः निरीक्षण के पश्चात् 'मूल्याँकन' के लिए इस प्रबन्ध को विश्वविद्यालय में प्रस्तुत करने की अनुमति प्रदान करती हूँ।

डॉ0 श्रीमती नीलम मुकेश

प्राक्कथन

हिन्दी उपन्यासकारों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी जैसे समर्थ उपन्यासकार का विशेष स्थान है, जिन्होंने सन्तुलनवादी दृष्टि से उपन्यासों के कथ्य एवं शिल्प गठन में विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। उन्होंने औपन्यासिक शिल्प एवं उसकी महती परम्परा का अध्ययन कर हिन्दी एवं हिन्दीतर भारतीय साहित्य और विशेषतः संस्कृत साहित्य की पारस्परिक रचना प्रविधि के प्रकाश में उपन्यासों की रचना की है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी बहुज्ञ साहित्यकार हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में उपन्यास के कथ्य के साथ–साथ विविध धर्मी अवान्तर विषयों को भी विवेच्य विषय बनाया है। यद्यपि द्विवेदी जी को प्रख्यात् समालोचक निबन्धकार के रूप में ख्याति प्राप्त हैं, फिर भी उपन्यासकार के रूप में अवान्तर विषयों के कारण उनकी औपन्यासिक कला में निष्णात् भूमिका व्याख्यायित हुई है।

जहाँ तक मेरा ज्ञान है, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी पर आचार्य वशिष्ठ शिववल्‍से, डॉ0 के0 आर0 श्रीनिवास गुप्त, डॉ0 विनोदिनी सिंह, डॉ0 सुधीर कुमार चौहान, डॉ0 लक्ष्मी लाल वैरागी, डॉ0 जयकिशोर मिश्रा शास्त्री आदि विद्वानों ने अपने शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किये हैं, जो निःसन्देह मूल्यवान हैं, परन्तु मैंने अपने अध्ययन में पाया, कि आचार्य द्विवेदी जी के उपन्यासों में अन्तर्निहित अवान्तर विषयों पर किसी भी शोधार्थी की दृष्टि नहीं गई है। एतदर्श निराभीष्ट है, कि आचार्य द्विवेदी जी द्वारा प्रणीत उपन्यासों के कथ्य में अन्तर्निहित अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन किया जाये, अतएव मेरे शोध का मूल अभिप्रेत होगा कि अवान्तर विषयों का विश्लेषण करते हुये हिन्दी साहित्य में इस अन्तर्भूत तथ्य को उजागर करूँ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध पाँच अध्याय में विभक्त है। प्रथम अध्याय में 'क' खण्ड में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के चारों उपन्यास– बाणभट्ट की आत्मकथा, चारुचन्द्रलेख, पुनर्नवा, अनामदास का पोथा, उपन्यास का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। 'ख' खण्ड में कथ्यगत अवान्तर विषयों का अनुशीलन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में बाणभट्ट की आत्मकथा उपन्यास के कथ्यगत अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन किया गया है।

तृतीय अध्याय में भी विभिन्न अवान्तर विषयों को 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में खोजने का प्रयास किया गया है, तथा चतुर्थ अध्याय में 'अनामदास का पोथा' तथा पंचम अध्याय में 'पुनर्नवा' उपन्यास के अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है, और अन्त में 'उपसंहार' अध्याय में समस्त विवेच्य विषय का समाहार उपस्थिति करते हुये, आचार्य द्विवेदी जी के उपन्यासों के कथ्यगत अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन इस आशा के साथ प्रस्तुत किया है, कि मेरे शोध प्रबन्ध द्वारा एक सर्वथा नव सामग्री प्रकाश में आयेगी।

मुझे इस शोध कार्य में जिन लोगों के द्वारा प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग, प्रेरणा प्राप्त हुई, उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ। सर्वप्रथम श्री डी0एन0 समाधिया (प्राचार्य डी0वी0सी0, उरई) तथा डॉ0 नीलम मुकेश (हिन्दी विभागाध्यक्ष) के प्रति आभार व्यक्त करूँगी, जिन्होंने मुझे आचार्य द्विवेदी जी के उपन्यासों पर शोध ग्रन्थ प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी है। अपनी गुरू एवं निर्देशिका डॉ0 नीलम मुकेश (विभागाध्यक्ष) जी मेरी सम्पूर्ण श्रद्धा की केन्द्र बिन्दु हैं। मैं अपने सम्पूर्ण भावों के साथ उनके सम्मुख विनत हूँ, इस कामना के साथ कि जीवनपर्यन्त उनका स्नेहाशीष मुझे मिलता रहे। साथ में डॉ0 राजेश चन्द्र पाण्डेय एवं कुमारेन्द्र सिंह (हिन्दी विभाग डी0वी0सी0, उरई) का भी आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने मुझे इस शोध कार्य में सहयोग दिया। मेरे परिवार के समस्त सदस्यों ने प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष सहयोग देकर मेरे इस कार्य को सुगम बनाया, मैं उनके स्नेह के प्रति विनत हूँ।

सबसे अन्त में मैं ***राजाराम एण्ड सन्स, उरई*** के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ; क्योंकि मेरा शोध प्रबन्ध जो इतने व्यवस्थित एवं शोभनरूप में टंकित होकर बाहर आ सका, उसमें उनका ही परिश्रम एवं सहयोग छिपा है।

राखी पाण्डेय

राखी पाण्डेय

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय (विषय प्रवेश)

(क) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय -

१. बाणभट्ट की आत्मकथा

२. चारूचन्द्रलेख

३. पुनर्नवा

४. अनामदास का पोथा

(ख) कथ्यगत अवान्तर विषयों का अनुशीलन -

१. ज्योतिष गणित

२. आध्यात्म

३. दर्शन

४. भाषा विज्ञान

५. पौराणिक वृत्ति

६. इतिहास

७. राजनीति

८. धर्म

९. संस्कृति

१०. अन्य लौकिक एवं अलौकिक अवधारणायें

विषय प्रवेश

भारतीय उपन्यास कला :–

एक शताब्दी से भी अधिक समय से भारतीय साहित्याकाश को ताराकमण्डल के समान समाकृत किये हुये उपन्यास साहित्य के प्रथम नक्षत्र का जन्म कब हुआ, यह आज भी विद्वानों के विचार का विषय बना हुआ है। साथ ही साथ गद्य काव्य की इस विधा का 'उपन्यास' नामकरण क्यों किया गया? यह भी विचार का विषय है। इन सभी विचारणीय बिन्दुओं से पूर्व उपन्यास शब्द के अर्थ के विषय में विभिन्न विद्वानों के मत–मतान्तरों का अन्वीक्षण आवश्यक है।

उपन्यास शब्द की व्युत्पत्ति :–

उपन्यास शब्द का मूल अर्थ है –'निकट रखी हुई वस्तु' (उप–निकट; न्यास–रखी हुई)। संस्कृत लक्षण ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग नाटक की संधियों के उपभेद के लिए हुआ है। इसकी दो प्रकार से व्याख्या की गई है –''उपन्यासः प्रसादनम्'' –अर्थात् प्रसन्न करने को 'उपन्यास' कहते हैं। दूसरी व्याख्या के अनुसार 'उपपत्ति कृत्तोहतर्थ उपन्यासः संकीर्तितः''–अर्थात् किसी अर्थ को युक्ति रूप में उपस्थित करना उपन्यास कहलाता है। इन व्याख्याओं के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है, कि उपन्यास में प्रसन्नता देने की शक्ति तथा युक्ति युक्ति रूप में अर्थ को प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति के कारण इस प्रकार की कथा प्रधान रचनाओं का नाम 'उपन्यास' पड़ा हो।

लेकिन उपन्यास का शब्दार्थ– उप=निकट, न्यास-रखना, अर्थात् सामने रखने से स्पष्ट है, कि उपन्यासकार पाठक के निकट अपने मन की कोई विशेष बात, कोई नवीन मत रखना चाहता है। याज्ञवल्क्य स्मृति में न्यास शब्द का प्रयोग रखना[1] तथा स्वप्न वासवदत्तम में न्यास शब्द का अर्थ धरोहर के अर्थ में किया गया है।[2] प्राचीन संस्कृति काव्य–परम्परा की सारणी में स्वयं डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी न्यास शब्द का प्रयोग धरोहर के ही अर्थ में किया है।[3] संस्कृत साहित्य में न्यास शब्द का प्रयोग धरोहर के अर्थ में पर्याप्त रूप से हुआ है, परन्तु उपन्यास शब्द का प्रयोग कहीं भी धरोहर से सम्बद्ध दिखाई नहीं देता।

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति (व्यवहार अध्याय) सप्तम प्रकरण श्लोक सं0 105
2. स्वप्न वासवदत्तम् (भास) प्रथम अंक, श्लोक सं0 10
3. ह0प्र0द्वि0 (अनामदास का पोथा) भूमिका, पृ0सं0 305

उपन्यास शब्द के वर्तमान रूप में प्रचलन से पूर्व प्राचीन संस्कृत साहित्य में उपन्यास शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है, परन्तु वर्तमान समय में उपन्यास शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, उस अर्थ से उसका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। आचार्य भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' में नाटक की प्रतिमुख संधि के अंक के अर्थ में उपन्यास शब्द का व्यवहार किया गया है। 'दशरूपकम' में भी प्रतिमुख संधि के 12वीं अंक के उपन्यास नाम से व्यवहृत करते हुये 'प्रसादनमुपन्यास'[1] कहकर उसकी परिभाषा दी गई है। उपन्यासस्तुवाङ्मुखम्[2] कहने वाले अमरकोषकार ने उपन्यास शब्द का अर्थ वाङ्मुख किया है। भारवि ने अपने ग्रन्थ 'किरातार्जुनीयम्' में 'उपन्यस्यति' क्रिया का प्रयोग किया है।

संस्कृत के अवगाहन से स्पष्ट है, कि आधुनिक समय में प्रचलित अर्थ के रूप में उपन्यास शब्द का प्रयोग किसी भी संस्कृत ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होता।

भारत की कई प्रान्तीय भाषाओं में यह शब्द भिन्न–भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। जिस अर्थ में हिन्दी 'व्याख्यान' 'वक्तृता' आदि शब्द प्रचलित है।

'उपन्यास' शब्द का दक्षिण में किया गया प्रयोग इसके उत्तर भारतीय प्रयोग की अपेक्षा संस्कृत साहित्य की प्रयोग परम्परा से अधिक सम्बद्ध है। दक्षिण की भाषाओं में अंग्रेजी 'नॉवेल' शब्द के लिए उसी की तौल पर एक संस्कृत शब्द 'नवल' गढ़ लिया गया है। उपन्यास वस्तुतः ही नवल अर्थात नया और ताजा साहित्यांग है। हिन्दी में 'कथा' 'आख्यायिका' आदि शब्दों को छोड़कर अंग्रेजी 'नॉवेल' का प्रतिशब्द 'उपन्यास ही माना गया है।

उपन्यास की परिभाषा :–

विभिन्न विद्वानों में 'उपन्यासों की परिभाषा करते हुये इस शब्द के मूल शाब्दिक अर्थ की ओर इसी कारण ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उन्होंने उपन्यास की विशेषता एवं गुण को दृष्टि में रखकर ही उपन्यास की परिभाषा दी है। डॉक्टर 'श्याम सुन्दर दास' "मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा को उपन्यास मानते हैं।" प्रेमचन्द के शब्दों में उपन्यास 'मानव चरित्र का चित्र मात्र है। और मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।"[3] बाबू गुलाबराय का मत है कि 'उपन्यास कार्य कारण श्रृंखला में बंधा हुआ वह गद्य कथानक

---

1. दशरूपकम् – प्रथम प्रकाश, श्लोक पृ0सं0 35
2. अमरकोष – शब्दादिवर्ग
3. कुछ विचार (प्रेमचन्द) पृष्ठ सं0 38

उपन्यास शब्द के वर्तमान रूप में प्रचलन से पूर्व प्राचीन संस्कृत साहित्य में उपन्यास शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है, परन्तु वर्तमान समय में उपन्यास शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, उस अर्थ से उसका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। आचार्य भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' में नाटक की प्रतिमुख संधि के अंक के अर्थ में उपन्यास शब्द का व्यवहार किया गया है। 'दशरूपकम' में भी प्रतिमुख संधि के 12वीं अंक के उपन्यास नाम से व्यवहृत करते हुये 'प्रसादनमुपन्यास'[1] कहकर उसकी परिभाषा दी गई है। उपन्यासस्तुवाङ्मुखम्[2] कहने वाले अमरकोषकार ने उपन्यास शब्द का अर्थ वाङ्मुख किया है। भारवि ने अपने ग्रन्थ 'किरातार्जुनीयम्' में 'उपन्यस्यति' क्रिया का प्रयोग किया है।

संस्कृत के अवगाहन से स्पष्ट है, कि आधुनिक समय में प्रचलित अर्थ के रूप में उपन्यास शब्द का प्रयोग किसी भी संस्कृत ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होता।

भारत की कई प्रान्तीय भाषाओं में यह शब्द भिन्न–भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। जिस अर्थ में हिन्दी 'व्याख्यान' 'वक्तृता' आदि शब्द प्रचलित है।

'उपन्यास' शब्द का दक्षिण में किया गया प्रयोग इसके उत्तर भारतीय प्रयोग की अपेक्षा संस्कृत साहित्य की प्रयोग परम्परा से अधिक सम्बद्ध है। दक्षिण की भाषाओं में अंग्रेजी 'नॉवेल' शब्द के लिए उसी की तौल पर एक संस्कृत शब्द 'नवल' गढ़ लिया गया है। उपन्यास वस्तुतः ही नवल अर्थात नया और ताजा साहित्यांग है। हिन्दी में 'कथा' 'आख्यायिका' आदि शब्दों को छोड़कर अंग्रेजी 'नॉवेल' का प्रतिशब्द 'उपन्यास ही माना गया है।

उपन्यास की परिभाषा :–

विभिन्न विद्वानों में 'उपन्यासों की परिभाषा करते हुये इस शब्द के मूल शाब्दिक अर्थ की ओर इसी कारण ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उन्होंने उपन्यास की विशेषता एवं गुण को दृष्टि में रखकर ही उपन्यास की परिभाषा दी है। डॉक्टर 'श्याम सुन्दर दास' ''मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा को उपन्यास मानते हैं।'' प्रेमचन्द के शब्दों में उपन्यास 'मानव चरित्र का चित्र मात्र है। और मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।''[3] बाबू गुलाबराय का मत है कि 'उपन्यास कार्य कारण श्रृंखला में बंधा हुआ वह गद्य कथानक

1. दशरूपकम् – प्रथम प्रकाश, श्लोक पृ0सं0 35
2. अमरकोष – शब्दादिवर्ग
3. कुछ विचार (प्रेमचन्द) पृष्ठ सं0 38

है, जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्‌घाटन किया जाता है।"[1] भगवत शरण उपाध्याय साहित्य के अन्य अंगों के समान उपन्यास को जीवन का दर्पण मानते हैं। कुछ विद्वान उपन्यास को आधुनिक युग का महाकाव्य" कहते हैं। सभी विद्वानों ने अपने–अपने विचारों के अनुसार उपन्यास की सर्वांगपूर्ण परिभाषा देने का प्रयत्न किया है। प्रत्येक विचारक ने उपन्यास को मानव जीवन का वास्तविक चित्र माना है। यह सत्य है, कि उपन्यास मानव जीवन का चित्र है, वाङ्मय की अन्य विधाओं के समान जीवन की वास्तविकताओं का परिचय कराते हुये मानव को एक आदर्श मार्ग पर चलाने के लिए प्रेरणा देना भी उपन्यास का मूल उद्देश्य है, अतः मानव जीवन के शाश्वत उद्देश्य की ओर इंगित करना उपन्यास की परिभाषा की पूर्णता के लिए आवश्यक है। उपन्यास में यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति ही प्रधान रहती है। वह यदा कदा होने वाले अपने आदर्शवादी चित्रण में भी आधार भूमि यथार्थ को ही ग्रहण करता है।

भारतीय उपन्यास का उद्‌भव एवं क्रमिक विकास :–

आधुनिक उपन्यास साहित्य के रूप विधान का विकास सबसे पहले यूरोप में माना जाता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राचीन भारत में उपन्यास जैसी किसी विधा का प्रचार ही नहीं रहा। 18वीं शताब्दी के अन्त तक यूरोप के विभिन्न भागों में उपन्यास साहित्य का पर्याप्त विकास हो चुका था, किन्तु हिन्दी में इसका आविर्भाव 19वीं सती के अन्तिम चरण में हुआ। बंगाल में उपन्यासों की रचना हिन्दी से प्रारम्भ हो गई थी। बंगला के अनेक उपन्यासकारों – वंकिमचन्द्र, शरतचन्द्र, रवीन्द्र आदि का हिन्दी उपन्यास साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा।

उपन्यासकार प्रेमचन्द के अनुसार "कहानी का जन्म तो उसी समय हुआ जब आदमी ने बोलना सीखा।"[2] प्रागैतिहासिक काल में लोग एक दूसरे के मुख से सुनकर ही कथाओं का स्मरण रखते थे। वेदों में 'पुरूरवा' आदि की कथाओं के वीजांकुर प्राप्त होते हैं। तदन्तर सूत्र रूप से वे ही कथा बीज पुराणादिकों में विस्तृत कथानक का रूप पाकर सर्वजन ग्राह्य बन गये। कथात्मक साहित्य की वही सारणी गद्य काव्य के नाम से ख्यात कथा एवं आख्यायिका, शिलालेखों एवं

---

1. काव्य के रूप (गुलाबराय) पृष्ठ सं0 167
2. कुछ विचार (प्रेमचन्द) पृ0सं0 35

राजाओं के प्रशस्ति पत्रों के मार्ग को पार करती हुई, अंग्रेजी एवं बंगला भाषा के यत्किंचित प्रभाव से पगे उपन्यास के रूप में काव्य की एक महत्वपूर्ण विधा बन गई है।

भारतीय औपन्यासिक विधा के प्रारम्भिक प्रतिनिधि :–

आरम्भ में तो काव्य लेखन में 'पद्य' का ही साम्राज्य था। बाद में गद्य काव्यों का प्रणयन किया गया है। अग्निपुराण में गद्य काव्य के पाँच भेद वर्णित है –

"आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा।
कथालिकेत मन्यन्ते गद्यकाव्यं च पन्चधा।।"[1]

परन्तु आचार्य विश्वनाथ ने गद्यकाव्य के 'कथा' तथा 'आख्यायिका' ये दो भेद माने हैं तथा इन दो भेदों के ही लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उनके अनुसार –

'कथायां सरसं वस्तु गदयैरेव विनिर्भित्तिम।।
कृचित्रभवेदार्या कृचिद् वक्त्रापवक्त्र के।
आदो पदयैर्नमस्कारः खलादेवृत्ति कीर्तनम्।।[2]

अर्थात् कथायें सरस वस्तु गदयों से ही निर्मित होती है। इसमें कहीं कहीं आर्या तथा कहीं–कहीं वक्त्र एवं अपवक्त छन्द होते हैं। आरम्भ में पद्यमय नमस्कार और खालादिकों का चरित्र निबद्ध होता है।

पूर्व में आचार्य भामह ने भी गद्यकाव्य के 'कथा तथा आख्यायिका' ये ही दो भेद स्वीकार किये थे।"[3] दण्डी ने कथा एवं आख्यायिका को एक ही माना है। उनके अनुसार कथा व आख्यायिका एक ही जाति के दो नाम हैं। अमरकोष के अनुसार आख्यायिका का विषय सत्य और कथा का कल्पित होता है।[4]

संस्कृत के कादम्बरी दशकुमार चरित्र, आदि कथा ग्रन्थों को भी उपन्यास मानते हैं। अतः इसी अनुसार भारतीय उपन्यासों की परम्परा का सम्बन्ध उन्हीं से जोड़ा जाता है। पालि भाषा में 'जातक' और अपभ्रंश में विद्यापति की 'कीर्तिलता' आदि पुस्तकें भी कथा साहित्य का ही अंग है। पैशाची भाषा में गुणाढ़य की 'वृहत्कथा' की रचना हुई। इसी प्रकार रासो या चरित आदि की रचना हुई। इस प्रकार प्राचीन समय में अनेक कथा ग्रन्थों की रचना हुई जो आधुनिक उपन्यास के

1. अग्निपुराण का काव्य शास्त्रीय भाग, पृ0सं0 27
2. साहित्य दर्पण, षष्ठ परिच्छेद, श्लोक संख्या – 332, 333
3. काव्यालंकार (भामह) प्रथम परिच्छेद
4. आख्यायिकोपलब्धार्या, प्रबन्ध कल्पना कथा 'अमरकोष शब्दादि वर्ग

मूल पूर्वज तो नहीं है, परन्तु उपन्यास उनका ऋणी अवश्य है। क्योंकि पहले के लिखे ग्रन्थों में औपन्यासिक तत्वों का अभाव है। उन्हें उपन्यास नहीं माना जा सकता, वे मात्र कथा ग्रन्थ हैं।

भारतीय उपन्यास विधा, साहित्य का वह पौधा है, जिसे यदि सीधे पश्चिम से नहीं लिया गया हो, तो उसका कलम बँगला से तो लिया गया था, न कि संस्कृत के कथाकार सुबंधु, दण्डी और बाण की लुप्त परम्परा पुनरुज्जीवित की गई थी। संस्कृत तथा सूफी ग्रन्थों में आधुनिक उपन्यास के कोई भी लक्षण नहीं मिलते हैं। हाँ बँगला के उपन्यासों का हिन्दी उपन्यासों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, और बँगला उपन्यास अपने प्रारम्भिक रूप में अंग्रेजी उपन्यास साहित्य से प्रभावित था, इसलिए प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यासों पर शिल्प की दृष्टि से अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी उपन्यास का प्रभाव कार्य कर रहा था।

भारतीय भाषाओं में रचित प्रथम मौलिक उपन्यास :–

भारतीय भाषाओं में बँगला लेखकों पर अंग्रेजी के प्रभाव की अतिशयता के कारण बँगला लेखक उपन्यास लिखने की ओर प्रेरित हुये। क्योंकि पाश्चात्य भाषाओं में 'नॉवेल' का प्रणयन बहुत पहले ही हो चुका था। बँगला भाषा के प्रथम उपन्यास 'अलालेर घरेर–दुलाल' का निर्माण टेकचन्द ठाकुर की लेखनी से सन् 1857 में हुआ था। यद्यपि इससे पूर्व भी भवानी चरण बन्धोपाध्याय द्वारा लिखित 'बाबूर उपाख्यान' तथा नववावु विलास नामक दो गद्य रचनाओं का प्रकाशन क्रमशः सन् 1821 व 1825 में हो चुका था। परन्तु ये दोनों रचनायें उपन्यास की परिभाषा में फिट नहीं बैठती। बँगला भाषा का प्रथम मौलिक उपन्यास 'अलालेर घरेर दुलाल' को ही माना जाता है।

इस उपन्यास के लेखक ने इसकी भूमिका में इसको प्रथम मौलिक उपन्यास का नाम दिया है। इसके लगभग आठ वर्ष के बाद वंग भाषा के प्रथम साहित्यिक उपन्यासकार श्री वंकिमचन्द्र चटर्जी के प्रसिद्ध बँगला उपन्यास 'दुर्गेशनन्दिनी' का प्रकाशन सन् 1865 में हुआ था। इसके बाद तो बँगला भाषा में उपन्यासों की बाढ़ सी आ गई। स्वयं वंकिमचन्द्र चटर्जी ने भी सन् 1865 से 1887 तक चौदह उपन्यासों का प्रणयन किया।

हिन्दी भाषा का प्रथम मौलिक उपन्यास :–

कुछ आलोचक ईंसाअल्ला खाँ रचित 'रानी केतकी की कहानी' को हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास मानते हैं। यद्यपि उपन्यास कला की दृष्टि से इस छोटी सी कथा पुस्तक का कोई मूल्य नहीं है, फिर भी सर्वप्रथम प्रारम्भिक कृति होने के नाते इसका महत्व अवश्य है। आचार्य

शुक्ल कथावस्तु और वर्णन प्रणाली की दृष्टि से लाला श्री निवासदास कृत 'परीक्षा गुरू' को हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास मानते हैं। परन्तु हिन्दी का प्रथम उपन्यासकार वे पण्डित किशोरी लाल गोस्वामी को ही स्वीकार करते हैं, जो लाला जी के परवर्ती उपन्यासकार हैं। इस विषय में शुक्ल जी का मत द्रष्टव्य है। आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं –"और लोगों ने भी उपन्यास लिखे, पर वे वास्तव में उपन्यासकार न थे। और चीजें लिखते–लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते हैं। पर गोस्वामी जी वहीं घर करके बैठ गये।" परन्तु आजकल 'परीक्षा गुरू' ही सर्वसम्मति से हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास माना जाता है। आधुनिक अर्थ में यही पहला उपन्यास था, जिसमें हमें सर्वप्रथम सामाजिक जीवन को चित्रित करने का प्रयास मिलता है। 'परीक्षा गुरू' से पूर्व भारतेन्दु जी ने भी 'हमीर हठ' नामक उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया था, जो पूर्ण न हो सका।

अम्बिका दत्त व्यास ने 'गद्य काव्य मीमांसा' के अन्त में कुछ उपन्यासों के नाम और प्रकाशन तिथि दी है, जिसके अनुसार 'परीक्षा गुरू' ही हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास रहता है। इससे पूर्व दो उपन्यास ग्रन्थों की रचना का उल्लेख प्राप्त होता है –एक पंजाब के श्रद्धा राम फुल्लौरी का भाग्यवती' और दूसरा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' परन्तु पिछली कृति गुजराती से हिन्दी अनुवाद मात्र है, जिसे मल्लिका देवी ने अनुवादित किया था और भारतेन्दु ने उसे शोधा था। 'भाग्यवती' यदि मौलिक रचना है तो निश्चय ही उसे हिन्दी का सर्व प्रथम उपन्यास माना जा सकता है, परन्तु हिन्दी का प्रथम सफल और मौलिक उपन्यास लाला श्री निवासदास का 'परीक्षा गुरू' ही हैं, जिसका 'भारतेन्दु पत्रिका' ने 'रणधीर और प्रेम मोहिनी का सहोदर कहकर स्वागत किया था।"[1]

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के मत से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार हैं। उनका कहना है कि 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' ने पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा नाम का सर्वप्रथम सामाजिक उपन्यास लिखा था।"[2] परन्तु डॉ0 श्रीकृष्णलाल के अनुसार यह गुजराती भाषा से[3] तथा डॉ0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय के अनुसार यह मराठी भाषा से [4] अनूदित है। डॉ0 श्रीकृष्णलाल के अनुसार, यह अनुवाद भी भारतेन्दु जी का किया हुआ नहीं अपितु मल्लिका देवी द्वारा किया हुआ है। भारतेन्दु जी ने तो इस अनुवाद का केवल संशोधन किया था। भारतेन्दु युग के अन्य कई लेखकों ने भी

---

1. श्रीनिवास ग्रन्थावली (सम्पादक – डॉ0 श्रीकृष्ण लाल) पृ0सं0 11
2. हिन्दी साहित्य (हजारी प्रसाद द्विवेदी) पृ0सं0 415
3. श्री निवास ग्रन्थावली पृ0सं0 11
4. आधुनिक हिन्दी साहित्य (लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय) पृ0सं0 102

उपन्यासों की रचना की, जिनमें रत्नचन्द्र प्लीडर का नूतन चरित्र (1883) बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी' (1886) और 'सौ अजान एक सुजान' (1892) राधाकृष्ण दास का 'निस्सहाय हिन्द' (1890) राध ाचरण गोस्वामी का 'विधवा विपत्ति' (1888), कार्तिक प्रसाद खत्री का 'जया' (1869), बालमुकुन्द गुप्त का 'कामिनी' आदि उल्लेखनीय है। डॉ0 विजय शंकर मल्ल........ने श्री फिल्लौरी जी का 'भाग्यवती' को हिन्दी का पहला उपन्यास घोषित किया है, किन्तु उन्होंने अपनी घोषणा की पुष्टि अपेक्षित प्रमाणों से नहीं की। विजय शंकर मल्ल के अनुसार –"उन्होंने स्वयं एक उपन्यास लिखना शुरू किया था, यह अधूरा उपन्यास 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती है, जिसमें उन्होंने जैसे 'परीक्षा गुरू' की सांकेतिक भूमिका ही प्रस्तुत कर दी है।"[1] यद्यपि इस कृति में उपन्यास के सभी गुण विद्यमान है, परन्तु आलोचकों ने उसे उपन्यास नहीं माना है। सम्भवतः इसका कारण इसका अधूरा होना है। अस्तु निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है, कि हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरू' ही है।

पाश्चात्य उपन्यास कला :–

यदि पाश्चात्य देशों की ओर दृष्टिपात किया जाये तो स्पष्ट है कि उपन्यास का आविर्भाव.........आधुनिक युग में हुआ है। उपन्यास के आविर्भाव के मूल में परम्परावादी विचारों के महत्व का त्याग तथा नवीन प्रगतिवादी विचारों का अस्तित्व में आना ही मुख्य कारण है। "जब तक यूरोप में धार्मिकता का बोलबाला रहा, तब तक यूरोपीय साहित्य में उपन्यास जैसी विधा के लिए कोई अवसर नहीं था। परन्तु औद्योगिक सभ्यता के आविर्भाव के साथ –साथ जैसे ही व्यक्तिमूलक विचारों को महत्व मिलना आरम्भ हुआ, तभी उपन्यास रूपी महावृक्ष का वीजारोपण हुआ।"[2]

नॉवेल शब्द की उत्पत्ति :–

'नॉवेल' शब्द के मूल में लैटिन भाषा के Novelle तथा Novellue एवं इटालियन भाषा के Noves तथा Novella शब्द हैं। वोकेशियों के समय में इटली के कवि ऐसी पद्य रचना को Noves कहते थे, जिसमें यथार्थ मानव जीवन का चित्रण किया जाता था। साथ ही साथ गद्य में लिखी हुई ऐसी ही कृतियों को Novella के नाम से पुकारा जाता था। सन् 1348 में वोकेशियों ने इटालियन भाषा में 'डीकैमरान्' नाम के एक Novella की रचना की। प्राचीन समय में लैटिन तथा इटालियन भाषा में Novella तथा फ्रेंच भाषा में Novelle के नाम से गद्य रचनायें की जाती रहीं।

---

1. आलोचना (उपन्यास विशेषांक) पृ0सं0 65
2. प्रेमचन्द, पूर्व हिन्दी उपन्यास (डॉ0 कैलाश प्रकाश) पृ0सं0 5–6

ऐलिजावेथ के शासनकाल में रचनायें अंग्रेजी में आ गई तथा उन अनूदित रचनाओं या उनकी अनुकृत रचनाओं के लिए 'नॉवेल' शब्द का व्यवहार भी प्रारम्भ हो गया। सन् 1566 से अंग्रेजी में 'नॉवेल' शब्द का व्यवहार वोकेशियों की यथार्थपरक गद्य रचनाओं के अनुकरण पर लिखी गई रचनाओं के लिए पाया जाता है। अंग्रेजी साहित्य में 'नॉवेल' शब्द का प्रयोग सन् 1460 से प्रारम्भ हो गया।

उपन्यास के Fiction शब्द का भी प्रयोग होता है। उपन्यास का उद्‌भव यूरोप में रोमाण्टिक कथा साहित्य से हुआ। मानव जीवन के यथार्थ चित्र को नॉवेल तथा मानव जीवन के अतिरंजित कल्पनात्मक वर्णन को रोमांस का नाम दिया जाता है। नॉवेल में कल्पना के साथ–साथ यथार्थ का भी वर्णन किया जाता है। नॉवेल में मानव जीवन का वह काल्पनिक चित्र उपस्थित किया जाता है, जो 'सम्भव' की सीमा रेखा के भीतर हो।

नॉवेल के विकास का इतिहास :–

18वीं शताब्दी के अन्त तक यूरोप के विभिन्न भागों में उपन्यास साहित्य का पर्याप्त विकास हो चुका था। पहले पहल इटली में प्रेम तथा साहसिकता से ओत प्रोत कथाओं की सृजन प्रक्रिया का आरम्भ हुआ। इटली के लेखक वोकेशियो की रचना 'डी कामरान' के सत्तावन वर्ष बाद सन् 1405 में स्पेन के सरवान्ते ने 'डनक्विग्जोट' की रचना करके उपन्यास साहित्य को नवीन आयाम दिया। तदन्तर सन् 1535 में फ्रेंच लेखक रेवेल का 'गरगन्तुआ' प्रकाशित हुआ। यूरोप के अनेक लेखकों ने अपनी–अपनी रचनाओं में उपन्यास साहित्य की श्रीवृद्धि में योगदान दिया।

18वीं शताब्दी से पहले इंग्लैण्ड में सर फिलिप सिडनी का 'जाकेडिया' (1590) और जान वुनियन का 'पिलग्रिम्स प्रोगेस' (1678–84), मोल फ्लेडर्स 1722 और राविंसन क्रसो नामक रचनायें डनेयल डिफो की प्रकाशित हो चुकी थी।

इसके पश्चात् यूरोप में अनेक लेखकों द्वारा प्रसिद्ध औपन्यासिक कृतियों का सृजन हुआ। सेम्युअल रिचर्डसन तथा हेनरी फील्डिग उन्हीं अमर कृतिकारों में से हैं। उनके पश्चात् इंग्लेण्ड में स्टर्न (ट्रिस्ट्रिम शेराडी), जेन आस्टिन प्राइड एण्ड प्रेजुडिस, सर वाल्टर स्काण्ट (वेवालॉनवेल्स) चार्ल्स डिकेंस (डेविड–कापर फील्ड), थेकरे (वेन्टी फेयर) और जार्ज इलियट (एडमवांड) आदि अनेक महान उपन्यासकार हुये। फ्रांस में वाल्टेयर, विक्टर ह्यूगो वाल्जक, स्टेन्दाल, फ्लावेयर और

अनातोले फ्रांस, जर्मनी में गेटे, रूस में पुश्किन, गोगोल, तुगनेव, दास्तावोस्की और टॉल्स्टाय, गोर्की जैसी महान विभूतियों ने अपनी अमर कृतियों से उपन्यास साहित्य का चरम विकास किया।"[1]

नॉवेल की परिभाषा :–

रॉल्फ फॉक्स द्वारा दी नॉवेल की परिभाषा के अनुसार – " उपन्यास केवल गद्यमय कथा ही नहीं है, यह तो मानव जीवन की ऐसी गद्य रचना है, जिसमें जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति हुई हो।"[2] रॉल्फ फॉक्स की यह परिभाषा उपन्यास को भारतीय महाकाव्य के धरातल पर लाकर खड़ा कर देती है। महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार महाकाव्य में अन्य अनेक विशेषताओं के साथ–साथ जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति एक महत्वपूर्ण शर्त है। अतः रॉल्फ फॉक्स की यह परिभाषा महाकाव्य की परिभाषा के साथ–साथ भारतीयता के भी अधिक निकट है।

दी न्यू पिक्चर्ड 'इनसाइक्लोपीडिया' के अनुसार –"गुम्फित कथा से युक्त पर्याप्त आकार वाली उस रचना को 'नॉवेल' कहा जाता है, जिसमें जीवन का वास्तविक चित्रण हो और जिसकी घटनायें व पात्र या तो सत्य हो या असत्य हो सकते हैं।"[3]

'एन साइक्लोपीडिया–ब्रिटेनिका' में दी गई परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में 'उपन्यास की कथा ऐतिहासिक सत्य नहीं अपितु सत्य के अनुरूप होती है।"[4] यह परिभाषा 'दी न्यू पिक्चर्ड एन साइक्लोपीडिया' में दी गई परिभाषा के क्षेत्र को कुछ संकुचित बनाकर भूल सुधार का प्रयास सी लगती है। परन्तु 'एन साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में दी गई परिभाषा के अनुसार यह ऐतिहासिक रूप से सत्य होनी आवश्यक नहीं है, अपितु 'सरलता से सत्य हो सकती यह आवश्यक है।

समस्त विचारकों की परिभाषा एक समान नही हैं, फिर भी कुछ विशेषतायें ऐसी है, जो सभी परिभाषाओं में उपलब्ध है। गहनता से देखा जाये तो किसी कथा को उपन्यास मानने के लिए निम्नलिखित विशेषताओं का होना आवश्यक है –

मानव जीवन की कल्पना प्रसूत सर्वांगीण अभिव्यक्ति होना, उपन्यास का पहला गुण है।

---

1. हिन्दी गद्य साहित्य (शिवदान सिंह चौहान) पृ0 50
   उद्घृत – आधुनिक हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास डॉ0 वेचन पृ0 28
2. The Novel and the People (Rolf Fox) Page- 25
3- The New Pictured Encyclopeadia (Volume-7)
4- Encyclopeadia Britanica, Valume-7

द्वितीय विशेषता रचना गद्य में लिखी हो। तृतीय विशेषता रचना का आकार (उपन्यास कहलाने के लायक) पर्याप्त होना चाहिए।

विश्व के महान उपन्यास लेखकों ने विश्व को जो कृतियाँ उपन्यास के नाम से समर्पित की हैं, वे सभी कृतियाँ सभी समसामायिक तथा पश्चाद्वर्ती समालोचकों ने उपन्यास ही मानी हैं। उनमें से किसी एक के भी उपन्यास होने में किसी को भी कोई आपत्ति नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है, कि परिभाषाओं की भाषा में भिन्नता होने पर भी उनकी आत्मा, अन्तः स्थित चेतना एक ही है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय

बीसवीं शताब्दी के भारतीय साहित्य के इतिहास में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन, इतिहास एवं परम्परा के पुनराख्याता के रूप में प्रसिद्ध हैं। आचार्य द्विवेदी जी हिन्दी साहित्य के ऐसे प्रकाश स्तम्भ है, जिन्होंने साहित्य की विभिन्न विधाओं को मौलिक दृष्टि से आलोकित किया है। वह कुशल आलोचक सुधी समीक्षक, व्याख्याता, निपुण, निबन्ध लेखक तथा सफल उपन्यासकार थे। उनका समग्र साहित्य उनकी व्यापक चतुर्दिक दृष्टि एवं बहुमुखी प्रतिभा का परिचायक है।

महान साहित्यकार, ज्योतिषाचार्य धर्मशास्त्री, सम्पादक, प्राध्यापक, शोधकर्ता आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने निबन्ध, शोध, आलोचनात्मक गम्भीर साहित्य के साथ उपन्यास को भी सृजन का क्षेत्र बनाया है। द्विवेदी जी द्वारा लिखे गये चार उपन्यास अग्रलिखित हैं –

1. बाणभट्ट की आत्मकथा
2. चारूचन्द्र लेख
3. पुनर्नवा
4. अनामदास का पोथा

द्विवेदी जी के उपन्यासों का प्रणयन एवं प्रकाशन क्रमशः सन् 1946, 1963, 1973, 1976 में हुआ था। बाणभट्ट की आत्मकथा भट्टिनी, बाणभट्ट तथा निपुणिका के प्रेम त्रिकोण पर आधारित कथा हैं। सिद्ध सामन्तकालीन समाज को आधार बनाकर लिखा गया 'चारूचन्द्र लेख' ज्ञान, इच्छा, क्रिया के रूप में त्रिधा विभक्त आद्यशक्ति की प्रतीक कथा है। चतुर्थ शताब्दी की घटनाओं पर आधारित पुनर्नवा आर्यक तथा चन्द्रा के चरित्रों के माध्यम से समय के अनुरूप विधि व्यवस्थाओं के परिमार्जन की अनिवार्यता का सन्देश देती है, और 'अनामदास का पोथा' एक ऐसे तापस कुमार रैक्व की कहानी है, जो संसार के दुःख दैन्य से द्रवित होकर निवृत्ति मार्ग को त्यागकर प्रवृत्ति मार्ग का अनुसरण करता है।

बाणभट्ट की आत्मकथा :–

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की औपन्यासिक कृतियों में प्रथम कृति 'बाणभट्ट की आत्मकथा' ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में लिखा गया उपन्यास है। इसमे लेखक ने उत्तर गुप्त कालीन इतिहास की पार्श्वभूमि में 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को प्रस्तुत किया है, तथा नारी समस्या पर समाधान पूर्ण विचार प्रस्तुत करते हुए तत्कालीन समाज व संस्कृति का जीता जागता चित्र खींचने में

सफलता प्राप्त की है, परन्तु इस उपन्यास में विचारणीय तथ्य यह है, कि इसकी कथा अधूरी है। इस विषय में लेखक का कथन है – "बाणभट्ट की अन्यान्य पुस्तकों की भाँति यह आत्मकथा भी अपूर्ण ही है।"[1] क्योंकि बाणभट्ट की सभी रचनायें अपूर्ण हैं, अतः द्विवेदी जी ने बाणभट्ट से सम्बद्ध इस कथा को भी अपूर्ण रखकर काव्य कुशलता का परिचय दिया है, परन्तु कुछ समालोचक कथा के अधूरेपन को लेखक की कमी और साहसहीनता से जोड़ते हैं। डॉ0 देवराज के मत में –"कथा अपूर्ण रह जाती है, अपनी परिणति की ओर नहीं बढ़ पाती, इसका एक कारण लेखक का अनावश्यक नैतिक संग्रह अथवा साहित्यिक साहसहीनता भी है।"[2]

यद्यपि नैतिक संग्रह के आधिक्य का दोष तो लेखक के सिर मढ़ा जा सकता है, परन्तु कथा का अपूर्ण रह जाना उसकी साहित्यिक साहसहीनता का परिचायक नहीं है। कथा को अपूर्ण रखना तो लेखक का अभिनव लेखन कौशल एवं बाणभट्ट की स्वभावगत विशेषता को प्रतीक के रूप में स्पष्ट करने की अभूतपूर्व सूझ का परिचायक है।

आचार्य द्विवेदी जी ने बाणभट्ट की आत्मकथा में हर्षकालीन भारत की राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की वास्तविक झाँकी ऐतिहासिक संगतियों के साथ प्रस्तुत की है, उस समाज के सम्मुख जो समस्यायें थी, उनको लेखक ने चित्रित किया हैं, आधुनिक समाज के संदर्भ में भी उनकी सार्थकता दृष्टिगोचर होती है।

डॉ0 लक्ष्मीशंकर वार्ष्णेय के अनुसार –

"यह लेखक का अभिनव कौशल ही है, कि जिन स्थितियों एवं समस्याओं को उन्होंने उठाया है, वे अपने काल सन्दर्भ में तो सार्थक हैं ही, उनकी उपयोगिता आधुनिक सन्दर्भों में भी उतनी ही है।"[3]

बाणभट्ट की आत्मकथा आत्मकथात्मक शैली, में लिखा गया एक ऐतिहासिक उपन्यास है। प्रायः सभी समालोचकों ने इसे ऐतिहासिक उपन्यास ही माना है। डॉ0 रामदरश मिश्र की मान्यता है, "बाणभट्ट की आत्मकथा' ऐतिहासिक उपन्यास के दायित्व को निभाने में पूर्णतः समर्थ है।.. .... द्विवेदी जी ने इतिहास में प्राप्त हर्षकालीन स्थूल आँकड़ों को आधार न बनाकर तत्कालीन साहित्य में चित्रित तथ्यों को आधार बनाया है।"[4]

---

(1) हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली (बाणभट्ट की आत्मकथा) पृष्ठ 21
(2) आधुनिक समीक्षा (डॉ0 देवराज) पृष्ट–144
(3) हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ (डॉ0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय) पृष्ठ 54
(4) हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा (डॉ0 रामदरश मिश्र) पृष्ठ 174

अनेक समालोचकों के अभिमत के विरुद्ध डॉ0 गणेशन ने इस उपन्यास को शुद्ध साहित्यिक उपन्यास माना है। द्विवेदी जी के आलोचनात्मक ग्रन्थों से उनके ऊपर पाण्डित्य का जो परिचय मिलता है, वही इससे भी मिलता है।"[1]

परन्तु स्वयं आचार्य द्विवेदी जी इसे ऐतिहासिक उपन्यास मानते है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के उपसंहार में उन्होंने लिखा है –"इतिहास की दृष्टि से छोटी मोटी असंगतियाँ चाहे हो जावे पर अधिकांश में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री से कथा की सामग्री का कोई विरोध नहीं है।"[2] इस उपन्यास के कथानक में प्रयुक्त हर्षवर्धन, कुमार कृष्णवर्धन, राज्यश्री, ग्रह वर्मा व तुगुर मिलिन्द ऐतिहासिक प्रमाणिक पात्र हैं, तथा कथानक के प्रमुख पात्र – बाणभट्ट संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में कथामुख लिखने के पश्चात् मुख्यकथा लिखी। द्विवेदी जी ने कथामुख के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' मेरे द्वारा लिखित नहीं वरन् यह कथा आस्ट्रिया के सम्भ्रान्त ईसाई परिवार की कन्या (दीदी) मिस कैथराइन को राजगृह की यात्राकाल में संस्कृत भाषा में लिखित पाण्डुलिपि में प्राप्ति हुई थी, दीदी ने उसका रूपान्तर कराया, बाणभट्ट की अन्य पुस्तकों की भाँति यह भी अपूर्ण ही है। इसे नये सिरे से सम्पादित किया गया है।

आचार्य द्विवेदी जी ने बाणभट्ट की 'आत्मकथा उपन्यास' की कथा को बाणभट्ट के मुख से कहलवाई है। कथा के प्रारम्भ में पितृ पितामहादि पूर्वजों का बाणभट्ट ने स्मरण किया तथा पिता चित्रभानु भट्ट को विद्वान एवं कृती बताते हुये स्वयं को जन्म का आवारा, गप्पी, अस्थिर एवं घुमक्कड़ बताया। घर से बाहर निकलने पर तथा गाँव के छोंकरों को फोड़ लेने के कारण मुझे 'बण्ड', फिर संस्कार करके संस्कृत शब्द 'बाण' नाम से सम्बोधित किया, भट्ट शब्द बाद में जोड़ा गया। वास्तविक नाम दक्ष था। बाणभट्ट के ही शब्दों में – 'मेरे बहुविधि कार्य कलाप को देखकर 'भुजंग' समझा गया। एक दिन घूमता हुआ मैं स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) नगर पहुँचा। वहाँ सम्राट हर्षवर्धन के छोटे भाई कुमार कृष्णवर्धन के घर पुत्र के जन्मोत्सव को देखकर अपने स्वर्णिम भविष्य की कल्पना करते हुए सायंकाल कृष्णवर्धन को बधाई देने हेतु राजमहल की ओर चला, परन्तु वहाँ बीच में निपुणिका के मिल जाने के कारण नहीं पहुँच सका। निपुणिका छः वर्ष पूर्व उज्जयिनी में बाणभट्ट द्वारा संचालित 'नाटक

(1) हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन (डॉ0 गणेशन) पृष्ठ 306
(2) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी 'ग्रन्थावली (बाणभट्ट की आत्मकथा) पृष्ठ 256

मंडली की नर्तकी थी, जो बाणभट्ट के आसक्ति विहीन सात्विक परिहास को स्त्रीत्व के आकर्षण की मान हानि समझने के कारण नाटक मंडली छोड़ कर भाग गई थी। खेद स्वरूप बाणभट्ट ने नाटक मण्डली का पेशा छोड़ दिया था, तथा घुमक्कड़ का जीवन व्यतीत करने लगे थे। कुमार कृष्णवर्धन के पुत्र जन्म के अवसर पर बधाई देने हेतु राजकुल में जाते समय निपुणिका मिल गई थी। उसने बाणभट्ट के छोटे राजकुल में एक अभागिनी नारी का उद्धार करने में सहयोग हेतु प्रार्थना की। निपुणिका के कहने पर उसके उद्धार के निमित स्त्रीवेश धारण करके छोटे राजकुल में जाने को प्रस्तुत हो गये।

उपन्यास के तृतीय उच्छवास में निपुणिका का बाणभट्ट द्वारा छोटे राजकुल में प्रवेश करके भट्टिनी को वहाँ से निकाल लाने की कथा वर्णित है। मदनोत्सव के दिन निपुणिका के साथ उसकी सखी बनकर नेपथ्य धारण करके राजकुल में प्रवेश किया। स्त्रीवेशधारी बाणभट्ट एवं निपुणिका ने कंचुकी बाभ्रव्य के सम्मुख किये गये शालीन व्यवहार से उसका विश्वास अर्जित करके महावराह की पूजा एवं ध्यान में लीन राजकुमारी के कक्ष में प्रवेश किया और बाणभट्ट का परिचय देकर भट्टिनी को राजकुल में से बाहर निकल चलने हेतु तैयार किया था। इस प्रकार छोटे राजकुल की 'भावी महारानी' अर्थात् (तुबुरमिलिन्द की कन्या चन्द्रदीधिति) भट्टिनी राजमहल रूपी कारागार से मुक्ति पाकर अज्ञात मार्ग पर बढ़ चली थी।

उपन्यास के चतुर्थ उच्छवास का प्रारम्भ निपुणिका द्वारा पूर्व निश्चित स्थान चण्डी मन्दिर से संलग्न एक छोटे से जीर्णशीर्ण गृह में भट्टिनी द्वारा शरण लेने के साथ–साथ हुआ। इस गृह की व्यवस्था चण्डी मन्दिर के लोभी एवं कामुक वृद्ध पुजारी को किसी प्रकार वश में करके निपुणिका ने की। किसी कल्पित सेठ धनदत्त के सर्वस्वदान को ग्रहण करने हेतु उसके दूरस्थ गृह पर चतुराई से पुजारी को भेज दिया। पुजारी द्वारा सुगतभद्र का स्थान ज्ञात होने पर, भट्टिनी का संदेश बौद्ध सन्यासी सुगतभद्र तक पहुँचाने की कथा वर्णित है। नालन्दा के आचार्य शीलभद्र को ज्ञात हुआ, कि भट्टिनी महाराज तुवुर मिलिन्द की कन्या है। बाणभट्ट के सुगतभद्र से मिलने पर ज्ञात हुआ, कि भट्टिनी का वास्तविक नाम चन्द्रदीधिति है। सुगतभद्र ने बाणभट्ट को भट्टिनी एवं निपुणिका को लेकर मगध की ओर चले जाने की आज्ञा दी और आश्वासित किया कि "मैं शीघ्र ही चन्द्रदीधित के निरापद प्रस्थान की आयोजना कर रहा हूँ।" इसी बीच आचार्य जी ने शिष्य को भेजकर कुमार कृष्ण वर्धन को बुला लाने की आज्ञा दी।

पंचम उच्छवास का प्रारम्भ निपुणिका व बाणभट्ट की वार्तालाप से ही होता

है। कल से अबतक के कार्याकलाप के सम्पादन का श्रेय अब बाणभट्ट ने अपने ऊपर लेकर स्वयं का महत्व प्रतिपादित करने की चेष्टा की, तो निपुणिका जी की वेदग्ध्यपूर्ण उक्तियों से उसे निरूत्तर होकर रहना पड़ा। बाणभट्ट के द्वारा भट्टिनी हेतु अच्छी व्यवस्था के लिए कहने पर निपुणिका कहती है, कि उत्तम व्यवस्था हो जायेगी, जाओ जल्दी स्नान करके आओ। भट्टिनी तुम्हें बिना खिलाये अन्न ग्रहण नहीं करेगी। भोजन करते समय भट्टिनी ने बाणभट्ट से पूछा– सुगत भद्र वे ही हैं न बाणभट्ट ने हाँ में उत्तर देते हुये आगे कहा– ''उन्होंने कुमार कृष्ण वर्धन को बुलवाया है, शायद वे ही व्यवस्था करें।'' भट्टिनी ने कहा –''मैं स्थाण्वीश्वर के राजवंश से घृणा करती हूँ।''

थोड़ी देर बाद सामनेर ने बताया – कुमार कृष्ण वर्धन आये हैं, आपसे मिलने को इच्छुक हैं। आचार्य जी के बुलाने पर बाणभट्ट ने कुमार कृष्ण से साक्षात्कार किया और कुछ कडुवे मीठे उत्तर प्रत्युत्तरों के आदान प्रदान के बाद दोनों एक दूसरे के प्रशंसक बन गये। कुमार कृष्णवर्धन ने भट्टिनी को अपनी बहन मानते हुए बाणभट्ट से आग्रह किया, कि वे कुमार द्वारा भेजी हुई शिविका में ही नदी तट तक जाये वहाँ से नाव द्वारा उन्हें मगध की ओर रवाना होना है।

षष्टम् उच्छवास में वर्णन है, कि देवपुत्र नन्दिनी एवं निपुणिका शिविकाओं पर बैठ गयीं, नदी तट हेतु प्रस्थित हो गयी। तदन्तर बाणभट्ट का भैरवी महामाया से साक्षात्कार तथा महामाया द्वारा उसे अधौरभैरव के पास ले जाने का वर्णन है। महामाया द्वारा यह अभियोग लगाने पर कि बाणभट्ट ने साधना ग्रह को भ्रष्ट किया, बाबा अधौर भैरव ने बाणभट्ट से वात्सल्यपूर्ण मुद्रा में कुछ प्रश्न किये, जिनका बाणभट्ट ने डरते हुए उत्तर दिया। इसी समय बाबा ने भट्टिनी तथा निपुणिका के सम्बन्ध में कुछ चमत्कार पूर्ण दृश्य भी भट्ट को दिखाये जिनके कारण वह भयभीत हो गया। इसी समय बाबा ने उपदेश दिया था –'' डरना नहीं चाहिए। जिस पर विश्वास करना चाहिए, उस पर पूरा विश्वास करना चाहिए, चाहे परिणाम जो भी हो। बाणभट्ट से प्रश्न करके यह स्वीकार कराया, कि भट्टिनी के प्रति श्रृद्धापूर्ण प्रेम है। बाबा ने उसे प्रसाद का अधिकारी माना तथा महामाया को आदेश दिया, कि आज की गोपन साधना में उसे भी शामिल किया जाये। उसी समय विरतिवज्र से भी परिचय प्राप्त किया। यहाँ बाबा ने भट्ट को उपदेश दिया –'' किसी से न डरना, गुरू से भी नहीं, मन्त्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं, उसी रात्रि भट्ट ने वाममार्गियों की गोपन साधना में भी भाग लिया और अन्त में उसने महामाया से कुछ प्रश्न पूछकर वाममार्गी साधना में प्रयोग किये जाने वाले मदिरा आदि के महत्व का ज्ञान प्राप्त किया।

सप्तम उच्छवास में वर्णन है, कि नौका यात्रा से पूर्व बाणभट्ट कुमार कृष्णवर्धन से मिलने उनके महल तक गया था। मार्ग में छोटे राजकुल को देखकर भट्ट को ऐसा लगा, कि जैसे शोक के कारण छोटा राजकुल श्रीहीन हो गया है। कुमार कृष्ण वर्धन द्वारा भट्टिनी के कुशल मंगल प्रश्न तथा भट्ट के साथ राजनीति की कुटिलता व सत्य के स्वरूप के विषय में चर्चा करते हुये कुमार ने उन्हें भट्टिनी के साथ प्रस्थान करने की आज्ञा दी, जिस दिन बाणभट्ट कुमार कृष्णवर्धन के पास पहुँचा वहाँ (फाल्गुन की पूर्णिमा) कान्यकुब्जों के प्रमत्त मदनोत्सव का दिन था। कुमार कृष्णवर्धन ने भट्टिनी हेतु दो उपहार प्रदान किये थे एक बुद्ध प्रतिमा तथा द्वितीय भट्टिनी के उपास्य देव महावराह की मूर्ति थी। दो अनुचर उन दोनों उपहारों को गंगातट तक लाकर बाणभट्ट को सौंपकर लौट गये।

अष्टम उच्छवास में नौका यात्रा के समय ही भट्टिनी के स्वातीत के सन्दर्भ में तथा निपुणिका ने बाणभट्ट को उज्जयिनी की प्रधानगणिका मदनश्री के विषय में बतलाया, कि उस स्वगर्विता वेश्या ने निपुणिका द्वारा बाणभट्ट के चरित्र की प्रशंसा करने पर किस प्रकार बाणभट्ट को नीचा दिखाने का प्रयत्न किया था, और बाण के व्यवहार एवं चारित्रिक उच्चता के कारण किस प्रकार उस रूपमदगर्वित का मानखण्डित हुआ था। फलस्वरूप निपुणिका भी अपने प्रति बाणभट्ट की अनासक्ति एवं अनाकर्षण को अपना अपमान न मानकर उसे बाणभट्ट की चारित्रिक विशेषता मान गई। निपुणिका जान चुकी थी, कि भट्ट स्त्री का सम्मान तो करता है, पर उसके तलवे नहीं चाटता। निपुणिका ने बताया, कि तुम शार्विलिक के अड्डे पर मुझे खोजने गये थे, मैं भी मदनश्री से मिलने के पश्चात् भट्ट के दर्शनार्थ बालक वेश को धारण करके उस ओर गयी। तभी रास्ते में एक शकद्वीप का ब्राह्मण ज्योतिषी मिल गया। उसने कहा–"तेरा भविष्य अच्छा है पर तुझे दुःख भोगना है; मैंने पूछा– 'मैं जिससे भेंट करने जा रहा हूँ, उसके विषय में कुछ बताओ।" उसने कहा कि –' वह बड़ा यशस्वी कवि होगा, परन्तु कोई रचना समाप्त नहीं कर सकेगा।' उपाय की विधि पूछने पर कहा –"किसी जीवित व्यक्ति पर काव्य न लिखें। भट्ट ने उसे वैसा करने का आश्वासन दिया।

नवम् उच्छवास में वर्णन किया है, कि त्रिवेणी पार करने के बाद नौकायें तीव्र गति में चलने लगीं। कान्यकुब्ज राज्य की सीमा पार करके नाव विन्ध्याटवी के मध्य पहँच चुकी थी, सहसा अमीर सामन्त ईश्वरसेन के सैनिकों ने नाव पर आक्रमण किया था।

विग्रह वर्मा और उसके वीर सैनिक अद्भुत विक्रम से प्रतिपक्षियों पर टूट पड़े। दोनों ओर से सैनिक युद्ध में संलग्न थे, तभी भट्टिनी नाव से गंगा में कूदी। उसके पीछे बचाओ,

बचाओ कहती हुई निपुणिका भी कूदी। भट्ट ने दोनों के बचाने हेतु छलांग लगायी। बाणभट्ट ने भट्टिनी को निकाल लिया, वरन् निपुणिका का पता नहीं लगा।

दशम् उच्छवास के आरम्भ में भट्टिनी निपुणिका के प्रति चिन्तित होती हुई कहती है –'' निउनिया भी तो इधर ही कहीं लगी होगी।' इसी प्रकार की वार्तालाप के समय सिर उठाकर बाणभट्ट देखते कि भैरवी महामाया का आगमन हुआ। महामाया के संरक्षण में भट्टिनी को छोड़कर निपुणिका को खोजने निकल गये। लौटने पर भट्टिनी के विचार छिपकर सुनने पर परितोष का अनुभव करता है। पुनः निपुणिका को खोजने पर वाममार्गी साधक अघोरघण्ट तथा चण्डमण्डना के चंगुल में फंस जाता और वज्रतीर्थ को देवी के सम्मुख बलि हेतु उपस्थित किया जाता। अघोरभैरव का स्मरण करने पर सहसा भट्टिनी, निपुणिका महामाया के प्रभाव में आकर निपुणिका ने विकट नृत्य करते हुए चण्डमण्डना को दूर पटक दिया था। उसी सम्मोहन के प्रभाव से अघोरघण्ट को गंगा में फेंक दिया था। तत्पश्चात् महामाया के साथ दौड़ते हुये अघोरभैरव की शरण में पहुँच गया।

एकादश एवं द्ववादश उच्छवास में बाणभट्ट का स्वास्थ्य लाभ, लौरिकदेव का आश्रय तथा लौटकर स्थाण्वीश्वर जाना वर्णित है। महामाया के प्रभाव से भट्ट को पुनः स्वास्थ्य लाभ हो चुका था। इसी बीच उनको लोरिक देव के गृह में आश्रय प्राप्त हुआ था। बाणभट्ट को भर्वुशर्मा का प्रसारित पत्र पढ़ने को प्राप्त हुआ, जिसमें उन्होंने आर्यावर्त के निवासियों से देवपुत्र तुवरमिलिन्द को प्राणाधिका कन्या को खोजकर तुवरमिलिन्द के पास पहुँचाने का अनुरोध किया था। भट्टिनी ने भी यह पत्र पढ़ा।

कुमार कृष्णवर्धन द्वारा भेजे गये दूत ने भट्ट को कुमार के सन्देश को बताया, कि देवपुत्र तुवरमिलिन्द की कन्या के संरक्षक के रूप में भट्ट महाराजाधिराज श्री हर्षदेव से वैर त्याग करे और उनसे मिले। भट्टिनी ने भी बाणभट्ट से स्थाण्वीश्वर जाने का अनुरोध किया, क्योंकि कुमार कृष्णवर्धन के संदेश के अतिरिक्त निपुणिका को स्वास्थ्य लाभ निमित्त बाबा अघोर भैरव से मिलना आवश्यक था जो महामाया के कथनानुसार इस समय स्थाण्वीश्वर में ही होना चाहिए थे। चलते समय भट्टिनी ने कहा– ''निपुणिका से मत मिलना। समय मिले तो निपुणिका की सखी सुचरिता की खबर लेते आना। ''भट्ट जब स्थाण्वीश्वर पहुँचे, उस समय महाराज व कुमार कृष्ण वर्धन धर्मदेशना के निमित्त बौद्ध मन्दिर गये थे। वहाँ पर कृष्णवर्धन से भट्ट का साक्षात्कार हुआ था।

त्रयोदश उच्छवास में बाणभट्ट का हर्षदेव के समीप जाने पर किये गये व्यवहार तथा सुचरिता का वर्णन है। महाराजाधिराज ने भट्ट के परिचय कराये जाने पर''यह परमलम्पट

व्यक्ति है।" ऐसा कहा। कुमार कृष्णवर्धन ने निवेदन किया, "देव बाणभट्ट, पवित्र वात्स्यायन वंश के तिलक है, उनका सम्मान होना चाहिए।" महाराजाधिराज ने मौन भाव से कुमार की बात का समर्थन किया।

बाणभट्ट राजसभा से बाहर निकलकर नगर की गलियों में भटकता रहा। वृद्ध भद्र पुरुष से पूछकर विशाल पट मण्डप में पहुंचकर आचार्य वेंकटेश भट्ट के दर्शन हुये। उन्हीं के निकट सुचरिता थी। भट्ट ने सुचरिता से मिलकर उसके विषय में ज्ञातव्य बातों की जानकारी उसी के मुख से प्राप्त की। लौटकर आने पर ज्ञात हुआ, कि मैं महाराज श्री हर्षदेव का सभापंडित नियुक्ति हुआ हूँ। एक पत्र द्वारा श्री हर्षदेव ने लोरिक देव को आदेश दिया, कि वह महाराज के विश्वस्त प्रतिनिधि बाणभट्ट को सभी प्रकार की सहायता दे। दूसरे दिन कुमार कृष्ण ने भट्टिनी के लिये मौखरिकुल राजलक्ष्मी महारानी राज्यश्री का निमंत्रण पत्र भट्ट को समर्पित किया और आर्यावर्त की सुखशान्ति के नाम पर देवपुत्र नन्दिनी को किसी भी प्रकार स्थाण्वीश्वर ले जाने का अनुरोध किया था।

चतुर्दश उच्छवास में वर्णन है, कि महाराजाधिराज के सिंहासनासीन होने के पूर्व बाणभट्ट राजसभा में पहुँच गये। राजपण्डित के रूप में पहुँचे, बाणभट्ट को महामाया भैरवी के एक राजनीति मिश्रण भाषण से ज्ञात हुआ, कि सुचरिता को बन्दी बनाकर कारागार में डाल दिया गया' तथा अघोर भैरव तथा वेंकटेशभट्ट को देशनिर्वासन का दण्ड दिया गया। महामाया की राजनीति में लिप्तता को देखकर भट्ट आश्चर्यान्वित हुआ। उसी समय राजकवि धावक ने रहस्योदघाटन किया, कि महामाया वस्तुतः महाराज श्री हर्षदेव के स्वर्गीय बहनोई मौखरिवंशीय महाराज यशोवर्मा की पूर्व पत्नी तथा महारानी, राज्यश्री की सौत है। धावक ने ही कुमार का आदेश बताया, कि बंदीशाला जाकर सुचरिता को राज्य के अनुकूल बनाने का कार्यभार भट्ट को सौंपा गया है। बंदीशाला में जाकर भट्ट ने सुचरिता से मुलाकात की। उसके अतीत के सन्दर्भ में जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् भट्ट ने उसे राज्य के अनुकूल बनाने में सफलता प्राप्त की। सुचरिता ने भट्ट को बतलाया, कि वह अघोरभैरव के शिष्य विरतिवज्र की परिणीता पत्नी है।

पंचदश उच्छवास में भट्ट ने पुनः भद्रेश्वर दुर्ग में लौटे। महासरयू में स्नान करके लोरिक देव से मिलकर देवपुत्र, नन्दिनी से मिले और उन्हें महारानी राज्यश्री का निमंत्रण पत्र समर्पित किया। मौखरिवंश से घृणा के कारण भट्टिनी को महारानी के निमंत्रण से कोई प्रसन्नता न हुई, अपितु चित्तोदवेग में और वृद्धि ही हुई। उधर श्री हर्षदेव के पत्र से भट्टिनी का परिचय पाकर लोरिक

देव ने भट्टिनी को राजोचित सम्मान देकर अभ्यर्थना की। लौरिकदेव के मन में भी कुमार कृष्ण के ही समान भट्टिनी के माध्यम से देवपुत्र तुवरमिलिन्द का सौहार्द्र प्राप्त कर आर्यावर्त को प्रयत्न दस्युओं के बचाने की राजनीतिक महत्वाकांक्षा जागृत हो चुकी थी।

षोडश उच्छवास में वर्णन है, कि भट्ट से निपुणिका की बातचीत होती है। निपुणिका कहती है –"तुमने मुझे क्षमा कर दिया भट्ट? तुम महान हो, मैं तुच्छ हूँ।" "भट्टिनी स्थाण्वीश्वर जायेगी, परन्तु वे वहाँ किसी की अतिथि नहीं होगी।" निपुणिका कभी–कभी अपनी सुधि भूलकर विक्षिप्त जैसा व्यवहार करने लगी थी। भट्ट जानता था, कि उसकी मौनपूजा में निरत निपुणिका के ह्रदय के किसी कोने में छुपे हुये उसके प्रति प्रेममय आकर्षण है। देवपुत्र नन्दिनी भी भट्ट के प्रति निपुणिका के आकर्षण को जानती थी, क्योंकि जब भावाकुल अवस्था में निपुणिका ने भट्ट के पैरों को कसकर पकड़ लिया था, तो भट्टिनी ने भावातिरेकवश कहा था, "मत छुड़ाओं भट्ट उसे शान्ति मिल रही होगी। अपरान्ह काल में लौरिकदेव के विश्राम कक्ष में भट्ट पहुँचे। भट्ट से लौरिकदेव कहते हैं कि भट्टिनी को कान्यकुब्ज नरेश के हाथों कभी नहीं मत पड़ने देना। मैंने अपने दस सहस्र मल्ल भट्टिनी की सेवा के लिए दिये हैं।" वे ही पुरुषपुर भट्टिनी को ले जाये। भट्ट भट्टिनी से परामर्श लेने हेतु अनुमति लेता है।

मौखरि वीर विग्रह वर्मा प्रणाम करके कहता है– आर्य अभीरसेन के दस सहस्र मल्लों की ओर देखकर मौखरियों के दस सैनिकों की उपेक्षा नहीं होना चाहिए। हम महारानी राज्यश्री के सेवक हैं। भट्ट ने उससे कहा तुम कान्यकुब्जेश्वर के निर्देश से देवपुत्र नन्दिनी की सेवा में युक्त हो। आर्यावर्त को महानाश से बचाना है।

सप्तदश उच्छवास में निपुणिका के स्वास्थ्य लाभ की कामना से, आभीर सामन्त ने सौरभह्रद जाने हेतु शिविका एवं घोड़े की व्यवस्था की। सौरभह्रद के दर्शन से निपुणिका के उत्तप्त ह्रदय को शान्ति प्राप्त हुई थी। वहाँ निपुणिका ने भट्ट के सामने उसके प्रति अपनी रागात्मकता का भेद खोलते हुये भट्ट से प्रश्न किया कि–"तुम्हारी उदासी का कुछ श्रेय क्या इस अभागिनी को प्राप्त था भट्ट?" भट्ट का उत्तर था – अवश्य था निउनिया मैं क्या सचमुच जड़ पाषाण पिंड हूँ?" निपुणिका ने गदगदभाव से कहा था, "कृतार्थ हूँ, आर्य, मेरे बन्ध्य जीवन की यही परम सार्थकता है। अधिक के लिए मेरा लोभ भी नहीं, योग्यता भी नहीं है।' सौरभह्रद से वापिस आने पर भट्ट को कुमार कृष्ण वर्धन का सन्देश प्राप्त हुआ, कि किसी भी शर्त पर देवपुत्र नन्दिनी को स्थाण्वीश्वर ले आवे, साथ ही उन्होंने कहा कि आभीरराज को अनुकूल बनाकर उनकी सेवा को भी इस पवित्र कार्य में नियोग करने को कहें।

भट्ट अपने भाई उडुपति भट्ट को भी अवश्य साथ ले आये। इसी के अनुसार भट्टिनी की विशाल वाहिनी स्थाण्वीश्वर को प्रस्थित हुई।

अष्टादश उच्छवास में स्थाण्वीश्वर से लगभग कोसभर की दूरी पर भट्टिनी से स्कन्धावार कुमारकृष्ण मिलने गये। कुमार के सद्व्यवहार एवं मधुर भाषण ने बहिन के हृदय में अपने लिये स्थान बना लिया। भट्टिनी से कुमार भी प्रभावित हुए। दो भैरवियों का गान सुनकर देवपुत्री ने आग्रह किया कि –''इस नरलोक से किन्नरलोक' तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है, भट्ट। इस सन्देश को म्लेच्छ कही जाने वाली जातियों के हृदय तक पहुँचने में तुम्हीं समर्थ हो।''

सहसा ही आये हुये धावक ने बताया, कि देवपुत्र नन्दिनी के सत्कार में चारूस्मिता का मयूर नृत्य है, तो कल विद्युदपांगा का मनोहर संगीत। बाद में परिहास पूर्वक रहस्योदघाटन किया कि 'चारूस्मिता का नृत्य कान्यकुब्ज की विद्रोही जनता को वश में ले जाने का अस्त्र है। निपुणिका ने भट्ट को सूचित किया कि –''तुम्हारा यह कवि मित्र कहता है, कि महाराजाधिराज ने कोई नयी नाटिका लिखी' उसी को उस दिन क्यों नहीं रंगभूमि पर उतार देते। भट्टिनी की इस प्रकार की प्रच्छन्न अभिलाषा है, कि इस नाटिका का अभिनय नायक के रूप में तुम करोगे। मुझे भी उसमें करना होगा।

उन्नीसवां उच्छवास में महारानी राज्यश्री की आज्ञा से वृद्ध वाभ्रव्य को भट्टिनी के पास बाणभट्ट ले गये, देवपुत्र नंदिनी के कंचुकी वाभ्रव्य को बुलाकर कुशलक्षेम पूछी। देवपुत्र नंदिनी का परिचय प्राप्त करके उसकी स्मृति अतीत की घटनाओं की ओर मुड़ गयी। उसने देवपुत्र नंदिनी को बताया, कि मौखरिनरेश ग्रह वर्मा की पूर्वपत्नी महारानी महामाया वस्तुतः कुलूतराज की पुत्री न होकर एक सामान्य अपहृत बालिका था। जिनका वाग्दान पहले ही एक युवक के साथ हो गया था। छल से महाराज के साथ उनका विवाह हो जाने से वह युवक निराशा के कारण तपस्वी बनकर तांत्रिक साधना में लीन हो गया था। रानी महामाया यह जानती थी, इसी कारण वे भी सन्यासिनी होना चाहती थी। महाराज का विचार था, कि रानी महामाया का यह विचार परिवर्तन किसी तांत्रिक अभिचार का परिणाम है। इसी तांत्रिक अभिचार के सत्यापन के लिये वे कंचुकी वाभ्रव्य को साथ लेकर धूम्रेश्वरी मंदिर को गये थे, मन्दिर के द्वार पर एक योगी के दर्शन हुये। उस समय राजा को सम्बोधन करके बोला, ग्रहवर्मा, तू भाग्यहीन है, धूम्रेश्वरी का दर्शन करले, तेरे सिर पर अमंगल मंडरा रहा है।'' युवक तपस्वी के गुरू ने राजा से कहा था –''तुम बहुत दिन जी नहीं सकते, परन्तु तुम दूसरा विवाह अवश्य करना।'' तपस्वी

ने मुझसे कहा था–" तेरे प्रमाद से किसी दिन आर्यावर्त का कल्याण हो सकता है, जा घर लौट जा।" उसी समय बाणभट्ट का लगा‌या यह अनुमान सत्य ही निकला, कि वह युवक तपस्वी और कोई नहीं स्वयं अघोर भैरव है। निपुणिका के यह कहने पर कि आर्य मौखरिनरेश को योगी ने दूसरा विवाह करने हेतु क्यों कहा था, उससे क्या आर्या राज्यश्री जैसी साध्वी का जीवन व्यर्थ नहीं हो गया? वृद्ध ने डाँटा – भोली लड़की, सार्थकता क्या है? योगी ने ठीक ही कहा था, अपने को निःशेष भाव से देने को ही वशीकरण कहते हैं।" निपुणिका ने इसे आदर्श वाक्य की तरह दुहराया–" अपने को निःशेष भाव से दे देना ही वशीकरण है।"

अन्तिम उच्छवास में उडुपतिभट्ट तथा बौद्ध पण्डित वसुभूति के मध्य हुये शास्त्रार्थ विचार में उडुपति भट्ट की विजय के कारण बौद्ध नरपति श्री हर्षदेव ने घोषणा करा दी, कि महाराजाधिराज को ब्राह्मणधर्म में पुनः आस्था हो गई है। यह मौखरियों के ब्राह्मण गुरू आचार्य भर्वुपाद को प्रसन्न करने का कुमार कृष्णवर्धन का सुविचारित कूटनीतिक प्रयास था, जो कि सफल रहा। आचार्य भर्वुपाद शीघ्र ही स्थाण्वीश्वर में आने वाले थे। भर्वुपाद के आगमन के समय महाराजाधिराज द्वारा प्रणीत रत्नावली नाटिका का अभिनय किया गया। नाट्याभिनय के समय अन्तिमदृश्य में वासवदत्ता का अभिनय करते हुये निपुणिका, उदयन का अभिनय करने वाले बाणभट्ट को रत्नावली का हाथ सौंपते हुये विचलित हो उठी और नाट्याभिनय की समाप्ति के साथ–साथ जीवन रूपी अभिनय को समाप्त करते हुये अपने हृदय के किसी गहरे कोने में बैठे हुये इस विश्वास को सार्थक कर गई "अपने को निःशेष भाव से दे देना ही वशीकरण है।" भट्टिनी दुःख से चीत्कार कर उठी, "हाय भट्ट अभगिनी का अभिनय आज समाप्त हो गया, उसने प्रेम की दो दिशाओं को एक सूत्र कर दिया।" भट्टिनी अचेत हो गई। चेतनावस्था में आने पर भट्ट से कहा –"नीचे से ऊपर तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है। निपुणिका ने इसे स्पष्ट कर दिया। भट्टिनी ने बताया, कि आर्यावर्त का संकट टल गया। आचार्य भर्वुपाद के कथनानुसार महामाया के अशिक्षित एवं असंघटित लाखों शिष्य इस समय देवपुत्र तुवरमिलिन्द द्वारा शिक्षित व संघटित किये जा रहे हैं। भट्ट ने देवपुत्र नन्दनी के अनुरोध व आकर्षण के वशीभूत होकर उनके साथ चलने हेतु अपनी सहमति दे दी। निपुणिका का श्राद्ध समाप्त होते ही आचार्य भर्वुपाद ने मुझे पुरुषपुर जाने की आज्ञा दी। उन्होंने स्पष्ट रूप में आदेश दिया, कि भट्टिनी तब तक स्थाण्वीश्वर में ही रहेगी। भट्टिनी ने कहा– जल्दी ही लौटना। भट्ट की अन्तरात्मा के अतुल गहवर से कोई चिल्ला उठा–

"फिर क्या मिलना होगा?"

चारूचन्द्रलेख :–

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित औपन्यासिक कृतियों में क्रमसंख्या में 'चारूचन्द्रलेख' का द्वितीय स्थान है। दैनन्दिनी शैली में लिखा गया यह उपन्यास द्विवेदी जी की अपनी अनूठी शैली एवं सशक्त भाषा के कारण जगत में अपना पृथक स्थान रखता है।

'चारूचन्द्रलेख' में लेखक ने ईसा की 12वीं–13वीं शताब्दी के मध्ययुगीन भारत का चित्र प्रस्तुत किया है। यह घटनास्थल है आर्यावर्त आज का उत्तरी भारत। पतनोन्मुख मध्ययुगीन भारतवर्ष की धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक स्थिति को स्पष्ट किया है। कल्पनापूर्ण घटनाओं को ऐसे क्रम एवं विधि से वर्णित किया गया, कि उससे ऐतिहासिक होने का भ्रम बना रहता है। उपन्यास के प्रमुख नायक राजा सातवाहन का अपना असली नाम कहीं स्पष्ट नहीं किया, परन्तु रानी चन्द्रलेखा के एक बार उसे 'सातवाहन' कह देने मात्र से ही उसका नाम सदा के लिए सातवाहन मान लिया गया और वही ऐतिहासिक 'सातवाहन' जैसा प्रतीत होता है।

'चारूचन्द्रलेख' का आरम्भ कथामुखसे होता है। लेखक ने कथा मुख लिखकर पाठकों को इस भ्रम में रखने का प्रयत्न किया, कि इसकी कथा काल्पनिक नहीं अपितु हिमालय पर्वत के एक गुहापृष्ठ पर अंकित ऐतिहासिक कथा है, और साधु अघोरनाथ ने चन्द्रद्वीप की यात्रा के समय इन कथा अवशेषों का संकलन करके ही लेखक को दिया है।

कथा के प्रारम्भ में बताया , कि भारत वर्ष के उत्तरी भाग पर पूर्णरूपेण तुर्कों का राज्य स्थापित हो गया। दक्षिण के गोपाद्रि दुर्ग तक बढ़ आये थे। लोगों को तंत्रमंत्र पर अधिक विश्वास था। राजा की इच्छा थी, कि येन केन प्रकारेण सादीमौला के दर्शन प्राप्त हो फक्कड़ सीदीमौला संसार का बड़ा भाग देखे हुये थे, किसी भी परिस्थिति से बच निकलना उनके लिए एक साधारण बात है। प्रसन्न होने पर सोने में तांबे को बदलते थे। उन्हीं के दर्शन हेतु राजा ने उसी दिशा में घोड़े को दौड़ाया। मार्ग में सन्त ने बताया, कि दक्षिण की ओर घोड़ा दौड़ाने पर सीदीमौला तो नहीं सीदीदेवी अवश्य मिल जायेगी। राजा ने उसी ओर घोड़ा दौड़ाकर एक मृगशावक को पकड़ने की इच्छा से घोड़ा उसके पीछे भगा दिया। वह चन्द्रलेखा की गोदी में छिप गया। बत्तीस लक्षणों से युक्त पद्मनी नारी चन्द्रलेखा को राजा ने विस्मयपूर्वक देखा। घोड़े से नाटकीय उत्तर प्रत्युत्तर के पश्चात् उसे अपनी रानी स्वीकार किया। तरूण तापस की खोज में रानी की इच्छानुसार निकलपड़ा। तरूण तापस के न मिलने पर राजा रानी को घोड़े पर आगे बैठाकर अपनी राजधानी लौट आये। राजधानी में धीर शर्मा व

विद्याधर ने प्रथम दर्शन में ही रानी के गुणों की महत्ता स्वीकारते हुये राजा को भाग्यशाली माना।

रानी ने अतीत के सन्दर्भ में बताते हुये कहा, कि मैं कृषक कन्या न होकर बाल्यावस्था में मातापिता द्वारा परित्यक्ता होने के कारण कृषक दम्पत्ति की झोली में आ गयी विद्याधर शर्मा ने बताया था, कि वह भविष्य में रानी बनेगी, राजा (पति) स्वयं इसे वरेगा। विद्याधर शर्मा ने इच्छा प्रकट की, कि राजा सातवाहन चक्रवर्ती राजा की पदवी प्राप्त करने के निमित्त प्रयत्न में जुट जाये। रानी चन्द्रलेखा इस कार्य में सहयोग दे। निकट भविष्य में यवनों के आक्रमण के समय दोनों परिस्थिति का सामना करने हेतु तैयार हो। राजा व रानी ने इच्छा को स्वीकार किया।

एक दिन सौ वर्ष की अवस्था के ऊपर, दूरदर्शी, मृदुभाषी, निरपेक्ष युद्ध में लड़ने वाला, वाम मार्गी साधक– सीदीमौला के दर्शन सातवाहन को हुये। उन्होंने मंगोलों की संस्कृति के सन्दर्भ में जानकारी दी। मंगोलों ने उत्तर चीन से तुर्किस्तान का गोर तक की भूमि को एक छत्र शासन के नीचे संगठित किया था। मंगोल चिल्मिश खान के बारे में जानकारी दी थी। मंगोलों द्वारा खुरासान में किये गये अत्याचार व नरसंहार की आँखों देखी कहानी राजा को सुनाई। स्पष्ट किया, कि तमोगुण की प्रतिक्रिया स्वरूप आगे मंगोल राजा विजय प्राप्त कर सके। आगे यह बताया, कि किस प्रकार उन्होंने मंगोल तथा भोप्देश के प्रसिद्ध मठ की साधना में भाग लिया तथा साक्षात् वृद्ध प्रज्ञा के दर्शन किये, तथा वे समाधिस्थ हो गये।

राजधानी पहुँने पर ज्ञात हुआ, कि नागनाथ तरुण तापस ने चंद्रलेखा को खोज लिया। उन्होंने रानी द्वारा बना भोजन रुचिपूर्वक किया। राजा को चक्रवर्ती बनने का आदेश देते हुये कहा राजन, रानी चन्द्रलेखा को सामान्य नारी मत समझना। उसी दिन रानी के जन्म के विषय में पूर्व वृतान्त को सुनाया। आगे विद्याधर कहते हैं, कि राज्य की सीमा में बड़े विकट समाचार प्राप्त हो रहे हैं। मुझे तुम्हारी ही आवश्यकता है। बेटी! बिजली की तरह तड़को, सुधा धारा की भांति बरसों और असहाय प्रजा के साहस व शक्ति का संचार करो। रानी ने विद्याधर शर्मा की बात को स्वीकारा। जब तक विषमता का संकट दूर नहीं होता, एक दूसरे को नीचा दिखाने हेतु आयोजित घिनौने युद्धों का अवसान नहीं होता, पशु बल की तुलना में आत्मबल की उच्चता प्रकट नहीं होती तब तक चन्द्रलेखा को शान्ति नहीं होगी।

तत्पश्चात् युद्ध का नगाड़ा बजा। राजमहल से इस स्थान पर पहुँचे, जहाँ भट्ट जगन्नायक उच्च स्वर में कविता पाठ करके सैनिकों के ह्रदय में शक्ति संचार कर रहे थे। रानी ने

राजा का अनुगमन किया। धीरशर्मा ने श्लोकों की झड़ी लगाकर रानी को पार्वती व चण्डिका की संज्ञा देकर उनका यशोगान किया। अन्त में रानी ने निर्णय दिया, कि सैनिक युद्ध में जायें, मैं स्वयं प्रजा में युद्ध की शक्ति का उद्रेक करूँगी जिससे कि साधारण जनता भी युद्ध की हारजीत को स्वयं की हारजीत समझे तथा युद्ध में सहयोग करें।

रानी की योजना के परिणामस्वरूप मालव जनपद में एक अद्भुत जीवन जाग पड़ा। शत्रुओं को लौट जाना पड़ा। चन्द्रलेखा ने गाँवों की यात्रा की। एक दिन मध्यान्ह के समय जनता में एक साधु के दर्शन हुये, जिनसे राजा विक्रमादित्य व गर्द भिल्ल की कथा सुनकर परोक्ष रूप से रानी के मन में यह विचार आया, कि लोगों के मन में यह बात घर चुकी है, कि रानियों ने ही राजाओं को मार्गच्युत किया है। जिससे कि अनेक राजाओं के यश को कालिमा से नीचे किया। राजा ने रानी की मनः स्थिति परिवर्तित करने का प्रयास किया।

नागनाथ ने उज्जयिनी में रानी को कोटिवेधी रससिद्धि करने हेतु पार्श्वनाथ के पादमूल में बैठकर रसमर्दन हेतु तैयार किया। रानी आज्ञा लेकर चली गयी। प्रजावर्ग का समस्त कार्य राजा सातवाहन पर आ गया था। रानी रसमर्दन के परिणामस्वरूप स्वयं को प्रथम पुरुष में सम्बोधन करने लगी। वह मैं के स्थान पर चन्द्रलेखा का प्रयोग करने लगी।

चन्द्रलेखा ने राजा को स्वानुभाव बताये। राजा भी कुछ कहने का इच्छुक था। धीरे–धीरे चन्द्रलेखा की चेतना लुप्त होने पर त्रिपुर भैरवी के दर्शन हुये त्रिपुर भैरवी व गोरक्षनाथ के संवाद के परिणामस्वरूप नागनाथ ने चन्द्रलेखा को गुरू बनाकर रस साधना प्रारम्भ की। रानी फिर कोटिबेधी रस सिद्ध करने के कार्य में सहायता करने हेतु चली गई। राजा सोचते थे, रानी मुझसे दूर होती जा रही है। इस कार्य हेतु न रोककर पति धर्म सही नहीं निभाया।

राजा रानी को भेजने के पश्चात् अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति में था, तभी धीरशर्मा ने बताया, कि मेरे अग्रज के दो पुत्र स्वर्ग चले गये। आगे बताया, कि गोपाद्रि दुर्ग के पास शैव के मठाधीश नेहनानंद के मठ के साधुओं द्वारा यवन सैनिकों का प्रतिरोध करने के कारण दिल्ली के सुल्तान मठ की एक ईंट उखाड़ देने का आदेश दिया था। साथ ही इस कार्य में सहायता कर रहे घुण्डक साधुओं ने राजा के दोनों भतीजों को बहकाकर अपनी ओर कर लिया, और वे कोटिबेधी रस सिद्ध होते ही नागनाथ की हत्या करके सिद्ध रस को प्राप्त करना चाहते है।

तुर्क सरदार की सेना राजा पर अधिकार हेतु चुपचाप रोढ़ी तट की ओर

चली गयी। विद्याधर भट्ट की सेना ने उत्साहित होकर चर्मण्वती की धारा में सुल्तान की आधी शक्ति नष्ट कर दी। हारकर तुर्कों की सेना लौट गयी। कृषक, साधारण प्रजा वर्ग ने काफी सहायता की। जिसमें मैनसिंह ने काफी सहयोग दिया। इसी समय मैनसिंह के आने की सूचना दी, उसने राजा को पगड़ी के नीचे से संकोच व शर्म से युक्त होकर कागज की पोथी दी।

जिसमें चन्द्रलेखा ने लिखा था, कि चन्द्रलेखा अभ्रक व पारद घोटने लगी, नागनाथ तपस्या कर रहा था, उसके दोनों पुत्रों ने पार्श्वनाथ के निकट रखे कुश की लकड़ी को उठाकर नागनाथ के मस्तिष्क पर मारा जिससे वह मर गया। वह नागनाथ को लेकर अनंग वज्र के पास गयी, उन्होंने अमोघवज के पास भेजा। उसी बीच वह तपस्विनी के निकट पहुँचने पर अनंगवज्र के पास पहुँचने का आश्वासन पाती, वह बताती कि मैंने सिद्धियों के चक्कर में पड़कर अपने पति की इच्छाओं का ध्यान न रखते हुये साधना का मार्ग ही अपना रखा, तथा अपने पति को भी उस मार्ग पर चलने, हेतु वाध्य किया। जब वह न हीं सिद्धि प्राप्त कर सकी, न ही पति को। तभी उसकी आँख खुली। उसका पति विक्षिप्त की स्थिति में हो गया था। चन्द्रलेखा के मन में विचार आया, कि मैं भी पति की सेवा का अवसर खो बैठूँगी।

राजा इस पत्रावली को पढ़कर संज्ञा शून्य हो गया। परन्तु विद्याधर ने अपने शिष्य बोधा से रानी द्वारा लिखित पत्रावली सुनी थी।

राजा की संज्ञा आने पर वह मैनसिंह व अलहना बघेला को पाते हैं। मैनसिंह ने रानी को मिलाने का आश्वासन देते हुये कहा – रानी चन्द्रलेखा उसकी माँ नाटी माता के पास घर में है। वहाँ पहुँचकर ज्ञात हुआ, कि मैनसिंह नाटी माता की पुत्री तथा चन्द्रलेखा की सहेली है। वह बालक वेश धारण करके मेरे पास आयी थी। राजा को बताया, कि अमोघवज्र ने रानी को भगवती विष्णुप्रिया के पास पहुँचा दिया, भगवती ने रानी चन्द्रलेखा को नाटी माता के संरक्षण में भेज दिया।

बोधा ने नाटी के निवास पर आकर बताया कि घुण्डकेश्वर अपने दल के साथ महाराज को पकड़ने हेतु आ रहा था, बस राजा की वीरता एवं मैनसिंह द्वारा एकचित्त ग्रामीणों के रण कौशल के आगे उसकी एक न चली। वे भाग खड़े हुये।

घुण्डकेश्वर के द्वितीय आक्रमण से पूर्व ही घुण्डकेश्वर ने धीरशर्मा को बन्दी बनाकर बलि देने का उपक्रम किया। सीदीमौला से सूचना पाकर विद्याधर भट्ट ने घुण्डकों पर आक्रमण करने की योजना बनाई। इससे पहले ही मैनसिंह ने घुण्डक सेना में प्रवेश करके हलचल मचा दी।

धीरशर्मा तो मुक्त हो गया, लेकिन मैना घायल हो गयी। इस काण्ड के पश्चात् वह विष्णु प्रिया के आश्रम में लौटी। तब बोधा प्रधान व मैना की बातों को सुनकर राजा सातवाहन को ज्ञात हुआ, कि मैना नाटी माता की और कोई सन्तान नहीं वरन् जगन्नाथपुरी के मन्दिर द्वार पर देवदासी के निमित्त छोड़ी गई वह दूधमुंही बच्ची है। जिससे विनती करके नाटी माता ने मांग लिया था, क्योंकि उस समय बोधा भी साथ में थे। उन्होंने जगन्नाथपुरी से प्रसाद ग्रहण किया था। वही मैना को पाने के अधिकारी थे।

मैं अतीत की बातों को सोच रहा था, तभी घुण्डक सेना का आक्रमण हुआ। रानी अस्वस्थ्य मैना की कमर में तलवार लेकर गुहाद्वार से निकली। युद्ध में रानी गिर गयी मैं संज्ञा शून्य हो गया। बोधा ने बताया मैना को घुण्डक का एक दल साथ में मिला है। भट्टपाद उज्जयिनी के युद्ध में विजयी हुये। घुण्डक का एक दल सहयोग कर रहा है।

स्वस्थ हो जाने पर मैं पर्वत श्रृंखला की ओर चल पड़ा, पास में नाटी माता को भगवद्‌राधना में लीन देखा, वहाँ फूल देने आये भम्भल के द्वारा ज्ञात हुआ, कि नाटी माता को कदम्ब वास द्वारा 'कारूनटी' की उपाधि प्राप्त हुई। पृथ्वीराज ने उसे मरवा दिया। बाद में महाराज जयचंद के दरबार में गयी। वहाँ सम्मानित किया गया। 'नगरश्री' की उपाधि प्रदान की गई। बाद में डोलकुल की रानी ने सताया। हम लोग आपकी छत्रछाया में दुर्जय दुरतिक्रम्य हो गये। सुना है, कि चन्द्रलेखा विक्रम शिला में आकाश मार्ग से उतरीं। उन्हें देखकर डोमराजा हरिश्चन्द्र के साथ आयी तुर्क सेना भाग गयी।

मैं भम्भल के साथ अमोघ वज्र के पास गया उन्होंने बताया, कि चन्द्रलेखा को विक्षेपावस्था में विष्णुप्रिया के पास ले गये।

मेरे मन में अमोघवज्र की बातें कानों में गूंज रही थीं। मैं असाध्य का संकल्प लेकर चल रहा हूँ, विद्याधर पूरे उत्साह में हैं। वे योगियों व सन्यासियों की सेना संगठित करने में जुटे हैं। अमोघ वज्र ने बताया, कि सपादलक्ष प्रदेश के राजा अशोकचल्ल, बौद्ध शक्ति को मानने वाले उपयुक्त सहायता मिलने पर, दिल्ली पर उत्तर की ओर आक्रमण करते समय सहयोग कर सकता है। अतः राजा सातवाहन सपादलक्ष प्रदेश गये। उनके पहुँचने के कुछ काल बाद ही धीरशर्मा बोधा प्रधान तथा मैनसिंह भी वहाँ पहुँच गये। वहाँ सीदीमौला से ज्ञात हुआ, कि दिल्लीपति ने सीदीमौला के पास जाने वाले लोगों पर अत्याचार किये हैं। अतः सीदीमौला दिल्ली पति के विरुद्ध राजा को सहयोग देने हेतु तैयार हो गया।

अशोक चल्ल ने राजा को सहयोग देने या न देने के निर्णय हेतु शिवा बलि का अनुष्ठान किया। अनुष्ठान असफल होने पर अशोक चल्ल अक्षोभ्य भैरव के पास गये। बोधा भी साथ

में गये थे। उन्होंने अशोक चल्ल को महाराज के सहयोग देने व बोधा को अशोक चल्ल के सभी वचनों की रक्षा करने हेतु कहा।

बोधा ने राजा सातवाहन को दोपत्र दिये, जिसमें अशोक चल्ल द्वारा पूरे न किये गये उसके तीन वचनों का उल्लेख था। प्रथम, किसी तुर्क सेनापति के जाल में भद्रकाली भैरवी का उद्धार, दूसरा था, उस तुर्क सेनापति का शिरोच्छेदन और तीसरा था महाराज सातवाहन को युद्ध में सहायता देने की प्रतिज्ञा।

अन्य बातों के साथ–साथ बोधा प्रधान ने राजा को भद्रकाली भैरवी तथा तुर्क सेनापति, के विषय में बताया, और बताया कि भद्रकाली भैरवी अक्षोभ्य भैरवी की मुंह बोली पुत्री थी। किसी तुर्क सेनापति ने भद्रकाली के रूप पर रीझकर उसका अपहरण कर लिया था तथा अक्षोभ्य भैरव को बाँधकर पिटवाया। बाद में अक्षोभ्य भैरव ने अशोक चल्ल से वचन लिया, कि वे भद्रकाली का पता लगायेंगे और उस तुर्क सेनापति का वध करेंगे। अशोक चल्ल ने अभी तक यह वचन पूरे नहीं किये।

राजा सातवाहन का महाराजाधिराज पृथ्वीराज के सभा कवि व सखा चन्दवलिद्दय का पुत्र जल्हन से परिचय हुआ। वह (चन्दवलिद्दय) उदबोधन शक्ति से युक्त, ओजपूर्ण कविता सुनाने वाले कवि थे। उसने ही समाचार बताया था, कि शाह दिल्ली के सुल्तान का भूतपूर्व सेनापति हैं। वह विदेशी को बाहर निकालने की प्रतिज्ञा ले चुके है।

राजा सातवाहन ने जल्हन के साथ अक्षोभ्य भैरव के पास पहुँचकर राजलक्ष्मी के बारे में पूछा। अक्षोभ्य भैरव ने कहा – जनता से सीधा सम्पर्क करके समानता भाव रखते हुये सामन्ती प्रथा का उच्छेद करके ही वीर विक्रमादित्य की परम्परा का उत्तराधिकारी होगा।

बोधा व मैना ने मेरे पास आकर बताया, कि अशोक चल्ल के सेनापति तथा मंत्री कुछ आगा पीछा कर रहे हैं, जब तक भद्रकाली का उद्धार उसके अपहर्ता का शिरोच्छेदन नहीं होजाता, तब तक महाराज को अशोक चल्ल की सेना का सहयोग असम्भव है। मैना आवेश में आकर राजा से आज्ञा लेकर दिल्ली पर आक्रमण हेतु चली गयी। वह तुर्क सेनापति का शिरोच्छेदन चाहती थी।

सीदीमौला ने राजा सातवाहन को सूचित किया, कि दिल्ली के सुल्तान के द्वारा विकट जठर से शाह परिवार को निकालकर दुष्कर कार्य किया गया। दिल्ली के सुल्तान ने शाह को शत्रु बनाकर बहुत बड़ी भूल की।

सीदीमौला, बोधा, राजा सातवाहन की बातचीत के समय धीरशर्मा, मैना,

पुण्डरीक का आविर्भाव हुआ। पुण्डरीक भट्टपाद द्वारा मुद्रांकित पत्र इक्कणि शैली में लिखा गया। उसमें बताया, कि रानी के नेतृत्व में ही योगियों की सेना संगठित हुई। शाह के साथ मित्रता के सम्बन्ध दृढ़ हों, तथा मिलकर दिल्ली पर आक्रमण करें, अन्त में लिखा– भट्ट को अपने जीवन का अन्तिम व निर्णायक धक्का मारने की अनुमति हो, रानी द्वारा निर्मित सेना ने प्रतिज्ञा की, कि जब तक आर्यभूमि विदेशियों के अपवित्र पद संचार से मुक्त नहीं होती। तब तक शस्त्र त्याग नहीं करेंगे। मैनसिंह सुनते ही चिल्लाया जय! महारानी चन्द्रलेखा की जय।

पुण्डीर व धीरशर्मा के जाने पश्चात् राजा व बोधा उस स्थान को छोड़कर शाह के स्थान पर पहुँचे। बोधा ने स्त्री को हिन्दू पद्धति से पूजा करते देख शाह के निवास स्थान होने का विश्वास किया। क्योंकि सीदीमौला ने बताया था, कि उसकी पत्नी हिन्दू पद्धति से पूजा करती है। अचानक वहाँ अक्षोभ्य भैरव मैना के साथ चिल्लाता हुआ आया कि भद्रकाली का अपहर्ता मिल गया। मैनसिंह इस नरक के कीड़े को अपनी जगह भेज दो। उसने एक ही चोट में शाह को धाराशाही किया। भद्रकाली शाह पर गिरी और कहा– हाय पिता जी! मेरा सुहाग लुट गया। ऐसी करुण दशा देखकर अक्षोभ्य भैरव का प्राणान्त हो गया। राजा ने कहा– अरे मैना तेरे हाथ मित्राघात होना था।

यह सुनकर मैना ने अपने भाले से ही अपने को भोंक लिया। राजा बोधा बचाओ–बचाओ चिल्लाते हुये पहुँचे, वहाँ चन्द्रलेखा की गोद में मैना को देखा। दीर्घ समयान्तराल के पश्चात् राजा सातवाहन तथा रानी चन्द्रलेखा का मिलन हुआ भी तो कैसी स्थिति में? दूसरे क्षण बोधा मैना, को राजा रानी को कन्धे पर लिये घने अंधकार में वनस्थली में भागे जा रहे थे। इसी मोड़ पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेजी जी ने उपन्यास का अन्त कर दिया।

अनामदास का पोथा : –

वैदिक युगीन पृष्ठभूमि पर लिखा गया प्रागैतिहासिक उपन्यास 'अनामदास का पोथा' हजारी प्रसाद द्विवेदी की औपन्यासिक कृतियों में अन्तिम एवं अत्येव सशक्त कृति है। लेखक ने इस उपन्यास में उपनिषद कालीन भारत का चित्र प्रस्तुत किया है। औपनिषदिक तत्व चिंतन को कल्पना के माध्यम से कथा कृति के रूप में प्रस्तुत किया। अधिकांश घटनायें छान्दोग्य उपनिषद से संग्रहीत पृष्ठभूमि हैं।

लेखक ने तद्युगीन आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के साथ–साथ सामाजिक, राजनैतिक, भौगोलिक परिस्थितियों का भी सजीव व यथार्थ अंकन किया। रैक्व के क्रमिक विकास, व मनोभावों को लेखक ने मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया। लेखक ने वैदिक साहित्य, उपनिषदों, नाट्यशास्त्र आदि ग्रन्थों से संग्रहीत सामग्री को अपनी रचनात्मक प्रतिभा व कल्पना से एक उपन्यास के रूप में गूँथा।

कथारम्भ लोक व्यवहार ज्ञान शून्य रैक्व से ही होता है। इसमें उपन्यासकार ने उपनिषद की छोटी सी कथा को लेकर उपन्यास की रचना की है। लेखक ने रैक्व, आश्वलायन, महर्षि औषस्ति, ऋतम्भरा एवं जटिलमुनि आदि के माध्यम से योग क्रियाओं, एवं उपक्रियाओं से प्राप्त होने वाली उपलब्धियों का प्रभावपूर्ण वर्णन किया है। साथ ही यह विचार भी प्रतिष्ठित करने में सफलता प्राप्त की है कि ध्यान, समाधि आदि यौगिक क्रियाओं की अपेक्षा दीनहीन एवं आपदग्रस्त जनों के दुःख निवारणार्थ किये गये शारीरिक श्रम का महत्व अधिक है। इसमें यह सम्भ्रम उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है मानों किसी अनाम लेखक ने लिखकर ही द्विवेदी जी को प्रकाशन के निमित्त समर्पण किया है। यह उपन्यास लिखते समय आचार्य द्विवेदी जी ने उपन्यास की परिकल्पना दो खण्डों में की थी– पहला खण्ड अब "रैक्व आख्यान" शीर्षक से प्रकाशित हुआ और दूसरा खण्ड उन्होंने लिखना प्रारम्भ किया था कि काल के क्रूर हाथों ने उन्हें सदा के लिए हमसे छीन लिया।"[1]

"रैक्व आख्यान" का आरम्भ रिक्व ऋषि के पुत्र रैक्व के बाल्याकाल से आरम्भ होता है। बाल्याकाल में वह अपने पिता रिक्व के आश्रम में होने वाले यज्ञानुष्ठान, अध्ययन अध्यापन तथा दार्शनिक और आध्यात्मिक चिन्तन में उत्साह से योग देता था और अपने पिता को बातों को बड़े ध्यान से सुना करता था। उसकी यह जिज्ञासा की प्रवृत्ति उसके आगे के जीवन में भी बनी रही।

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली–2, पृ0स0 479

बालक रैक्व की माता तो उसके जन्म के साथ ही मृत्यु का ग्रास बन चुकी थी और उसके पिता भी जल्दी ही स्वर्गवासी हो गये। किशोरावस्था प्राप्त करने पर उसकी मनन प्रवृत्ति में वृद्धि हुई थी। धीरे–धीरे लोग उसे दर्शनीय समझने लगे।

समाधि में उसने अनुभव किया कि समस्त जगत् के चैतन्य का कारण वायु है। प्राणतत्व के रहस्य को समझने हेतु स्नान के लिये नदी की ओर चले। स्नान करते समय तूफान के आने पर नदी की उत्ताल तरंगों में वे स्वयं बह गये। किनारे पर मूर्च्छित अवस्था में पड़ी हुई राजा जनश्रुति की कन्या जाबाला को देखा। पास ही गाड़ी कीचड़ में फँसी देखी, गाड़ीवान मृत्यु को प्राप्त हो चुका था। रैक्व वायु के द्वारा जाबाला को चेतनावस्था में लाये। जाबाला के बताने पर उसे बोध हुआ कि वह स्त्री पदार्थ है। जाबाला के दार्शनिक तर्कपूर्ण विचारों का रैक्व के मन पर प्रभाव पड़ा। वह उसे शुभा कहकर पुकारने लगे। उसने बताया कि वह महाराज जनश्रुति की पुत्री है। जाबाला द्वारा घर जाने की इच्छा व्यक्त करने पर, घर पहुँचने के लिए रैक्व ने अपनी पीठ उसके आगे कर दी। जाबाला ने इस विचार को अनुचित बताया जाबाला के इस उत्तर से रैक्व को आश्चर्य हुआ। इसी बीच राजा के अनुचर उधर आये। जाबाला ने तापस कुमार को छिपने के लिए कहा और स्वयं अपने अनुचरों के साथ अपने घर चली गई।

रैक्व जाबाला के ध्यान में सदैव लीन रहता था। उसकी पीठ में सदैव खुजली सी रहने लगी थी। जाबाला भी ध्यान में रैक्व में लीन रहने लगी थी तभी राजपुरोहित औदुम्बरायण ने आश्वल गोत्रोत्पन ऋषिकुमार आश्वालयन को उसके लिए वर हेतु चुना। वहाँ जंगल में सुना था हंसों के वार्तालाप में सभी सम्पत्ति रैक्व के पास जाती है। जब उन्होंने तरुण आश्वलायन को हंसों की बोली का प्रसंग सुनाया, तो उसने भी इसका अनुमोदन किया और उन्होंने बतलाया कि रैक्व वास्तव में तत्वज्ञानी है। उसे विश्वास था कि हंसों में उसी के गुणों का वखान हो रहा था। जाबाला की प्रेमाग्नि में इस समाचार ने घी का काम किया। औदुम्बरायण ने बतलाया था कि राजा ने भी उस तरुण तापस को खोज करने की आज्ञा दी है।

औदुम्बरायण के रैक्व के पास जाने पर रैक्व ने उसके प्रति कोई आदर भाव प्रकट नहीं किया। प्रतिक्षण शुभा की प्रशंसा की। राजा जनश्रुति को बताते समय जाबाला वहीं थी। यह सुनकर जाबाला जड़ीभूत हो गई। राजा जनश्रुति एवं औदुम्बरायण को रैक्व शुभा जाबाला को कहता है यह ज्ञान नहीं था।

एक दिन नदी के तट पर रैक्व को महर्षि औषरित की पत्नी ऋतम्भरा के दर्शन हुये थे। उसने एक बात जानी कि शुभा की तरह यह स्त्री पदार्थ है। ऋतम्भरा रैक्व के भोलेपन व विद्वत्ता से प्रभावित हुई, उसे आश्रम में ले गई। वह और महर्षि औषस्ति उसे पुत्रवत् व्यवहार करते थे। उन्होंने यौगिक क्रियाओं के साथ व्यावहारिक शिक्षा प्रदान की। रैक्व ने ऋतम्भरा को शुभा के बारे में बता दिया। इससे माता ऋतम्भरा जाबाला के विषय में रैक्व के आकर्षण की भावना से परिचित हो गई।

एक दिन जाबाला के मृत गाड़ीवान की पत्नी ऋजुका दीनहीन अवस्था में रैक्व को मिल गई। वह उसे भी माता ऋतम्भरा के पास ले आया। रैक्व उसे दीदी के सम्बोधन से पुकारने लगा। परन्तु उसे इस बात का बड़ा क्षोभ था कि अपने मृत गाड़ीवान की दुखिया पत्नी की शुभा ने कोई सुध क्यों नहीं ली।

जाबाला दिन पर दिन सूखती जा रही थी। पुत्रवत् मानने वाले राजपुरोहित औदुम्बरायण को एक महात्मा ने बताया कि राजकन्या को मानसिक कष्ट है। महात्मा ने जाबाला के मनोविनोद के लिए कोहलीयों के नृत्यशास्त्र की व्यवस्था करने की मंत्रणा दी। उसी महात्मा ने पुरोहित से साक्षेप कहा कि तुम्हारा राजा कर्तव्यहीन है क्योंकि उसने तूफान में मरे हुये रथचालक की दीन पत्नी की कोई खोजखबर नहीं ली और वह महान कष्ट में है। आचार्य औदुम्वरायण ने यह बात राजा और राजकन्या को बताई तो जाबाला को पाश्चाताप हुआ। वह ऋजुका को खोजने के विषय में गम्भीरता से विचार करने लगी। संकुला नाम की एक वृद्धा ने बताया कि जाबाला पर गन्धर्व का आवेश है। अतः गन्धर्व पूजन कराया जाये। आचार्य ने राजा को बताया कि कोहलीयों के नृत्यशास्त्र व गन्धर्व पूजन दोनों में नाम का ही अन्तर है। आश्रम में जब ऋजुका ने रैक्व को बताया कि राज्य के लोग बड़े अभाव एवं कष्ट में जीवन यापन कर रहे हैं। दुर्भिक्ष के कारण उनके पास खाने को अन्न का नितान्त अभाव है। तब रैक्व ने माता ऋतम्भरा को साथ लेकर महर्षि औषरित से पौरजनपदों की सहायता व सेवा करने की आज्ञा माँगी। ऋषि ने ऋतम्भरा व रैक्व को आज्ञा दे दी।

माता ऋतम्भरा व रैक्व जनश्रुति के राज्य में पहुँचे। वहाँ अभावग्रस्त बालकों के मनोरंजन में व्यस्त एक व्यक्ति (जिसे सभी बच्चे मामा कहते थे) के सेवा कार्य से अत्यन्त प्रभावित हुये और रैक्व भी उसी की भाँति गाड़ी में शाकपात लादकर नगर निवासियों की सेवा करने के विषय में कृतप्रतिज्ञा हुआ। उधर माता ऋतम्भरा राजप्रसाद में जाकर राजा व जाबाला से मिली।

वहाँ उन्होंने राजा को प्रजा मनोरंजन का उपदेश दिया और राजा ने पहले ही निश्चिय कर लिया था कि कोहलीयों के नृत्यनाट्य एवं गन्धर्व पूजन के लिए मंच का निर्माण करने में प्रजा जनों को लगा दिया जाये। जिससे कि वे अन्न प्राप्त कर सके। एकान्त में माता ऋतम्भरा ने जाबाला के मन की बात पूछी। उन्हें विश्वास हो गया कि जाबाला के मन में भी रैक्व के प्रति पूर्णतया आकर्षण का भाव है। वहाँ माता ऋतम्भरा ने जाबाला को बताया कि मृत रथचालक की पत्नी ऋजुका भी आश्रम में ही है। स्वयं रैक्व ही उसे आश्रम में ले आया था। इस प्रकार उसने तेरी ओर से इस मूल का प्रायश्चित कर लिया।

रंगमंच का निर्माण बड़े आडम्बर के साथ हुआ। किसी प्रकार की अशुभ सूचना नहीं मिली। माता जी की सलाह से राजा ने मौसी की पुत्री अरुन्धती को बुलाया। दोनों ने एक दूसरे की बातों को समझा। कोहलियों का नृत्यनाट्य व गन्धर्व पूजन विधिपूर्वक सम्पन्न हुआ। नृत्यनाट्य के समय में जाबाला ने रैक्व को स्मरण किया।

रैक्व की दीदी 'ऋजुका' माता जी के आश्रम चले जाने के बाद भी जाबाला के पास रुकी। जाबाला ने रैक्व के विषय में पूछने के साथ–साथ उसकी विपत्ति की कथा सुनी। उसकी सहायता करने हेतु उसे टूटे हुये रथ के पास निवास करने के लिए नियुक्त किया। वहाँ आने वाले महात्माओं एवं अन्य अतिथियों की सेवा करना काम है। उसे आर्थिक सहायता देकर विदा किया।

माता जी ने लौटते ही रैक्व का उपनयन करवाया। कई दिन यज्ञ याग हुआ। वेदशास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वानों का आयोजन हुआ। रैक्व को शास्त्र ज्ञान करने के बाद माता जी की बात का अर्थ समझ में आया कि जाबाला के योग्य बनना है। एक दिन अपने साथी ऋषिकुमार आश्वलायन को रैक्व ने जाबाला के प्रति अपने आकर्षण की बात बताई। वस्तुतः आचार्य औदुम्वरायण आश्वलायन को जाबाला का वाग्दान कर चुके थे। आश्वलायन ने रैक्व के विचारों को सुनकर आचार्य औदुम्बरायण को पत्र लिखा कि आपके पत्र द्वारा मुझे ज्ञात हुआ कि जाबाला अभी विवाह के लिए तैयार नहीं है। परन्तु मुझे जाबाला के मनोनुकूल वर मिल गया है। वह भगवती ऋतम्भरा का अंगीकृत पुत्र रैक्व है। मुझे विश्वास है, कि जाबाला इस विवाह, से खुश रहेगी।

जाबाला उदास रहती थी। अरुन्धती भी उदास होकर चली गयी। आचार्य औदुम्बरायण भी गृह त्याग कर अन्यत्र चले गये थे। जाबाला ने पिता को अरुन्धती व आचार्य औदुम्वरायण दोनों को मना लेने का वचन दिया। उसे पत्र के बारे में कोई जानकारी नहीं थी। दो दिन बाद उसने भगवती ऋतम्भरा व महर्षि औषस्ति से मिलने के लिए आज्ञा माँगी। जाबाला पिता के साथ

रैक्व की प्रतीक्षा कर रही भगवती ऋतम्भरा के पास पहुँची। वहीं रैक्व की जाबाला से भेंट होती है वह कहता –"उसगाड़ी के बिना मैं क्या समाधि लगाऊँगा? वह गाड़ी मुझे अपार शक्ति देती है।" तब तक आश्रम में आये अनेक ऋषियों से रैक्व अनेक विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर चुका था। आश्वलायन ने रैक्व को जटिल मुनि से मिलाया, जिसने रैक्व को बहुविध ज्ञान चर्चा के अन्त में विवाह के परिष्कृत रूप उद्वाह की मंत्रणा दी।

रैक्व गाड़ी प्राप्त करके दिन भर सेवा कार्य में लगे रहते थे। परम वैश्वानर की सच्ची उपासना कहकर माता जी ने उन्हें इसी ओर प्रवृत्त किया। आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करके रोगियों की सेवा करते थे। ऋजुका उनकी सहायिका थी। राजा जनश्रुति ने निश्चय कर लिया था कि जाबाला का विवाह रैक्व के साथ करेंगे। आचार्य औदुम्वरायण भी लौट आये थे और अब वे परम प्रसन्न थे। अन्त में राजा जनश्रुति ने रैक्व को जाबाला के साथ विधिवत् विवाह बंधन में बाँध दिया।

इस उपन्यास में आचार्य द्विवेदी जी ने जिस मनोभाव को व्यक्त करना चाहा, उसका उत्तरोत्तर विकास दिखाते हुये उपसंहार में उस मूल मनोभाव की उत्कृष्टता को अंकित किया। कथानक के अन्त में रैक्व जाबाला के साथ विवाह की बजाय उद्वाह करते है। इस प्रेम कथा के इस अंत के द्वारा लेखक ने सात्विक, उत्कृष्ट प्रेम की प्रतिष्ठा की।

पुनर्नवा :–

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का पुनर्नवा उपन्यास कालाक्रमानुसार 1973 में प्रकाशित तृतीय उपन्यास है। पुनर्नवा के पूर्वार्ध की कथा तो पूर्णतः लेखक की कल्पना द्वारा ही प्रस्तुत है, परन्तु उत्तरार्द्ध की कथा में 'मृच्छकटिकम्' नाटक के कथानक का पर्याप्त मात्रा में सहारा लिया गया है। 'मृच्छकटिकम्' के अतिरिक्त कालिदास के कुमार सम्भव तथा मेघदूत की सामग्री का बहुत अधिक प्रयोग किया गया है। मालविकाग्नि मित्रम का भी उज्जयिनी व विदिशा के प्रसंग में प्रतिफलन हुआ है।

यह ऐतिहासिक व कल्पना से समन्वित पूर्णतः प्रेम परक उपन्यास है। इसमें लेखक ने ईसा की चतुर्थ शताब्दी के सामाजिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक परिवेश की तरह यथार्थता का कल्पना प्रसूत प्रेम प्रसंगों के माध्यम से दिग्दर्शन कराया है। पुनर्नवा उपन्यास में द्विवेदी जी ने अन्य उपन्यासों की तरह प्रेम की उदात्तता, समष्टि सेवा में जीवन की सार्थकता, नारी सम्मान, भौतिकता व आध्यात्म का समन्वय व समष्टि चित्त का परिष्कार आदि जीवन मूल्यों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। अन्य उपन्यासों के सदृश भी सर्वत्र मानवतावादी जीवन दृष्टि प्रतिविम्बित हुई है।

कथा का प्रारम्भ कुलूत देश के राजकुमार विमाता के अनेक प्रकार के दुर्व्यवहार से क्षुब्ध होकर गृहत्याग करने वाले हलद्वीप निवासी देवरात की चारित्रिक विशेषताओं के प्रख्यापन से होता है। तेजस्वी, शौर्ययुक्त, संस्कृत, प्राकृत के कवि कुशल वादक चित्रकार, देवरात हलद्वीप राजपरिवार में सम्मानित थे। देवरात का आश्रम पश्चिम की ओर महासरयू के तट पर अवस्थित था। च्वनभूमि के चौधरी वृद्धगोप देवरात पर श्रृद्धा रखते थे। देवरात के दो पुत्र श्यामरूप व आर्यक थे। वृद्धगोप ने देवरात के पास जाकर कहा–" मेरी अभिलाषा है, कि श्यामरूप पण्डित तथा आर्यक अजेय मल्ल बने। देवरात ने प्रत्युत्तर में कहा, कि आर्यक दिग्विजयी व श्यामरूप महामात्य बनेगा। देवरात की बात सुनकर वृद्धगोप निश्चितता से वापिस आये। देवरात ने त्रिलिंग देश मल्लराजुल को उन्हें व्यायाम तथा मल्ल विद्या सिखाने हेतु नियुक्ति किया।

हलद्वीप के सरस्वती विहार–नामक स्थान में एक बार राजा के सभापतित्व में रूपगर्विता नगरश्री मंजुला का नृत्य हुआ था। इस नृत्य में आमंत्रित देवरात ने मंजुला से भावानुप्रवेश का अभाव बताया। दूसरे बार देवरात– ने प्राकृत भाषा में कविता सुनायी, मंजुला ने उसे वासी कहा। देवरात मंजुला के रूप सौन्दर्य पर आकर्षित थे, जो कि सात्विक आकर्षण था। कला कर्मज्ञता के कारण

वह कमियों को स्पष्ट करते, मंजुला में उसके प्रति प्रतिद्वन्द्विता थी। अंत में मंजुला को यह विश्वास हो गया, कि देवरात तो उसके प्रति शुभाकांक्षी थे।

मंजुला ने उसके आश्रम में जाकर क्षमा याचना की और अपने घर पर आने हेतु प्रार्थना की। महामारी के प्रकोप के समय देवरात मंजुला के घर पर गये, मंजुला उस समय संसार को छोड़ने हेतु तैयारी में थी। देवरात के हाथ में मृणालमंजरी को सौंपा।देवरात मृणाल मंजरी को घर लाकर श्यामरूप व आर्यक के साथ शिक्षा दी। 18 वर्ष तक श्यामरूप पूरी तरह से मल्ल बन चुका था।

वृद्धगोप की पत्नी देवरात से मृणालमंजरी को ले जाना चाहती थी, पर ऐसा न हो सका। प्रातःकाल वृद्धगोप से काठ की पेटी प्राप्त की तथा एक पत्र प्राप्त हुआ जिसमें लिखा था– इस प्रतोलिका को व कन्या को आर्य देवरात के पास पहुँचा दे। महामारी प्रकोप कम होने पर हलद्वीप की स्थिति यथावत् हो गयी। श्यामरूप को मल्लविद्या के पश्चात् क्षिप्तेश्वर महादेव से सम्बद्ध वैदिक पाठशाला में भेजा। एक बार श्यामरूप के लापता होने पर चुपचाप आर्यक खोजने हेतु खिसक गया। लेकिन बाद में ज्ञात हुआ, कि वह वृद्धगोप के पास है। इसी बीच हलद्वीप में राजा का स्वर्गवास हो गया। युवराज का अभिषेक हुआ। मृणाल को लोग मंजुला के बारे में बताते थे। देवरात मृणालमंजरी के विवाह हेतु चिन्तित होते हैं। मृणाल को आर्यक के प्रति उत्सुक समझा। लेकिन वृद्धगोप के घर आर्यक का मन मृणाल के लिए उत्सुक था, वरन् वृद्धगोप ने गणिका पुत्री कहकर उस रिश्ते से इन्कार किया, देवरात चुपचाप वापिस आ गये थे।

हलद्वीप के राजा यज्ञसेन विजयसेन के पुत्र भारशिव नागवंश के थे उनके अनुसार साकेत में पाटलिपुत्र तक कुषाण नरपतियों का जो प्रभाव अवशिष्ट रह गया, उसे समाप्त किया जाये। उन्होंने आभीरों के प्रति संकीर्णता नहीं दिखायी। उनके पुत्र रुद्रसेन ने भरों एवं आभीरों की मैत्री में दरार डाली। प्रजा असन्तुष्ट थी, देवरात की सलाह में स्पर्धा थी। देवरात वह दशा देख चिन्तित रहते थे, मृणाल कहती है –" मैं क्या किसी के काम नहीं आ सकती। यह पूछने पर देवरात ने कहा– एक और प्रयत्न कर लेता हूँ, जानता हूँ यह दुष्ट नाम समझाने बुझाने से वश में नहीं आयेगा। पर एक और प्रयत्न करने में कोई हानि नहीं है। अन्त में कालिय दमन ही रास्ता रह जायेगा।" वह बहू बेटी पर होने वाले अत्याचार, लूटपाट के बारे में उपाय हेतु कहती, देवरात कहते इन सब समस्याओं को दूर करने का भार पुरुषों पर है।

मृणाल आर्यक के विचारों में लीन थी, लहुरा वीर की जय' की ध्वनि ने

ध्यान भंग किया। इसी समय सुमेर काका देवरात के मित्र आये। उन्होंने भी लहुरा वीर की उपासना करने वाले दल का नेतृत्व आर्यक कर रहा है ऐसा कहा। आर्यक ने राजा के विरुद्ध सेना छोटी बनाई है। मृणाल काका से आर्यक को अपने दल में शामिल करने का सन्देश भेजने को कहती, काका मना कर देते हैं।

मृणाल ने देवरात का विश्वसनीय सेवक सुदिन को आर्यक के पास पत्र देने हेतु भेजा था। देवरात के पूछने पर मृणाल ने भेजा है ऐसा बताया। आर्यक तुरन्त पीछे से आया, उसके बाद वृद्धगोप।अन्त में वृद्धगोप आर्यक व मृणाल को विवाह करके ले जाते।

मृणाल मंजरी के विवाह के दिन वृद्धगोप ने उसकी माता की धरोहर देवरात को सौंप दी। देवरात के वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह अग्निमित्र के प्रमुख सेनानियों में थे। देवरात का यौधेय क्षत्रिय वंश की कन्या शर्मिष्ठा से विवाह किया था विमाता के कहने पर देवरात ने यौधेय सेना के रूप में हूणों को विध्वस्त किया था। विमाता ने बहू को सती करवाया। घर आने पर संसार उनका नष्ट हुआ देखकर अन्त में वापिस हलद्वीप आये।

राजा का आमंत्रण स्वीकार कर देवरात प्रथम बार राज सभा में आने पर मंजुला को देख शर्मिष्ठा याद करते है। मृणाल को पौरवधुओं से ज्ञात हुआ, कि वह हलद्वीप की नगर श्री मंजुला की औरस पुत्री है।

श्यामरूप मथुरा की गलियों में घूमता हुआ एक मंदिर में पहुँचे वहाँ एक ब्राह्मण ने उसे देखा छबीला पण्डित जानने पर उसका नाम शार्विलक बताया। नटों का चौधरी जम्भल से उसका सम्पर्क होता है, इसके पश्चात् भद्रदेश के अज्जुक मल्ल को पछाड़ा। नटों की मण्डली में ही उसे मांदी नाम की लड़की से स्नेह हो गया। परन्तु जम्भल की पत्नी ने उसे मथुरा की एक गणिका के हाथ बेंच दिया, यह पता लगने पर छबीला पण्डित भी नट मण्डली को छोड़कर मथुरा भाग गया था।

श्यामरूप को वृद्ध ब्राह्मण के प्रयत्नों से मथुरा में राजा के मल्ल विद्या को निष्णात पितृव्य चण्डसेन का आश्रय प्राप्त हो गया। एक विशाल मल्ल प्रतियोगिता में शार्विलक ने भद्र देश के मागू पहलवान का मान मर्दन करके मथुरा के निवासियों के हृदय में आदरपूर्ण स्थान प्राप्त किया। परन्तु साथ में यह और चण्डसेन राजा श्यालक तक भानुदत्त की आँख की किरकिरी बन गये। क्योंकि मागू पहलवान को भानुदत्त का संरक्षण प्राप्त था। कुश्ती वाले दिन ही हलद्वीप के वीरक ने श्यामरूप को हलद्वीप की गतिविधियों से परिचित कराया। उसी ने आर्यक व मृणाल मंजरी के विवाह व उसके पुत्र

होने की सूचना दी। आर्यक को महाराज समुद्रगुप्त ने अपनी सेना में बलाधिकृत पद पर नियुक्ति किया, आर्यक ने हलद्वीप के राजा को पराजित किया। श्री चन्द्र की पत्नी चन्द्रा आर्यक के जबरदस्ती गले पड़ने पर बदनामी के कारण, आर्यक हलद्वीप छोड़कर भागे। इसके पूर्व ही वृद्ध पं0 ने शार्विलक को यह वृतान्त बताया, कि किसी दूसरे की पत्नी से प्रेम करने के कारण आर्यक से महाराज समुद्रगुप्त रुष्ट हो गये हैं। अतः आर्यक देश छोड़कर भाग गये। वीरक बताते हैं, कि शाम आर्यक अब मथुरा पर चढ़ाई करने वाले हैं।

सुना है, कि पाटलिपुत्र के सम्राट आर्यक के स्थान पर भटार्क को सेनापति बनाया है। चण्डसेन ने मथुरा में रहकर ही लोहा लेने का निश्चय किया। उन्होंने श्यामरूप को परिवार के साथ उज्जयिनी जाने का आदेश दिया। शार्विलक मांदी के सन्दर्भ में चिन्तित हैं, वीरक ने शार्विलक को बताया, कि मांदी को कपोलक नाम का एक व्यक्ति विक्रय हेतु उज्जयिनी ले गया। यह एक जुआड़ी द्वारा ज्ञात हुआ था, जो कि मांदी को खरीदना चाहता था। शार्विलक मांदी की तलाश में चण्डसेन के परिवार को हर्षपूर्वक उज्जयिनी ले जाने को उद्यत हुआ, उसने वीरक को भी अपने साथ ले जाने की व्यवस्था करा ली।

विदिशा के उज्जयिनी जाने का मार्ग काफी प्रशस्त था। शार्विलक को मार्ग में यक्षभूमि का निवासी किशोरकवि चन्द्रमौलि व माढव्य शर्मा आपस में बातचीत में सलंग्न मिले। उसने उन्हें सचेत किया कि वे कहीं छुप जाये, क्योंकि दण्डधर इधर ही आ रहें, आगे सुप्तावस्था में आर्यक मिला, उसे श्यामरूप पहचान न सका, उसे छुपने हेतु कहता हुआ त्वरित गति से आगे बढ़ गया। बाद में आर्यक को श्यामरूप की आवाज का सन्देह हुआ, छुपने का स्थान ढूँढ़ने पर चन्द्रमौलि व माढव्य शर्मा से साक्षात्कार हुआ। उसके द्वारा गोपालक नाम बताने पर भी माढ़व्य शर्मा ने उसे पहचान लिया।

मृणाल आर्यक को सहयोग देने के सन्दर्भ में सोच रही थी, तभी काका ने आकर सहयोग देने हेतु कहा। दोनों एक विन्ध्याचल में वृद्ध के पास जाने हेतु तैयार हुये, तभी लड़कों का दल आकर चन्द्रा के आने की सूचना देते, काका यह सुनकर अप्रसन्न हुये। काका ने उसके विरुद्ध फैली बात की सत्यता के बारे में पूछा, चन्द्रा कहती, कि शादी पुरुष से होती, लेकिन वह पुरुष है, ही नहीं। पिता ने जबरदस्ती विवाह किया था।

देवरात नैमिषारण्य काशी, मथुरा अन्त में शान्ति लाभ के निमित्त उज्जयिनी में महाकाल के दर्शन करने पहुंचे। वहाँ उनको महाकाल के मंदिर में कविता का पाठ चन्द्रमौलि के द्वारा

किया जाने वाला सुनाई पड़ा। देवरात प्रभावित होकर उसके तत्कालीन निवास पर पहुंचे तो वहाँ उन्होंने स्वजन्म भूमि यक्षभूमि व अपने मित्र व हितैषी माढव्य शर्मा तथा आर्यक से भेंट के बारे में वृतान्त बताया। लेकिन बताया, कि आर्यक चुपचाप यहाँ से चला गया, इसी समय माढ़व्य शर्मा ने सूचना दी, कि नगर के पूर्वी छोर पर स्थित जीर्ण उद्यान में आर्यक की आकृति मेल खाता पुरुष रहता है। राजा के सैनिक उसे बंदी बनाना चाहते हैं। आगे बताया, कि भटार्क ने मथुरा जीत ली। उज्जयिनी नरेश पालक घबरा गया। भटार्क गोपाल के नाम से लड़ रहा है। मगध के सम्राट को कड़ा पत्र लिखा।

यह सुनकर देवरात आर्यक की खोज में निकल पड़े। चिन्ता में आगे बढ़ते जा रहे थे, कुछ लोग आर्यक के बारे में बात कर रहे थे। राजा के साले द्वारा किये अत्याचारों के बारे में भी कह रहे थे। लगता है, बसन्त सेना को मरवा देना चाहते, यहाँ चारूदत्त व बसत सेना ही पूजनीय है, इन अत्याचारों से मुक्ति आर्यक दिला सकता। इसी समय भीमा ने देवरात को पहचाना। एक ब्राह्मण पण्डित ने कहा मेरा नाम श्रुतिधर है। आप मेरी पाठशाला चले। देवरात ने अपना परिचय दिया। वह शार्विलक के बारे में बताता, कि उसने श्रावस्ती से उज्जयिनी तक कीर्ति कथा फैलायी है।

शार्विलक के उज्जयिनी में एक बगीचा में चण्डसेन के परिवार को छुपा रखा था, दूसकी ओर पाठशाला थी, जिसके आचार्य श्रुतिधर थे, चण्डसेन उसे चलाते थे। चण्डसेन की पत्नी साध्वी तथा पिता अलकदात पुरुषपुर के शक सरदार थे। एक बार घने अन्धकार में वह दान सामग्री चण्डसेन की पत्नी द्वारा दी गयी, उसे देकर लौटते समय चिल्लाने की आवाज सुनकर शार्विलक द्वारा पहुँचने पर बचाव किया गया, वहां ज्ञात हुआ, कि वह मांदी थी। एक ब्राह्मण ने बताया कि यह बसन्त सेना की दासी है। पाँच सौ स्वर्ण में उसे बेचा था। वह पाँच सौ स्वर्ण देकर मदनिका को लेना चाहता था।, अतः वह एक मन्दिर में पहुंच जाता। वहाँ एक वृद्धा ने उसे अपना पुत्र समझकर दीन दुखी की रक्षार्थ एक तलवार दी। यह शिव का वरदान है, तुम्हारा आशीर्वाद है।

हलद्वीप शान्त था, आर्यक जब साम्राज्य वाहिनी का महाबलाधिकृत होकर चला गया लिच्छवि राजकुमार पुरन्दर अमात्य बने थे। वह मृणाल को रानी के रूप में सम्मान करता था। चन्द्रा मृणाल के साथ रहने पर हलचल मची हुई थी। सम्राट ने दोनों के रिश्ते को अनुचित बताया। पुरन्दर ने श्रीचन्द्र चन्द्रा का पति नहीं इसके निदान हेतु पुरगोभिल को बुलाया। उनको बीच में सुमेर काका मिले। उन्होंने काका को उज्जयिनी जाकर चन्द्रा के विवाह के विषय में सब प्रश्नो का प्रमाणिक विवरण लाने हेतु भेजा। दो पत्र एक राजा के लिए एक राज पुरोहित के लिए दिये थे।

चन्द्रा मृणाल को काका के कहने पर सिद्ध के पास जाने हेतु तैयार करती है। चन्द्रा सिद्धाश्रम जाती है। उन्होंने कहा कि देख माँ, तेरी सखी पार्वती के समान पूजनीय है, उसमें शील, धर्म, शोभा की त्रिवेणी लहरा रही है, उसके समान पार्वती कल्पा, का पति कहीं संकट में पड़ सकता।

आर्यक चन्द्रमौलि माढ़व्य को छोड़ उज्जयिनी चला गया, वहाँ उसे मथुरा विजय का समाचार मिल गया था, वहां महाकाल के मंदिर में पहुँचने पर भावसत्ता के रूप में उपस्थिति सन्यासिनी माता (मंजुला) के सूक्ष्म शरीर के दर्शन हुये। सन्यासिनी माता ने उसे आर्य चारूदत्त से तत्काल मिलने की आज्ञा दी। और आदृश्य हो गई, तभी माता ने चारूदत्त के बसन्त सेना के साथ सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में चारूदत्त की पत्नी धूता के विषय में आर्यक को बतलाया और अंत में उससे यही कहा, कि उनकी समस्या सुलझ गई, तुम्हारी भी शीघ्र सुलझेगी, उनका संकेत आर्यक की चन्द्रा सम्बन्धी समस्या की ओर था।

आर्यक पहले से इंतजार कर रहे थे चारूदत्त धूता के पास पहुँचे। रोहसेन, धूता, चारूदत्त, आर्यक चारों को अज्ञात स्थान जाते समय रास्ते में दो सैनिक ने गाड़ी के समय आकर पर्दा उठाने का प्रयत्न किया। सैनिक व चारों के बीच के समय राजाधिराज पालक की जय की पुकार सुनाई दी। आर्यक सैनिकों द्वारा पर्दा खींचने पर तलवार लेकर कूद पड़ा। आर्यक ने राजा पालक के रथ में कूदकर सर धड़ से अलग किया। अपना नाम बताकर सैनिकों व प्रजा से कहा कि मेरी सेना मथुरा में उज्जयिनी के लिए चल पड़ी है, और कुछ पल में यहाँ आने वाली है उनके सैनिकों को आदेश दिया, कि वे उनकी आज्ञा का पालन करें। आर्यक ने अपनी कुशलता से शत्रु सैनिकों को भगाया। चारूदत्त आर्यक को साथ लेकर राजमहल में गये और वहाँ प्रमुख नागरिकों की उपस्थिति में आर्यक का राज्याभिषेक हुआ।

शार्विलक को उज्जयिनी में लौटते समय एक वृद्ध व्यक्ति से भानुदत्त द्वारा चन्डसेन को बन्दी बनाये जाने का समाचार प्राप्त हुआ। उनके विश्वासभाजन महमल्ल शार्विलक पर आरोप लगाया, कि उसने चारू दत्त के घर पर चोरी की। आगे बताया, कि बसन्त सेना की हत्या का आरोप चारूदत्त पर है। यह सुनकर शार्विलक मदनिका की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुये बसन्त सेना के आवास की ओर बढ़ा। वहाँ उसने भानुदत्त के सैनिकों को भगाया, बसन्तसेना के घर में प्रवेश कर मदनिका बसन्त सेना को बन्धनों से मुक्त कराया। दोनों को श्रुतिधर की देखभाल में छोड़कर आर्यक से मिलने गये। वहाँ राजभवन में युद्ध में वीरता को देख देवरात भी उस पर मुग्ध हुये। इससे पूर्व भानुदत्त के अनुचरों ने देवरात को चन्द्रमौलि व माढ़व्य शर्मा के साथ बंदी बनाकर एक शूनसान गृह में बाँधकर

डाला था, परन्तु देवरात ने स्वप्रयत्न से मुक्त कर लिया। चन्द्रमौलि के द्वारा देवरात को ज्ञात हुआ कि वह उनकी पत्नी शर्मिष्ठा की बहिन सुनीता का पुत्र है। चित्त अशान्त होने के कारण महाकाल के दर्शनार्थ उज्जयिनी आया है। माढ़व्य ने देवरात को बताया कि मैंने बसन्त सेना को उज्जयिनी के नृत्य में देखा था। सामने बसन्त सेना का आवास है। सुना है कि भानुदत्त के गुण्डों ने मार डाला है, अचानक महामल्ल शार्विलक की जय की आवाज सुनाई पड़ी।

शार्विलक चंडसेन को बन्धन मुक्त कराकर नदी तट पर लाये। तभी भटार्क के सेना पतित्व में समुद्रगुप्त की सेना वहाँ पहुँच गयी। भटार्क ने वाक्चातुर्य से चण्डसेन को आश्वासित करके राज्य भार ग्रहण करने के लिए तैयार किया। तत्पश्चात् श्यामरूप राजभवन में जाकर आर्यक से मिला। आर्यक ने उससे पुनः हलद्वीप को लौट जाने की प्रार्थना की। श्यामल ने हलद्वीप लौटकर चलना स्वीकार कर लिया और आर्यक को अपने हलद्वीप पहुँचने से पहले वहाँ पहुँचने का आदेश दिया। बाद में बसन्त सेना का सन्देश मिलने पर शार्विलक बसन्त सेना व मदनिका से मिलने के लिए चला गया।

देवरात जब शार्विलक का पराक्रम देखकर वहाँ से लौटे तो उनका मन आर्यक के विषय में सोचकर अशान्त हो गया था। वे मृणालमंजरी की दुःखी अवस्था के लिए आर्यक के चरित्र को दोषी मानकर क्षुब्ध हो रहे थे और उज्जयिनी से निकल भागना चाह रहे थे। तभी भावसत्तात्मक मंजुला के दिव्य शरीर के दर्शन हुये। उन्होंने उस दिव्य शोभाशालिनी भावमूर्ति को देखा और पुनः पुनः देवि पुनर्नवे। कहकर सम्बोधित किया। तभी देवरात, उस मनोभवा पुनर्नवा देवि (मंजुला) ने उन्हें सम्बोधित करते हुये कहा–"तुम्हारे जैसा विवेकी दृष्टा मैंने नहीं देखा। आज तुम्हें हो क्या गया है? तुम्हारे मन में कोई अनुचित चिन्ता शल्य बनकर चुभ गई है। निकाल दो उसे फेंक दो उसे, प्यार करो उसे जो प्यार कर अधिकारी हो, लोगों से सुनी बातों से विचलित न हो।" अपने विषय में उस भावमूर्ति ने बताया "तुम्हारे अभिलाषा के बन्धन में बंधी हुई हूँ। बार बार लौटकर आती हूँ। जिन पर तुम्हारा ध्यान केन्द्रित होता है, उनकी कल्याण कामना के लिए भरमती फिरती हूँ। संसार जोर से खींचता है। पुनर्नवा बनना पड़ता है।" मंजुला के भाव शरीर ने उसे मथुरा में निवास करने की प्रार्थना की और देवरात ने मथुरा जाना स्वीकार कर लिया।

आर्यक व धूता की वार्तालाप हो रही थी तभी चारूदत्त ने आकर बताया, कि देवरात आये तो हैं, पर उन्हें खोजा नहीं जा सका। श्यामरूप हमारे पक्ष का नेतृत्व कर रहे हैं आर्यक श्यामरूप का नाम सुनकर प्रसन्न हो गया।

मथुरा नगरी निकट आ गयी थी, मृणाल के वटेश्वर महादेव के दर्शन हेतु जाने पर समुद्रगुप्त युवक का वेश धारण करके काका से आर्यक 'मृणाल' के बारे में पूछते हैं काका ने चन्द्रा को निर्दोष बताया।

समुद्रगुप्त की सेना नदी के दूसरे किनारे जा रही थी। सामने से भटार्क के दूत धनंजय ने आकर एक पत्र दिया, जिसमें आर्यक की उज्जयिनी पर विजय, शार्विलक द्वारा शत्रु सेना को पराजित करना, चारूदत्त के प्रभाव से नगर में शान्ति के बारे में सूचना दी। समुद्र गुप्त ने धनंजय सेनापति से कहा कि आर्यक को मुझसे मिलने की व्यवस्था की जाये, कहीं भाग न जाये।

आर्यक भटार्क को उज्जयिनी का भार सौंपकर मथुरा की ओर चलें। आर्यक चन्द्रमौलि, सम्राट समुद्रगुप्त की वार्तालाप के समय धनंजय ने आकर कहा, कि सेनापति भटार्क को आदेश दिया गया, कि चन्डसेन को उज्जयिनी का नरेश शार्विलक को राजकीय सम्मान की व्यवस्था, बाद में आर्यक शार्विलक के हलद्वीप जाने की व्यवस्था की जाये। समुद्रगुप्त ने कहा ठीक है।

सुमेर काका ने कहा समाचार मिला है, कि बिटिया आर्यक उज्जयिनी से मथुरा की ओर चल पड़ा। मृणाल ने कहा, जिस देवता के आशीर्वाद से यह समाचार मिला वहीं प्रतीक्षा की जाये। आर्यक ने वटेश्वर पहुँचने पर चन्द्रा को मूर्च्छित अवस्था में मृणाल की गोदी में मन्दिर के सामने पड़ा देखा। मृणाल ने आर्यक को संकेत के पास बुलाया। चन्द्रा को उसकी गोदी में डाला। आर्यक की आँखों में आँसू बहने लगे। मृणाल के पुत्र शोभन द्वारा बड़ी अम्मा सम्बोधन सुनकर चन्द्रा उठी। उसने देखा, कि आर्यक की गोद में पड़ी एकदम झटके से उठी और आर्यक के चरणों में गिर पड़ी। द्रवविगलित अश्रुधारा से आर्यक के पैर धुल गये। उन आँसुओं के सारे मान अभिमान बह गये..............आर्यक अभिभूत मृणाल गदगद।

कथ्यगत अवान्तर विषयों का अनुशीलन

ज्योतिष गणित :-

ज्योतिष वस्तुतः सूचनाओं एवं सम्भावनाओं का शास्त्र है। ज्योतिष भविष्य में होने वाली दुर्घटनाओं एवं कठिनाइयों के प्रति मनुष्य को सावधान कर सकता है।

ज्योतिष भाग्यवाद नही है, बल्कि पुरुषार्थवाद या कर्मवाद की युक्ति संगत व्याख्या है। ज्योतिष सूर्य, चन्द्रमा पर आधारित विज्ञान है। सौरमण्डल में बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, गुरू, शनि, अरुण, वरुण, यम, कुबेर, या इन्द्र ग्रहों ने सूर्य के चारों ओर अपनी कक्षायें निर्धारित की हैं, वह ही संकर्षण देव के 11 समूह हैं। ज्योतिष में सूर्य चन्द्र का महत्व अधिक है, इसमें शिव का महत्व सर्वोपरि है। उन्हें कल्पान्तकारी संहारकर्ता, शंकर महादेव, नमोगति, नक्षत्रमाली, अनिवारित, लिंगाध्यक्ष, नागभूषण, नित्य नृत्य आदि रूपों में देखा गया है।

काल विज्ञान अर्थात् समय विश्लेषण के रूप में ज्योतिष की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इसका कोई निश्चित सूत्र नहीं है, पर सम्भावनाओं पर विचार से प्रतीत होता कि मानव ने अपने वनवास काल में जाने–अनजाने इस विद्या के सिद्धान्तों की स्थापना कर ली। सर्वप्रथम रात और दिन का क्रम मनुष्य ने इसी को समय की इकाई निश्चित किया होगा। एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक का समय अहोरात्र कहा जाता है। ज्योतिष को जन्म देने वाला तथ्य यही अहोरात्र प्रतीत होता है। इसके बाद मानव ने चन्द्रमा की गति और उसके आकार परिवर्तन क्रम को देखकर समय की दूसरी इकाई निर्धारित की होगी। वह इकाई मास के रूप में प्रसिद्ध हुई। इसी प्रकार ऋतु, वर्ष की कल्पना की गई। उस समय तारागण ही ज्ञान के प्रकाश के माध्यम थे, अतः मानव सूक्ष्मता से निरीक्षण करने लगा। इसी निरीक्षण के परिणामस्वरूप राशि ग्रह नक्षत्रों से परिचय हुआ। अब मानव किस समय, किस नक्षत्र, ग्रह, राशि और ऋतु का कैसा प्रभाव होता , यह बताने में सफल हुआ है। उनका यही ज्ञान ज्योतिष की संज्ञा से अभिहित हुआ। बाद में ज्योतिष को 'एक वेदांग' के रूप में स्वीकार किया गया है।

भारतीय विद्याओं में ज्योतिष का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। ज्योतिष को वेद की आँख बताया गया है। ईस्वी सन् की छठी शताब्दी में वराहमिहिर ने ज्योतिष को तीन स्कन्धों में विभाजित किया है –

(1) तन्त्र या गणित स्कन्ध – इसमें आजकल का अंक गणित (अरिथ मैट्रिक) बीजगणित (**अलजबरा**), रेखागणित (ज्योमैट्री), त्रिकोणमिति (ट्रिगनोमेट्री) आदि विद्यायें भी आती हैं।

(2) दूसर स्कन्ध है संहिता स्कन्ध – इसमें प्राकृत घटनाओं के कारण जानने का **प्रयास किया जाता**

कथ्यगत अवान्तर विषयों का अनुशीलन

ज्योतिष गणित :-

ज्योतिष वस्तुतः सूचनाओं एवं सम्भावनाओं का शास्त्र है। ज्योतिष भविष्य में होने वाली दुर्घटनाओं एवं कठिनाइयों के प्रति मनुष्य को सावधान कर सकता है।

ज्योतिष भाग्यवाद नही है, बल्कि पुरुषार्थवाद या कर्मवाद की युक्ति संगत व्याख्या है। ज्योतिष सूर्य, चन्द्रमा पर आधारित विज्ञान है। सौरमण्डल में बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, गुरू, शनि, अरुण, वरुण, यम, कुबेर, या इन्द्र ग्रहों ने सूर्य के चारों ओर अपनी कक्षायें निर्धारित की हैं, वह ही संकर्षण देव के 11 समूह हैं। ज्योतिष में सूर्य चन्द्र का महत्व अधिक है, इसमें शिव का महत्व सर्वोपरि है। उन्हें कल्पान्तकारी संहारकर्ता, शंकर महादेव, नमोगति, नक्षत्रमाली, अनिवारित, लिंगाध्यक्ष, नागभूषण, नित्य नृत्य आदि रूपों में देखा गया है।

काल विज्ञान अर्थात् समय विश्लेषण के रूप में ज्योतिष की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इसका कोई निश्चित सूत्र नहीं है, पर सम्भावनाओं पर विचार से प्रतीत होता कि मानव ने अपने वनवास काल में जाने–अनजाने इस विद्या के सिद्धान्तों की स्थापना कर ली। सर्वप्रथम रात और दिन का क्रम मनुष्य ने इसी को समय की इकाई निश्चित किया होगा। एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक का समय अहोरात्र कहा जाता है। ज्योतिष को जन्म देने वाला तथ्य यही अहोरात्र प्रतीत होता है। इसके बाद मानव ने चन्द्रमा की गति और उसके आकार परिवर्तन क्रम को देखकर समय की दूसरी इकाई निर्धारित की होगी। वह इकाई मास के रूप में प्रसिद्ध हुई। इसी प्रकार ऋतु, वर्ष की कल्पना की गई। उस समय तारागण ही ज्ञान के प्रकाश के माध्यम थे, अतः मानव सूक्ष्मता से निरीक्षण करने लगा। इसी निरीक्षण के परिणामस्वरूप राशि ग्रह नक्षत्रों से परिचय हुआ। अब मानव किस समय, किस नक्षत्र, ग्रह, राशि और ऋतु का कैसा प्रभाव होता , यह बताने में सफल हुआ है। उनका यही ज्ञान ज्योतिष की संज्ञा से अभिहित हुआ। बाद में ज्योतिष को 'एक वेदांग' के रूप में स्वीकार किया गया है।

भारतीय विद्याओं में ज्योतिष का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। ज्योतिष को वेद की आँख बताया गया है। ईस्वी सन् की छठी शताब्दी में वराहमिहिर ने ज्योतिष को तीन स्कन्धों में विभाजित किया है –

(1) तन्त्र या गणित स्कन्ध – इसमें आजकल का अंक गणित (अरिथ मैट्रिक) बीजगणित (अलजबरा), रेखागणित (ज्योमैट्री), त्रिकोणमिति (ट्रिगनोमेट्री) आदि विद्यायें भी आती हैं।

(2) दूसर स्कन्ध है संहिता स्कन्ध – इसमें प्राकृत घटनाओं के कारण जानने का प्रयास किया जाता

है। वर्षा कब होती है, क्यों होती है?, चन्द्रमा के चारों ओर परिधि क्यों पड़ती है? भूकम्प आने के कारण क्या है? इत्यादि बातों का आरम्भिक ज्ञान प्राप्त होता है। मकान, गाय, भैंस, घोड़ा, हाथी, कम्बल, खड़ग आदि के स्वभाव और लक्षण पर विचार किया जाता है। अच्छे पुरुष और अच्छे स्त्री की क्या पहचान है? कौन से लक्षण शुभ हैं, कौन से अशुभ, इस बात पर विचार किया जाता था। खंजन, श्रृगाली, कुत्ता, चामर, आसन शैय्या आदि के शुभाशुभ पर विचार किया जाता था। मैट्रिओलॉजी, जियोलॉजी, कृषिविज्ञान आदि के बीज मिल जाते हैं।

(3) तृतीय स्कन्ध को होरा स्कन्ध कहा जाता है अर्थात् ग्रह नक्षत्रों की विभिन्न स्थितियों से मनुष्य की भाग्य गणना। आज कल एस्ट्रोलॉजी इसी को कहते हैं।

अतः स्पष्ट है, कि ज्योतिष भविष्य के बारे में, शुभाशुभ आदि का ज्ञान ग्रह नक्षत्रों के आधार पर देता है। कहीं जाना हो, आना हो, खरीद विक्री, व्रत उपवास, त्यौहार आदि ज्योतिष के बिना नहीं हो सकते। संक्षेप में कह सकते हैं, कि ज्योतिष मूल रूप से ब्राह्मण्ड के ग्रहों पर आधारित हैं, और इनमें जनित प्रभाव (ग्रह उपग्रह से) जन जीवन पर क्या पडता है इसका आंकलन है।

आध्यात्म :-

आध्यात्म की एक छोटी सी किरण मात्र से मानव जीवन कमल की तरह खिल उठता है, उसकी सारी विकृतियाँ एक क्षण में विलीन हो जाती हैं, हृदय में प्रसन्नता, सदाचार, निर्भयता, उदारता, करुणा, की लहरें उठती हैं। आध्यात्मिक व्यक्ति का तन मन शरद ज्योत्सना की भाँति शीतल हो उठता है। न केवल वह ही शीतल हो उठता है अपितु उसके सम्पर्क में आकर ताप संतप्त व्यक्ति भी शीतल हो उठता है।

आध्यात्म का सिलसिला वहाँ से प्रारम्भ होता, जहाँ मनुष्य उच्च चेतन का द्वार खटखटाता है, अन्तःकरण के परिष्कार, परिमार्जन में विरत होता है। इस प्रयास में जिसे जितनी सफलता मिलती है, वह उतनी चुम्बकीय क्षमता अर्जित कर लेता है और सांसारिक सफलताओं की सिद्धि आत्मिक प्रगति को प्रचुर परिणाम में हस्तगत करता है। आत्मिकी इसी उच्च स्तरीय प्रगति पथ पर बढ़ चलने एवं अभीष्ट सफलता प्राप्त करने का पथ प्रशस्त करती हैं, इसी प्रयास में निरत रहकर देवत्व की उसके साथ जुड़ी हुई अगणित विशिष्टताओं की उपलब्धि सम्भव होती है।

आध्यात्म को Science of Soul कहा जाता है। हमारा अपना मैग्नेट

सुरक्षित करने की कला का नाम आध्यात्म हैं। अपना जब मैग्नेट खीचता है, तो ये बाहरी चीजें खिंचती हैं। जब प्लांट खींचते हैं, तो बादल बरसते हैं। बादलों का मैग्नेट नहीं है। पेड़ों का मैग्नेट ही उन्हें खींचता है। खजाने जब पैदा होते हैं तो इसके अन्दर जो लोहा होता, वो दूर–दूर तक खींचता रहता है। खजाने में अपने पास जमा कर लेता है। आध्यात्मिक शक्तियों को आदमी की कशिश खीचती है, जो सिद्धियाँ व्यक्ति चाहता है, उसे कशिश खींचती हैं। गुलाब का फूल जब खिलता है, तो भँवरों को खींचता है, तितलियों को खींचता है और शहद की मक्खियों को खींचता है। आदमी जब खिलता है, देवताओं को खींचता है, भगवान को खींचता है, पड़ौसियों को खींचता है, समाज को खींचता है, अपने अन्तरंग में दबी हुई क्षमताओं को खींचता है, सारी की सारी चीजें खिंचती हुई आ जाती है, आदमी सम्पन्न हो जाता है, समर्थ हो जाता है। ये किसके ऊपर टिका हुआ है, अपना व्यक्तित्व, अपने आपको सुधार लेने के ऊपर। यही हैं आध्यात्म के सिद्धान्त।

आध्यात्मिक ज्ञान सूर्य मानों उन बादलों को, अज्ञान, जन्य भ्रान्तियों को अपने प्रकाश से छाँट देता है, नष्ट कर देता है। ऐसा व्यक्ति स्वतः आत्मपरायण हो जाता है। वह परम चैतन्य अवस्था को प्राप्त हो जाता, फिर इस लौकिक जगत और उसकी क्रियाएँ उसे वासनाओं की बेड़ियों में नहीं जकड़ पाती हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है, कि आध्यात्म, आत्मिक चिन्तन का नाम है, जो सर्वथा अन्तर्मुखी चेतना का निरूपण करता है।

दर्शन :–

मानव जीवन तथा दर्शन दोनों का उद्देश्य दुःख की चरम निवृत्ति तथा सुख की प्राप्ति है। अतः दुःख की चरम निवृत्ति तथा सुख की प्राप्ति में कारणभूत विचारों को दार्शनिक विचार कहा जायेगा।

दर्शन मनुष्य के चिन्तन की उच्चतम सीमा है। दार्शनिक वैचारिक संगति दर्शन है, जिसमें लौकिक अलौकिक जीवन जगत का संश्लेष्ट होता है। सत्य की खोज करना दर्शन का विषय है। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि का उद्गम स्थान कौन सा है? क्या मानव जीवन व प्रकृति के परे भी जीवन या लोक है, इत्यादि बातों की खोज द्वारा दर्शन उस चिरन्तन सत्य का उद्घाटन करना चाहता है। दर्शन विशेष रूप से उचित तथ्यों के व्यवस्थित विचार, उनकी व्याख्याओं एवं जीवन की

समस्याओं की उलझनों से सम्बन्धित है। दर्शन का उद्देश्य भी सदैव से प्रकृति व मानव के रहस्यों का उद्घाटित करना रहा है।

या यह कह सकते हैं कि दर्शन एक ऐसा विषय है, जिसके अन्तर्गत ईश्वर, ब्रह्म, जीव, आत्मा, परमात्मा आदि के सम्बन्ध में अन्तिम ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है। आधुनिक दर्शन उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त सम्पूर्ण मानव जाति, उसके द्वारा विकसित ज्ञान विज्ञान, उसकी वास्तविक समस्याओं तथा भौतिक एवं अभौतिक उपलब्धियों की तार्किक व्यवस्थित एवं क्रमवद्ध विवेचनाकरता है, अतः दर्शन द्वारा लौकिक एवं पारलौकिक भौतिक तथा आध्यात्मिक, प्राकृतिक तथा अति प्राकृतिक मानवीय एवं अतिमानवीय आदि सभी विषयों पर गम्भीर चिन्तन किया जाता है।

इस प्रकार दर्शन वस्तुओं, प्रकृति एवं मनुष्य उसके उद्गम व लक्ष्य के प्रतिवीक्षण का एक तरीका है, जीवन के विषय में एक शक्तिशाली विश्वास है, जो उसके धारण करने वाले को अन्य से पृथक करता है। यह विश्वास प्रधान सामाजिक आदर्शों, आर्थिक परिस्थितियों तथा राजनैतिक स्थिति एवं व्यक्तिगत अनुभवों तथा नेताओं के विचार एवं व्यक्ति के निजी स्वभाव को भी प्रकट करता एवं उनके द्वारा प्रभावित होता है। इसके अन्तर्गत वह आदर्श आते हैं, जिनका पालन व्यक्ति जीवन में करता है, वे मापदण्ड या मूल्य आते है, जिन्हें वह प्राप्त करना चाहता है।

अपने विस्तृत अर्थ एवं क्षेत्र के कारण दर्शन का सम्बन्ध केवल आध्यात्मिक दर्शन एवं नैतिक दर्शन तक सीमित नहीं बल्कि सामाजिक, राजनैतिक दर्शन, अर्थशास्त्री दर्शन, व्यक्तिगत दर्शन, शिक्षा दर्शन, आदि से सम्बन्धित है। उपर्युक्त शब्दों से स्पष्ट है, कि दर्शन एक अति विस्तृत विषय है, उसे किसी विषय विशेष के अध्ययन की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता है, बल्कि यह प्रत्येक विषय की तार्किक क्रमवद्ध तथा व्यवस्थित विवेचना का उसके सम्बन्ध में अन्तिम ज्ञान प्राप्त करने की अनवरत चेष्टा करता है।

या यह भी कह सकते हैं कि दर्शन द्वारा आत्मा से सम्बन्धित ज्ञान, ईश्वर सम्बन्धित ज्ञान, सत्ताशास्त्र सम्बन्धित ज्ञान, सृष्टिशास्त्र, नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

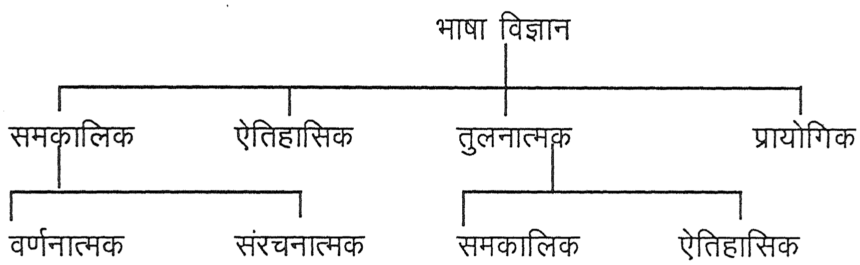
भाषा विज्ञान :–

मानव समाज में रहने के कारण समाज में रहने वाले व्यक्तियों के साथ विचार विनिमय करता रहता है। कभी प्राणी स्फुट शब्दों या वाक्यों द्वारा अपने को प्रकट करते हैं, तो

कभी केवल सिर हिलाकर ही काम चला लेते हैं। विचार विनिमय के साधन को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है – प्रथम वर्ग में वह साधन आते हैं जिनके द्वारा अभिव्यक्त विचारों का ग्रहण स्पर्श द्वारा होता है, जैसे – चोरों का हाथ दबाना। द्वितीय वर्ग में वह साधन आते हैं, जिनके द्वारा व्यक्त विचारों को समझने के लिए आँख की आवश्यकता होती है जैसे –हल्दी बाँटना, स्काउटों का झण्डी दिखाना आदि। तृतीय वर्ग में सर्वाधिक प्रचलित साधन आते हैं, जिनके द्वारा व्यक्त भावों का ग्रहण कान द्वारा होता है, इसका सम्बन्ध ध्वनि से होता है – करतल ध्वनि, चुटकी बजाना आदि विचार विनिमय के साधन हैं। तीनों को विचार विनिमय का साधन कहते हैं।

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को ही भाषा विज्ञान कहते हैं। वैज्ञानिक अध्ययन से तात्पर्य सम्यक रूप से भाषा के बाहरी एवं भीतरी रूप एवं विकास के अध्ययन से है।

भाषा विज्ञान के कई प्रकार हैं जो इस प्रकार हैं –



भाषा विज्ञान के अध्ययन के दो रूप हैं–

1. एक तो भाषाओं का वर्णनात्मक, तुलनात्मक, ऐतिहासिक या प्रायोगिक अध्ययन।

2. दूसरे उस अध्ययन के आधार पर भाषा के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्तों की खोज और निर्धारण। इन दोनों रूपों को क्रम से व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक रूप कहा जा सकता है। व्यावहारिक रूप में भाषा विशेष का सिद्धान्तों के आधार पर अध्ययन होता है। सैद्धान्तिक रूप में भाषा विषयक सिद्धान्तों का अध्ययन एवं निर्धारण होता है।

अतः जिस विज्ञान के अन्तर्गत समकालिक ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं प्रायोगिक अध्ययन के सहारे भाषा की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति, विकास आदि की सम्यक व्याख्या करते हुए इन सभी के विषय के सिद्धान्तों का निर्धारण हो, उसे भाषा विज्ञान कहते हैं।

भाषा विज्ञान को यदि सैद्धान्तिक दृष्टि से ही न देखा जाये तो कहा जा सकता है कि –"भाषा विज्ञान वह विज्ञान है, जिसमें भाषा विशिष्ट कई और सामान्य का समकालिक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं प्रायोगिक दृष्टि से अध्ययन एवं तद्विषयक सिद्धान्तों का निर्धारण किया जाता है।"

भाषा विज्ञान हेतु Comparative Grammer, Comparative Philology, Glotalogy, Philology, Linguistics, आधुनिक काल में भारत में तुलनात्मक, भाषाशास्त्र, भाषाविज्ञान, भाषाविचार, शब्दशास्त्र, भाषा तत्व, भाषा लोचन आदि नाम प्रयोग किये जाते हैं।

पौराणिक वृत्ति :-

वेदों के उपरान्त वैदिक काल में 18 पुराणों की भी रचना हुई, जिनमें विभिद कथाओं के माध्यम से भारतीय उच्च आदर्शों की स्थापना हेतु जीवन शैली को प्रस्तुत किया गया, तथा अनेक चरित्रों के माध्यम से जीवन मूल्यों की स्थापना हेतु विभिन्न कथाओं के माध्यम से मार्ग निर्देशन किया गया है। हमारी सांस्कृतिक विरासत को संजोये रखने में और पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ने में इन पौराणिक कथाओं का महत्वपूर्ण योगदान है।

इतिहास :-

मानव एक मनोसामाजिक प्राणी होने के कारण दिन प्रतिदिन नवीनतम कार्यों को करता रहता है। मानव प्राचीनकाल में कैसा था? कैसे–कैसे मानव का विकास हुआ? तथा क्या–क्या परिवर्तन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्रों में हुये? इन समस्त बातों का ज्ञान इतिहास के द्वारा ही होता है। क्योंकि मानव जिस प्रकार का वर्तमान में है, वह पहले नहीं था। वर्तमान समय तक जो भी अतीत में घटनायें घटित हुई हैं, उनका क्रमबद्ध अध्ययन इतिहास ही करता है।

इतिहास शब्द संस्कृति के तीन शब्दों से मिलकर बना है – इति+ह+आस अर्थात् अतीत में जो इस तरह का था अर्थात् इतिहास में घटित घटनाओं का विवरण है। इतिहास अंग्रेजी History शब्द का हिन्दी रूपान्तर है, जो कि ग्रीक भाषा के Historia शब्द से बना है, जिसका अर्थ है– वास्तविक रूप से घटित होने वाले तथ्य।

समाजशास्त्री के अनुसार इतिहास रचनात्मक कार्यों में योग प्रदान करता है। क्रोमवेल तो इतिहास को परमात्मा का अंश मानते हैं।

इतिहास किसी भी विषय के अध्ययन के लिए परमावश्यक है। इतिहास को जीवन के अनुभवों का कोष माना गया है, उसकी शिक्षा प्रत्येक युवक के लिए लाभप्रद है। समय के अनुसार प्रत्येक वस्तु का मानदण्ड बदलता रहता है। प्रारम्भ में इतिहास केवल राजाओं के चरित्र का लेखा जोखा होता था, अतः लोग इतिहास तथा राजा रानी की कथाओं में कोई भेद नहीं समझते थे। कालान्तर में इतिहास में सामजिक जीवन के विकास पर बल दिया जाने लगा, आधुनिक काल में

इतिहास को समाजशास्त्र का एक अंग मानकर उसे बहुत महत्त्व दिया जाने लगा।

हेनरी जानसन गत घटनाओं के वर्णन को ही इतिहास मानते हैं, इसमें भूतकाल में घटित सभी घटनायें आती हैं। एक प्रकार से इतिहास राष्ट्र की स्मरण शक्ति है। क्योंकि मानव को जातिगत गरिमा का बोध इतिहास से ही होता है, और इससे उन्हें उत्थान के पथ पर चलने की प्रेरणा मिलती है। इतिहास को कलैण्डर भी कहा जा सकता है, जिसमें हमें भूतकाल में जो भी घटनायें घटित होती हैं, उनकी तिथि सन् आदि की जानकारी होती है, किन्तु यह साधारण कलैण्डरों से भिन्न हैं, क्योंकि यह घटनाओं की तिथियाँ बदलने के साथ–साथ उनके कारणों एवं परिणामों पर भी प्रकाश डालता है।

इतिहास में किस शासक ने किस सन् में अधिकार किया, कब तक शासन किया, कैसी शासन व्यवस्था थी। किस–किस से युद्ध हुये आदि प्रश्नों का उत्तर ज्ञात होता है। इतिहास के अध्ययन के द्वारा शासक की दुष्नीति के परिणाम से भी परिचित होते हैं, जिससे कि आगे जो भी शासक उस नीति को अपनाये तो उसके परिणाम को भी सोचेगा।

आधुनिक युग में इतिहास को मानव प्रगति या मानव सभ्यता के विकास का विवरण माना जाता है। इस प्रकार इतिहास का रूप राजतंत्रीय के स्थान पर प्रजातंत्रीय हो गया है। इतिहास को मानव जाति के भूतकाल का वैज्ञानिक लेखा जोखा भी कहा जा सकता है। अन्त में हम इतिहास को इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं कि –''संसार की विभिन्न समाजों की सभ्यता के विकास के निष्पक्ष एवं क्रमबद्ध विवेचनात्मक विवरण ही इतिहास है।''

राजनीति :–

राजनीति की प्रकृति सदैव परिवर्तनशील रही है, राजनीति रूपी घोड़े की लगाम किसी एक निश्चित सिद्धान्त के अन्तर्गत नहीं है, अतः विभिन्न दार्शनिकों ने राजनीति को अपने–अपने ढंग से वर्णित किया है। प्राचीन यूनानी जगत के राजनीतिक दार्शनिकों ने राजनीति को एक सर्वव्यापी विषय के रूप में स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि से राजनीति एक सर्वोच्च विज्ञान है, जिसमें राजनीतिक मानव समाज, राज्य, नैतिकता इत्यादि का सामूहिक अध्ययन होता है। अरस्तु एवं प्लेटो ने राजनीति के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया, वह आधुनिक राजनीतिक विचारकों के दृष्टिकोंण से भिन्न है। अरस्तु ने अपने ग्रन्थ का नाम Politics रखा, जो यूनानी शब्द पॉलिस (Polis) से बना, जिसका अर्थ है –

नगर, राज्य। उस समय नगर, राज्य के हर पहलू से सम्बन्धित विषय को राजनीति कहा गया है। प्लेटो एवं अरस्तु जैसे दार्शनिकों ने राजनीति के आदर्शवादी स्वरूप को स्वीकार किया था। यूनानियों के लिए 'राजनीति' शब्द के साथ राज्य का अध्ययन तथा वह सब कुछ जुड़ा था, जिसका सम्बन्ध तत्कालीन नागरिक जीवन के साथ होता था। अरस्तु के अनुसार राजनीति, कानूनी तौर पर यह स्पष्ट करती है, कि हमें क्या करना चाहिए, और क्या नहीं करना चाहिए। अरस्तु के बाद जैलीनेक, सिजविक, लॉस्की, विल्सन आदि लेखकों का भी विचार है, कि राज्य और सरकार से सम्बन्धित समस्त विषय सामग्री 'राजनीति' के अन्तर्गत आ जाती है।

यूनानी दार्शनिकों की तरह मध्ययुग के इन आदर्शवादी दार्शनिकों ने भी राजनीति को सार्वभौम एवं नैतिकतावादी माना है, और कहा कि राजनीति आदर्श एवं सर्वोच्च राज्य का पर्यायवाची है, जो मानव की नैतिक स्वतंत्रता की सहायता करती है।

20वीं शताब्दी में राजनीति शब्द का प्रयोग इतने विस्तृत अर्थ में नहीं किया गया था, आज पूर्णतः इसका आधार व्यावहारिक हो गया है। आज राजनीति यह स्पष्ट करती है, कि निर्वाचन, नामजदगी तथा किसी पद पर व्यक्ति विशेष की नियुक्ति कैसे हो जाती है, अर्थात् व्यावहारिक जीवन के रणकौशल में सफलता पाना ही राजनीति की एक मात्र सक्रियता है। राजनीति समय, परिस्थिति, देश और प्रदेश के अनुसार अपना स्परूप बदलती है।

राजनीति को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है –

1. सैद्धान्तिक राजनीति
2. प्रयोगात्मक राजनीति

सैद्धान्तिक राजनीति के अन्तर्गत राज्य के सिद्धान्त (उत्पत्ति, शासन रूपों का वर्गीकरण और प्रभुसत्ता), सरकार के सिद्धान्त (संस्थानों के प्रकार, कार्यपालिका विभाग, व्यवस्थापिका विभाग, कानून का क्षेत्र और उसकी सीमाएँ), विधि निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्त (विधि निर्माण के उद्देश्य और विधि निर्माण की प्रक्रिया, विधि का स्वरूप और स्वीकृति, व्यवस्था सम्बन्धी विवरण), कृत्रिम व्यक्ति के रूप में राज्य का सिद्धान्त (दूसरे राज्यों और मानवीय सिद्धान्तों से सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय कानून) आते हैं।

प्रयोगात्मक राजनीति के अन्तर्गत राज्य (सरकार के वर्तमान रूप), सरकार (संवैधानिक कानून और परम्परायें संसदीय प्रशासन, सेना, पुलिस, मुद्रा चलन, बजट और

व्यापार), कानून और उनका निर्माण (विधि निर्माण की प्रणाली, न्यायालय और न्याय व्यवस्था, न्याय सम्बन्धी दृष्टान्त तथा न्यायाधिकरण) व्यक्ति के रूप में राज्य (कूटनीति, युद्ध और शक्ति सम्मेलन, सन्धियाँ और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन) आते हैं।

आजकल राजनीति का अभिप्राय शासन के दिन–प्रतिदिन के कार्यों और नीतियों से होता है, राज्य के मौलिक सिद्धान्तों से नहीं। जहाँ तक हमारे अध्ययन विषय का सम्बन्ध है, इसके अन्तर्गत दिन–प्रतिदिन की राजनीति सम्बन्धी क्रियाओं का तो गौण रूप से ही अध्ययन किया जाता है। प्रमुख रूप से तो राज्य की उत्पत्ति, उसका विकास, प्रकृति और उद्देश्य आदि शाश्वत समस्याओं एवं सिद्धान्तों का ही क्रमवद्ध अध्ययन किया जाता है।

धर्म :–

मानव जीवन के मुख्य रूप से तीन पक्ष होते हैं – प्राकृतिक सामाजिक तथा आध्यात्मिक। अपने इन तीनों पक्षों के उन्नयन के लिए मानव ने अपने अनुभव के आधार पर कुछ सिद्धान्त एवं नियम निश्चित किये हैं। इनमें से आध्यात्मिक सिद्धान्तों एवं नियमों का पालन करना धर्म कहलाता है।

कुछ विद्वान आत्मा सम्बन्धी ज्ञान (दर्शन) को धर्म मानते हैं, और कुछ आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति हेतु की जाने वाली क्रियाओं को धर्म मानते हैं। हमारी दृष्टि से ये दोनों धर्म के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष हैं, एक से मनुष्य के आध्यात्मिक विचारों का बोध होता है, दूसरे से आध्यात्मिक आचरण का।

धर्म बहती नदी का नीर है। बहती नदी का नीर जैसे साफ व कीटाणु रहित होता है, उसी प्रकार धर्म है। धर्म मानव मात्र को उचित आहार विहार एवं उचित आचार–विचार की शिक्षा देता है। उन्हें उनके अनुपालन की ओर प्रवृत्त करता है। उचित आहार–विहार से उनका प्राकृतिक विकास होता है, उचित आचार विचार से उनका सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास होता है। बस अन्तर इतना होता है कि धर्म केवल उन सिद्धान्तों एवं नियमों के ज्ञान एवं उन पर आधारित आचरण को स्वीकृति देता है, जिनसे अन्ततोगत्वा मनुष्य का आध्यात्मिक विकास होता है। वह प्राकृतिक एवं सामाजिक विकास को साधन मानता है, और आध्यात्मिक विकास को साध्य। आध्यात्मिक सिद्धान्त एवं नियमों को प्रायः लोग ईश्वरीय या विधान अथवा दैवीय आदेश मानते हैं, अतः धर्म के सम्बन्ध में कह

सकते हैं, कि धर्म से तात्पर्य उन आध्यात्मिक सिद्धान्तों, नियमों एवं आचार–विचार से है, जिनको धारण करने से मनुष्य का प्राकृतिक, सामाजिक एवं अन्ततोगत्वा आध्यात्मिक विकास होता है।

हिन्दू धर्म ग्रन्थों में 'धर्म' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। सामान्य रूप से यह कहा जाता है कि 'धर्म' शब्द का सम्बन्ध कर्तव्य, स्वभाव, करने योग्य कार्यों व्यक्ति के आन्तरिक गुण तथा पवित्रता आदि से है।

धर्म के उद्देश्य इस प्रकार स्पष्ट किये जा सकते हैं – (1) अभ्युदय (2) निःश्रेयस। अभ्युदय का अर्थ है कि धर्म वह तत्व है, जो लौकिक सुख, समृद्धि और सम्पन्नता में वृद्धि करता है। निःश्रेयस का अर्थ है कि पारलौकिक सफलता या मोक्ष की प्राप्ति। स्पष्ट है कि धर्म का सम्बन्ध पारलौकिक जीवन से होने के साथ लौकिक जीवन से भी है।

धर्म के वास्तविक स्वरूपों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं – (1) सामान्य धर्म (2) विशिष्ट धर्म (3) आपद्धर्म।

सामान्य धर्म का अर्थ धर्म के उस रूप से है, जो सभी के द्वारा अनुसरणीय है। व्यक्ति चाहे निम्न वर्ण का हो या उच्च वर्ण का, आयु में छोटा हो या बड़ा, धनी हो या निर्धन, स्त्री हो या पुरुष, राजा हो या प्रजा, सामान्य धर्म का पालन करना सभी का कर्तव्य है। यह सम्पूर्ण मानव जाति का धर्म है। सामान्य धर्म का सम्बन्ध अनेक नैतिक नियमों से है और नैतिक नियम सम्पूर्ण मानव जाति के लिए समान होते हैं, इसलिये सामान्य धर्म को 'मानव धर्म' भी कहा जाता है। सामान्य धर्म इस सत्य पर बल देता है कि सभी धर्मों का लक्ष्य एक ही है। इसका उद्देश्य मानव में सद्गुणों का विकास करना तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति करना है, कि 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।' सामान्य धर्म के 10 लक्षण मनुस्मति में बताये गये हैं – (1) धृति (2) क्षमा (3) काम लोभ का संयम (4) अस्तेय (5) पवित्रता या शुचिता (6) इन्द्रिय–निग्रह (7) धी या वुद्धि (8) विद्या (9) सत्य (10) अक्रोध।

समय, परिस्थिति और स्थान की भिन्नता के अनुसार सभी व्यक्तियों के कर्तव्य समान नहीं होते हैं। विभिन्न व्यक्तियों के गुण, स्वभाव, व्यवहार, आयु और सामाजिक पद में भिन्नता होती है। ऐसी स्थिति में सभी व्यक्तियों का धर्म अथवा कर्तव्य एक दूसरे से कुछ भिन्न होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के धर्म अपने–अपने वर्ण के अनुसार हैं, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यासी के धर्म एक दूसरे से पृथक हैं, स्त्री का धर्म पुरुष से भिन्न हैं, गुरू, शिष्य के धर्म में भिन्नता है, पिता, पुत्र, मित्र के धर्म में भिन्नता होती है। इस धर्म की विशेषता यह

है कि व्यक्ति का विशिष्ट धर्म चाहे उसे नीची स्थिति प्रदान करता हो या ऊँची, लेकिन अपने धर्म का पालन करने से ही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी होता है।

आपत्तिकाल में सामान्य विशेष धर्म में कुछ परिवर्तन कर लेने पर भी व्यक्ति को इसका कोई दोष नहीं लगता, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में रोग, शोक, विपत्ति और धर्म संकट की परिस्थितियाँ अक्सर प्राप्त होती रहती है। इन परिस्थितियों में व्यक्ति का यह कर्तव्य है, कि वह अपने सामान्य अथवा विशेष धर्म के पालन में इतना संशोधन कर ले, जिससे अधिक महत्वपूर्ण धर्म की रक्षा हो सके। आपद्धर्म का निर्वाह उतने ही अंश में किया जाना चाहिए जितने अंश में विपत्ति व्यक्ति पर हो। इस अर्थ में आपद्धर्म एक अस्थायी धर्म है।

इस प्रकार कह सकते हैं, कि धर्म के द्वारा व्यक्तियों को समाज के द्वारा मान्य नियमों, आदर्शों को मानते हुये आचरण करना चाहिए। धर्म के मूल में आचरण की ही बात प्रमुख है। प्रत्येक व्यक्ति का अलग–अलग धर्म है। उसको उसी के अनुरूप आचरण करना होता है। क्योंकि धर्म मानव के आत्मोन्नयन का साधन है। मानव धर्म के द्वारा कुछ उच्च आदर्शों से अनुप्राणित होकर अपने जीवन की सार्थकता के लिए किया जाने वाला विवेकपूर्ण आचरण ही धर्म है। यदि व्यक्ति सद्आचरण करता है तो निश्चित रूप से लोक का कल्याण होगा ही। मनुस्मृति में कहा गया है, कि 'धर्म वह है जो जानकार, सच्चे रागद्वैषहीन व्यक्तियों द्वारा सेवित या आचरित होता है।''

धर्म अनुकूल आचरण, मानव समाज को उन्नति की ओर ले जाने वाला है, स्वार्थ से ऊपर उठाकर मानव मात्र के सुख दुःख में सहायक है तथा व्यक्ति के पारिवारिक, आर्थिक सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन को एक निश्चित दिशा देता है। धर्म जीवन को दैविक शक्तियों की ओर स्वभाविक निर्देश हैं, उस आदि विश्वास की ओर जिसके अनुसार ये शक्तियाँ अदृश्य होने पर भी निस्सन्दिग्ध रूप में है। यह अनेकों दृश्य कार्यों के कारण हैं, उन्हें सामान्य व्यावहारिक ज्ञान का अंग माना जाता है। धर्म का सबसे अधिक स्पष्ट भाग, जीवन का इन शक्तियों की ओर व्यावहारिक निर्देश है, जो कर्मकाण्ड और आचार में प्रकट होता है।

संस्कृति :–

मानव समाज का जितना हम अध्ययन करते हैं, उतना ही यह पाते हैं, कि मानव की सबसे बड़ी सम्पत्ति संस्कृति है। विकास के अनेक स्तरों से गुजरते हुये आज का मानव यदि इतना सभ्य और प्रगतिशील बन सका है, तो इसका एक मात्र कारण उसकी संस्कृति है। संस्कृति

के रूप में ही मानव ने तरह–तरह के विचारों, व्यवहार के तरीकों तथा आविष्कारों के द्वारा एक अपूर्व कुशलता प्राप्त की है। इसी कारण यह कहा जाता है, कि यदि मानव से उसकी संस्कृति छीन ली जाये तो जो कुछ भी शेष रहेगा, वह मनुष्य नहीं बल्कि एक प्रकार का नर वानर होगा। साधारणतया संस्कृति का अभिप्राय केवल शिष्टाचार के ढंगों अथवा विनम्रता के गुण से समझ लिया जाता है। वास्तव में ऐसा नहीं है।

संस्कृति मानव की धरोहर है। अपने आदिकाल में मानव पशुवत जीवन व्यतीत करता था। शनैः शनैः अपने मस्तिष्क एवं बुद्धि के प्रयोग से अपने जीवन को सरल एवं सुखमय बनाने हेतु रहन–सहन एवं खान–पान की विधियाँ विकसित की, विचारों के आदान–प्रदान हेतु भाषा का विकास किया एवं अपने प्रयोग की अनेक वस्तुओं का निर्माण किया। संसार के भिन्न–भिन्न भागों में बसे मनुष्यों ने अपनी–अपनी रहन–सहन, खान–पान की विधियाँ विकसित की। अपनी–अपनी भाषाओं का विकास किया, एवं अनेक अन्य वस्तुओं का निर्माण किया। कालान्तर से उन्होंने व्यवहार प्रतिमान, रीतिरिवाज, कला कौशल, संगीत नृत्य, भाषा साहित्य, धर्म दर्शन, आदर्श विश्वास एवं मूल्य विकसित किये हैं। समाजशास्त्रीय इसे संस्कृति एवं इतिहासकार सभ्यता कहते हैं।

क्रोबर ने संस्कृति की व्यापकता को स्पष्ट करते हुये लिखा है –"संस्कृति एक व्यवस्था है, जिसमें हम जीवन के अनेक प्रतिमानों, व्यवहारों के तरीकों, भौतिक और अभौतिक प्रतीकों, परम्पराओं, विचारों, सामाजिक मूल्यों, मानवीय क्रियाओं तथा आविष्कारों को सम्मिलित करते हैं।"[1]

सामान्यतः बोलचाल की भाषा में संस्कृति का तात्पर्य केवल शिष्टाचार, संगीत, कला, मानवीय गुणों तथा चरित्र आदि से समझ लिया जाता है। इतिहासकार संस्कृति के अर्थ को धार्मिक कलात्मक, और साहित्यिक उपलब्धियों के रूप में स्पष्ट करते हैं। नीतिशास्त्र में संस्कृति शब्द का प्रयोग नैतिक गुणों के सन्दर्भ में किया जाता है। अनेक विद्वान यह मानते हैं, कि व्यक्ति के जीवन का परिष्कार करने अथवा उसे एक सामाजिक प्राणी बनाने के लिए जितने भी परम्पराओं, नियमों और सामाजिक मूल्यों का विकास हुआ है, वे सभी संस्कृति के अंग हैं। वास्तव में, ऐसे सभी विचार संस्कृति की अवधारण\ को वैज्ञानिक रूप से स्पष्ट नहीं करते। संस्कृति का क्षेत्र उससे कहीं अधिक व्यापक है, जैसा कि सामान्य रूप से समझ लिया जाता है। मानवशास्त्रीय द्वारा भी संस्कृति के सन्दर्भ में विचार

1- A.L. Krober and Kluckhohn, Culture : A critical Review of Concepts and Definitions, P. 133

दिये गये हैं। मानवशास्त्रीय विचार से संस्कृति सीखे हुये व्यवहार प्रतिमानों की वह सम्पूर्णता है, जो किसी समाज के सदस्यों की विशेषता होती है, तथा जो जैवकीय विरासत का परिणाम नहीं होती। इससे स्पष्ट होता है, कि हम वंशानुक्रम द्वारा जिन जैविकीय अथवा मानसिक विशेषताओं को प्राप्त करते हैं, उनका संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। दूसरी ओर, सामाजिक सीख की प्रक्रिया के द्वारा हम विभिन्न प्रकार के जितने भी व्यवहार करते हैं, वे सभी संस्कृति का अंग होते हैं। इसका तात्पर्य यह होता है कि संस्कृति हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति का एक साधन है तथा सीखने को प्रक्रिया के द्वारा संस्कृति से सम्बन्धित विशेषताएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है।

संस्कृति का तात्पर्य उन सभी तत्वों से होता है, जिनका निर्माण स्वयं मनुष्य ने किया है। उदाहरण के लिए हमारा जीवन जिन विश्वासों, विचारों, व्यवहार के तरीकों और तरह–तरह के उपकरणों से प्रभावित होता है, वे सभी मनुष्य द्वारा निर्मित है। इसलिए यह संस्कृति के अंग है। दूसरी ओर भूमि की बनावट, जलवायु ऋतुओं में होने वाला परिवर्तन, सूर्य अथवा चन्द्रमा की गति आदि मनुष्य द्वारा निर्मित अथवा प्रभावित न होने के कारण संस्कृति के अंग नहीं हैं। संस्कृति को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है – (1) भौतिक संस्कृति (2) अभौतिक संस्कृति।

सभ्यता के आरम्भिक युग से ही मनुष्य अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए तरह–तरह की वस्तुओं का निर्माण करता रहा हैं। आरम्भ में यह वस्तुएँ पत्थर के औजारों और वर्तनों के रूप में थी। इसके बाद मनुष्य जैसे जैसे अधिक सभ्य होता गया, उसने पहले की तुलना में कहीं अधिक उपयोगी और जटिल पदार्थों का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। आज मनुष्य ने तरह–तरह के उपकरणों, मशीनों, इमारतों, सड़कों , पुलों और संचार के अनेक ऐसे साधनों का आविष्कार कर लिया है, जिनके द्वारा वह एक बड़ी सीमा तक प्रकृति पर विजय प्राप्त कर सका है। विभिन्न प्रकार की कलात्मक वस्तुएँ, औषधियाँ और खाद्य पदार्थ भी मनुष्य के इन्हीं आविष्कारों से सम्बन्धित है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है, कि मनुष्य द्वारा बनाये गये भौतिक पदार्थों की सम्पूर्णता को ही हम भौतिक संस्कृति कहते हैं।

अभौतिक संस्कृति सम्पूर्ण संस्कृति का वह भाग है, जो अमूर्त होता है। इस प्रकार मनुष्य जिन विभिन्न विश्वासों, विचारों, नियमों, प्रथाओं, परम्पराओं और शिष्टाचार के तरीकों में जीवन व्यतीत करता है, वह सभी अभौतिक संस्कृति का निर्माण करते हैं, आरम्भ में मनुष्य का जीवन सरल था। वह कुछ थोड़ी सी परम्पराओं और विश्वासों में ही जीवन व्यतीत कर लेता था। सभ्यता के

विकास के साथ ही मानव के विश्वास और विचार इतना जटिल रूप लेने लगे कि इनके द्वारा नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र और कानून शास्त्र जैसी शाखाओं का विकास हो गया।

आज अभौतिक संस्कृति क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसमें विभिन्न प्रकार के विश्वासों, लोकाचारों, पौराणिक गाथाओं, साहित्य, वैज्ञानिक ज्ञान, कानूनों, प्रथाओं, जनरीतियों, संस्कारों, कर्मकाण्डों शिष्टाचार के तरीकों और सदाचार के नियमों का समावेश देखने को मिलता है। स्पष्ट है कि किसी समाज की अभौतिक संस्कृति ही अपने सदस्यों के व्यक्तित्व का निर्माण करने में सर्वाधिक योगदान करती है।

अन्य लौकिक एवं अलौकिक अवधारणायें :-

भारत देश सांस्कृतिक दृष्टि से सर्वाधिक सम्पन्न माना जाता है। यही संस्कृति अलग-अलग क्षेत्रों में अपने परिवेश से प्रभाव ग्रहण करती हैं, और कुछ नवीनताएँ ग्रहण कर उस स्थान विशेष की संस्कृति बन जाती है, जो लौकिक संस्कृति कहलाती है।

लौकिक शब्द बहुत व्यापक है। लौकिक का व्यक्तित्व विराट होता है। लोक दर्शन उसका मस्तिष्क है, तो लोक धर्म उसका अंग। लोक मूल्य उसके नेत्र हैं और लोक विश्वास उसका हृदय। लोकाचरण और लोक कर्म उसकी भुजायें हैं तथा लोकगति और लोकावर्त्तन उसके चरण। ऐसे अगणित हाथ और हृदय एवं मस्तिष्क वाले शक्ति पुंज का नाम लौकिक है और लौकिक की पहचान उसकी संस्कृति है।

लौकिक जीवन के संस्कार, उसकी मान्यताएँ, विश्वास एवं लोकधर्म, लौकिक साहित्य, लौकिक संगीत, लौकिक आचरण, इन सब का मिला जुला हुआ रूप ही लौकिक संस्कृति के अन्तर्गत है।

आधुनिक कहलाने वाला समाज इस समृद्धिशाली, परम्परावादी, जीवन मूल्यों, आदर्शों को पिछड़ा कहकर पाश्चात्य को गले लगाने के मोह में बहा जा रहा है। निष्ठावान जीवन के प्रति हमारी आस्थाएँ डगमगा रहीं हैं, मूल्य हीनप्राय हो गये हैं। हमारे आचार-विचार एवं पारस्परिक लौकिक व्यवहार में आश्चर्यजनक परिवर्तन आ गया है।

लौकिक मूल्य किसी वैचारिक क्रान्ति का परिणाम नहीं है। लौकिक जगत में प्रचलित श्रेष्ठ रीतिरिवाज, परम्पराओं और आदर्शों का निरन्तर अनुकरण धीरे-धीरे लौकिक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठा पाता है।

ईश्वर के प्रति आस्था और विश्वास भी लौकिक जगत में बहुत लोगों के मन में समाये हुये हैं। प्रकृति से प्राप्त प्रत्येक वस्तु पहले आराध्य को अर्पित करना, फिर स्वयं ग्रहण करना, यहाँ के जन जीवन में देख सकते हैं। अनेक देवी देवताओं के अतिरिक्त लोक जीवन में उन लोगों को देवत्व की कोटि में रखा है, जो मानव की रक्षा में बलिदान होकर लोक देवता बन गये हैं। धार्मिक स्थलों पर अनेक लोगों की भीड़ होना, लोगों की धार्मिक आस्था के कारण ही है।

लौकिकता के अन्तर्गत लोकाचरण भी आ सकता है। यह शब्द व्यापक है, क्योंकि लौकिक जीवन का आचार विचार, संस्कार, रहन सहन, वस्त्र विन्यास, तंत्र मंत्र, लोक देवता, लोकगीत, पनघट–मरघट, चौपाल, भूतप्रेत, सब कुछ इसी के अन्तर्गत आता है। जन्म से मृत्यु तक अनेक संस्कार यहाँ विधि विधान पूर्वक मनाये जाते हैं। इन संस्कारों का कुछ न कुछ वैज्ञानिक महत्व है, परन्तु अपरिचित होने के कारण हम अन्धविश्वास कहकर टाल देते हैं। परन्तु लोक जीवन में यह बहुत मजबूती के साथ समा गये हैं।

लौकिकता में रीति रिवाज आते हैं, जिनका महत्वपूर्ण स्थान है। रीति रिवाज जितना व्यक्ति को समाज से जोड़ते हैं, उतना ही पर्यावरण के अनुकूलन में भी सहयोग देते हैं। इसके अन्तर्गत देशों में मनाये जाने वाले त्यौहार भी आते हैं। जो कि हमारे देशकी समृद्ध लोक संस्कृति के प्रतीक हैं। लेकिन आज त्यौहार एवं रीतिरिवाज में होने वाला परिवर्तन जैसे किसी भी रीतिरिवाज का मजाक बनाना हमारी लोक परम्पराओं का अवमूल्यन है।

अतः स्पष्ट है कि, लौकिक विषय के अन्तर्गत रीतिरिवाज, परम्परा, आचार–विचार, नैतिक –मूल्य आदर्श आते हैं। जीवन जगत में नाना कार्य व्यापारों से विमुक्त होकर परब्रह्म चिन्तन में निमग्न रहना, अलौकिक सत्ता का परिचायक है। ब्रह्मवाद की व्यंजना ही अलौकिक है।

द्वितीय अध्याय

'बाणभट्ट की आत्मकथा' के अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन

बाणभट्ट की आत्मकथा के अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन –

'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास आचार्य द्विवेदी जी द्वारा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में लिखा हुआ प्रथम उपन्यास है। इसमें लेखक ने उत्तर गुप्तकालीन इतिहास की पार्श्वभूमि में ''बाणभट्ट की आत्मकथा'' को प्रस्तुत किया है। उपन्यासकार ने ऐतिहासिक तथ्यों को तो अपनी रचना का आधार नहीं बनाया है, पर उसने तत्कालीन सामाजिक आचार–विचार और देशकाल का जो वर्णन किया है, वह पूर्णतः कल्पित होते हुये भी इतिहास से समर्थित है। उपन्यासकार का मुख्य कथानक है – बाणभट्ट एवं निपुणिका द्वारा अत्याचार पीड़ित भट्टिनी का उद्धार। इस मूल कथा के प्रस्तुतीकरण के लिए लेखक ने सामन्तीय हर्षयुगीन परिवेश को अपनाया है। लेखक ने हर्षकालीन भारत की राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की वास्तविक झाँकी ऐतिहासिक संगतियों के साथ प्रस्तुत की है। इस उपन्यास में हर्षवर्धन, कुमार कृष्णवर्धन, राज्यश्री, ग्रह वर्मा एवं तुवुरमिलिन्द ऐतिहासिक प्रमाणिक पात्र हैं। प्रमुख पात्र इस उपन्यास में बाणभट्ट संस्कृत के प्रसिद्ध कवि हैं।

प्रस्तुत उपन्यास का प्रमुख नायक बाणभट्ट अनाथ एवं आवारा मगध से उज्जयिनी जाकर स्वनिर्मित नाटक मण्डली में निपुणिका नामक नर्तकी से परिचित होता है। परस्पर एक दूसरे को न समझकर निपुणिका भाग जाने पर बाण भी निपुणिका एवं जीविका की खोज में हर्षवर्धन के राज्य में पहुँचते हैं। वहाँ निपुणिका से पुनः मिलकर राजकुल में बंदी यवन राजा तुवुरमिलिन्द की अपहृत कन्या चन्द्रदीधिति का उद्धार करता है। इस कार्य के मध्य बाणभट्ट बौद्ध बिहार के प्रधान सुगतभद्र तथा तांत्रिक अघोर भैरव, भैरवी महामाया एवं विरतियों के सम्पर्क में आते हैं। कृष्णवर्धन के प्रयास से बाण पुनः थानेसर आकर हर्षवर्धन के दरबारी कवि नियुक्ति होते हैं, तथा यहाँ वैष्णव तांत्रिक बेंकटेश भट्ट एवं सुचरिता से मिलते हैं। कुमार एवं राज्यश्री के आग्रह पर बाणभट्ट, भट्टिनी (चन्द्र दीधीति) एवं निपुणिका को पुनः थानेसर लाते हैं। भट्टिनी बाणभट्ट को मानवता का संदेश प्रसारित करने के लिए प्रेरित करती हैं, अन्त में बाणभट्ट के लिए पूर्णतः समर्पित निपुणिका बाणभट्ट एवं भट्टिनी के लिए आत्मोत्सर्ग कर देती है। बाणभट्ट मानवता के संदेश प्रसार के लिए पुरुषपुर के लिए प्रस्थान करते हैं। बाणभट्ट एवं भट्टिनी की पुनः मुलाकात होगी या नहीं आसमंजस्यपूर्ण स्थिति में प्रश्न चिन्ह के साथ कथा समाप्त होती है। इस उपन्यास में द्विवेदी जी का मुख्य उद्देश्य सामन्तवादी परम्पराओं, रुढ़ियों, अन्धविश्वासों से मनुष्य की मुक्ति तथा मानवता की स्थापना करना रहा है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' के सृजन के लिए लेखक ने मुख्यतः बाणभट्ट की दो रचनाओं –''कादम्बरी' तथा ' हर्षचरित्र' को उपजीव्य बनाया है। बाणभट्ट का आत्मपरिचय, बाण को भुजंग सम्बोधन की प्राप्ति, हर्षवर्धन का राजसभा में राजकवि नियुक्ति होना, हर्ष द्वारा रत्नावली की रचना आदि घटनायें 'कादम्बरी के कथा मुख से तथा हर्ष चरितम से गृहीत हैं। इसके साथ लेखक ने हर्षकृत

रत्नावली 'भवभूति' कृत 'मालती माधव' एवं 'कालिदास' कृत 'मेघदूत' आदि ग्रन्थों को भी आधार बनाया है, जिनका यथा स्थान लेखक ने संकेत भी किया है।

प्रस्तुत उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का प्रमुख कथासूत्र बाणभट्ट एवं निपुणिका द्वारा भट्टिनी का उद्धार तथा सहायक कथायें एवं घटनायें बाणभट्ट की स्थाण्वीश्वर में कृष्णवर्धन को पुत्र जन्म की बधाई देने जाते हुये निपुणिका से अचानक भेंट, निपुणिका की अतीत जीवन कथा, निपुणिका के सहयोग से भट्टिनी को राजगृह से बाहर लाना, कृष्णवर्धन के सहयोग से भट्टिनी एवं निपुणिका के साथ मगध को प्रस्थान, दस्यु आक्रमण होने पर भट्टिनी एवं निपुणिका का नौका से गंगा में कूदना तथा बाणभट्ट द्वारा भट्टिनी की रक्षा, बाणभट्ट का सुचरिता को बन्दीगृह से मुक्ति दिलाना, बाणभट्ट द्वारा पुराण वाचन की अतीत कथा, सुचरिता एवं विरतिवज्र के अतीत के घटना प्रसंग, निपुणिका द्वारा जटिल बहुप्रसंग, वाभ्रव्य द्वारा ग्रहवर्मा, राज्यश्री तथा महामाया (भैरवी) की अतीत कथा, कृष्णवर्धन एवं राज्यश्री के अनुरोध पर भट्टिनी का वापस स्थाण्वीश्वर लौटना, लोरिकदेव द्वारा तुवुरमिलिन्द कन्या भट्टिनी (चन्द्रदीधीति) का सम्मान, भट्टिनी के अपहरण की घटना का वर्णन, हर्षवर्धन के स्वागतार्थ 'रत्नावली नाटिका' का आयोजन बाणभट्ट द्वारा नाटिका में अभिनय करते हुये निपुणिका की आकस्मिक मृत्यु तथा अंत में भट्टिनी को अकेला छोड़कर बाणभट्ट का मानवता का संदेश प्रसारण के लिए पुरुषपुर की ओर प्रस्थान आदि घटनायें उपन्यासकार की कल्पना की ही देन हैं। इन समस्त घटनाओं से लेखक ने बाणभट्ट, भट्टिनी एवं निपुणिका के मध्य प्रणय त्रिकोण की रचना रची है।

आचार्य द्विवेदी जी के उपन्यास बाणभट्ट की आत्मकथा में अवान्तर विषय इस प्रकार हैं –

1. ज्योतिष गणित
2. आध्यात्म
3. दर्शन
4. भाषा विज्ञान
5. पौराणिकवृत्ति
6. इतिहास
7. राजनीति
8. धर्म
9. संस्कृति
10. अन्य लौकिक एवं अलौकिक अवधारणायें।

ज्योतिष गणित : –

ज्योतिष के द्वारा व्यक्ति भविष्य के बारे में ग्रहों की गणना करके ज्ञान प्राप्त करता है। बाणभट्ट की आत्मकथा में निपुणिका ने बाणभट्ट को बताया कि –'' शार्विलक की दुकान पर मैं चली जा रही थी कि रास्ते में एक शकद्वीप का ब्राह्मण ज्योतिषी मिल गया। ....उसने नाना भाँति के चक्र खींचकर बताया कि तेरा भविष्य अच्छा है, पर तुझे दुःख भोगना है।'' मैंने तुम्हारे विषय में पूछा, तब गणना करके बताया कि – ''वह बड़ा यशस्वी कवि होगा, परन्तु कोई रचना समाप्त नहीं कर सकेगा। जिस दिन वह कविता लिखने बैठेगा, उस दिन से उसकी आयु क्षीण होने लगेगी। वह उसके बाद सहस्त्र दिन तक जीवित रह सकेगा।''[1]

यवन लोगों के मध्य प्रचारित ज्योतिष के बारे में द्विवेदी ने लिखा –''इधर हाल ही में यवन लोगों ने जिस होरा शास्त्र और प्रश्न शास्त्र नामक ज्योतिष विद्या का प्रचार इस देश में किया है, वह यावनी पुराण गाथा के आधार पर रचा हुआ एक अटकलपच्चू विधान है। भारतीय विद्या ने जिस कर्म फल और पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, उसके साथ इसका कोई मेल नहीं है। यहाँ तक कि हमारे पुराण प्रथित ग्रह देवताओं की जाति, स्वभाव और लिंग तक में अद्भुत विरोध स्वीकार कर लिये गये हैं। क्योंकि यवन गाथाओं की वीनस और डिएना देवियाँ हैं और वे ही इन ग्रहों की अधिष्ठात्री देवी मान ली गयी हैं।''[2]

ज्योतिष के आधार पर लोरिक देव आयावर्त की घृणित हाहाकार के बारे में सोचते –''ऊपर वृश्चिक राशि पश्चिम आकाश में ढलने जा रही थी। उसके पार्श्व में मंगल ग्रह की लाल तारिका दिखाई दे रही थी। वृश्चिक की पीठ पर मंगल ग्रह एक विचित्र भय काभाव पैदा कर रहा था।'' ......वृश्चिक राशि पर मंगल के संक्रमण से धरित्री रक्तकर्दम से विच्छिल हो उठेगी यह सत्य है।''[3]

द्विवेदी जी ने ''बाणभट्ट की आत्मकथा'' उपन्यास में वर्णित किया है, कि हस्तरेखाओं के द्वारा भविष्य के विषय में बताया जा सकता है, तथा ग्रह नक्षत्र के आधार पर भविष्य ज्ञात होने का उल्लेख किया है। होरा शास्त्र के आधार पर भाग्य बताया जा सकता है। द्विवेदी जी ने होरा शास्त्र एवं प्रश्न शास्त्र नामक ज्योतिष विद्या को यावनी पुराण गाथा के आधार पर रचा एक अटकलपच्चू विधान बताया है।

---

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली 1, राजकमल प्रकाशन 115
2. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली 1, राजकमल प्रकाशन 116
3. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली 1, राजकमल प्रकाशन 202

आध्यात्म :–

भारत की विभिन्न साधना पद्धतियों में वैष्णव भक्ति धारा लेखक की मानवतावादी दृष्टि के अधिक अनुकूल दिखाई देती हैं। बौद्धों की नैरात्म्य साधना तथा शक्ति तांत्रिकों की कौल साधना कुछ विशिष्ट साधकों के लिए ही उपयोगी हो सकती है, किन्तु वैष्णव भक्ति साधना सर्वजन ग्राह्य है। यह मानव ही स्वाभाविक प्रवृत्तियों के उच्छेद में नहीं, उदात्तीकरण में विश्वास करती है। यह लक्ष्य निरीह, अकिंचन एवं असहाय लोगों को विश्वास का सम्बल प्रदान करती है। महावराह के प्रति अटूट विश्वास ही निपुणिका तथा भट्टिनी को संकट की घड़ियों में भी धीर एवं निष्कम्प बनाये रखता है। वह चण्डी मन्दिर के दरवाजे को खटखटाती है। निपुणिका ने आँगन के कोने की ओर अंगुली निर्देश किया है। द्विवेदी जी भट्टिनी की उस समय की स्थिति को वर्णित करते हुये लिखते हैं –''भट्टिनी स्नान कर एक अत्यन्त मामूली वस्त्र धारण करके ध्यानस्थ बैठी थी। सामने गीली मिट्टी की एक छोटी सी वेदी थी और उस पर निपुणिका के उपास्य महावराह की छोटी मूर्ति विराजमान थी।''[1]

निपुणिका ने भी भट्ट को पान की दुकान बंद करके भीतर चलने का आदेश दिया था, क्योंकि वह महावराह की उपासक थी। दुकान के पीछे एक छोटा सा आँगन था, उसके बीचों बीच एक तुलसी का वृक्ष था, पास में एक वेदी थी और उस पर महावराह की अत्यन्त भव्य एक मूर्ति रखी थी। बाणभट्ट कहते हैं कि – '' मुझे समझने में एक मुहूर्त का भी विलम्ब नहीं हुआ कि ये निपुणिका के उपास्य देव हैं, और निपुणिका अपने उद्धार की ऐसी ही आशा लगाये हुये है।''

निपुणिका बाणभट्ट से एक और देवमन्दिर (नारी) का उद्धार करने हेतु कहती है। बाण कहते हैं – ''तेरा उद्धार तो महावराह ने कर दिया है।'' निपुणिका भी प्रत्युत्तर में कहती है –''आज मैं तुम्हें सचमुच का देवमन्दिर दिखाऊँगी। ....महावराह ही मेरे वास्तविक सहायक है।''[2]

मानव को जीवन में सुख दुःख दोनों ही स्वीकार करना पड़ता है। जीवन में यदि सुख है, तो दुःख भी आयेगा, अतः दोनों का सामना करना होगा। उसके लिये मानव को सन्मार्ग पर चलना होगा, जीवन में मानव को पुण्यकर्म करने होंगे, झूठ, छल, कपट अहंकार का त्याग करना होगा। भगवान की आराधना में भी मानव तभी सफल हो सकता है जब वह लोभ, मोह, क्रोध, अहंकार का परित्याग करे। यह समस्त प्रवृत्तियाँ भगवद् भक्ति की शत्रु हैं। इन्हीं के कारण मानव ध्यान नहीं लगा सकता है, मन को एकाग्र करने में असफल रहता है, अतः भगवद के अनुग्रह प्राप्ति हेतु बाह्य आकर्षण वाली वस्तु के प्रति मोह का त्याग करना होगा। प्रस्तुत उपन्यास में सुचरिता का जीवन तो भक्ति का मूर्त रूप है। वह सुख और दुःख दोनों को ईश्वर का प्रसाद मानकर स्वीकार करती है। जो व्यक्ति अपने पाप, पुण्य, धर्म, अधर्म सब कुछ नारायण को अपर्ण कर दे, उसमें कलुष कहाँ रह पाता है? निष्काम कर्मयोगी की तरह वह फल के प्रति अनासक्त हो जाता है।

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 – 59
2. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 – 35

बाणभट्ट ने उसे स्थाण्वीश्वर के पटमण्डप में गुरूओं के बीच में बैठा देखा था। वह शुभ कौशेय से समावृत्त थी। वह (सुचरिता) गुरू की पूजा को प्रधानता देती थी। सुचरिता के कानों में एक चक्रावृत्ति कुण्डल के सिवा और कोई भी आवेध्य अलंकार नहीं था और प्रक्षेप्य अलंकार तो उसने पहने ही नहीं थे – मंजीर नुपुर या कनखमेखला कुछ भी नहीं था। आरोप्य अलंकारों पर उसकी विशेष रूचि जान पड़ती थी, परन्तु उनमें भी एक सुवर्ण हार, एक मालती माला के सिवा कुछ नहीं दिखते थे।

आध्यात्मिक साधना के लिए प्राणी का पूर्णरूपेण भगवद् के प्रति एकाग्रचित्त एवं आत्मसमर्पण भाव आवश्यक है। प्राणी को लौकिक जगत की ओर से मन को पृथक करना पड़ता है, मोह–माया का परित्याग करना होता है, तब कहीं मन भगवद् के प्रति एकाग्र होता है। कुछ लोग भगवदाराधना के लिए भजन, कीर्तन, आत्मसमर्पण, पूजा, अर्चना, स्मरण आदि को मानते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में सुचरिता नारायण की उपासक हैं, अतः यह नारायण की पूजा अर्चना करने के पश्चात् नारायण की स्तुति गाती है। जिसके साथ में सहस्त्रों नर एवं नारी गा रहे थे। आचार्य द्विवेदी जी ने उस समय के वातावरण को वर्णित करते हुये लिखा है–"देखते–देखते संयवक वाद्य गम गम करने लगा, कांस्य, कोशी और करताल झनझना उठे। नारायण की स्तुति सहस्त्र–सहस्त्र नर नारियों के कण्ठों से उमड़ पड़ी।.......गुरू की आज्ञा से सुचरिता ने शंख बजाया।"[1]

आध्यात्मिक साधना के लिए प्राणी को बहुत ही भक्ति श्रृद्धा के साथ मन को एकाग्र करके जप करना होगा। द्विवेदी जी ने भी जप के महत्व को स्वीकारा है। प्रस्तुत उपन्यास में सुचरिता एवं वेंकटेश भट्ट के साथ समस्त जन नारायण – नारायण को एक सुर में जप करते थे।

द्विवेदी जी गीता के कर्मयोग सिद्धान्त के अनुरूप कर्मफल की परवाह न करते हुये कर्तव्य पालन को ही महत्वपूर्ण मानते हैं। व्यक्ति किसी दूसरे का एक भी कार्य करता है। उसके फल की अपेक्षा उससे करता है, जब कि व्यक्ति को धर्म, कर्म करके नारायण को अर्पित कर देना चाहिए। मानव यदि उसका फल नहीं दे पा रहा है, तो उससे अपेक्षा भी नहीं रखना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक मानव में आत्मा का वास है, जो कि परमात्मा का अंश है, अतः यदि कोई भी प्राणी किसी व्यक्ति का कल्याण करता है, उसके प्रति अच्छे कर्मों को करता है, तो वह भी परमात्मा की आराधना ही है। व्यक्ति एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या, द्वेष की भावना रखता है, और ईश्वर की प्राप्ति के लिए मन्दिरों या किसी भी तीर्थ स्थल में भटकता है। जब कि ईश्वर (परमात्मा) का वास़ मानव में ही निहित है। द्विवेदी जी भी लोकसेवा को भगवद् सेवा मानते हैं। आचार्य द्विवेदी जी ने इस उपन्यास में सुचरिता के माध्यम से कहलवाया

---

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 – 161

है–"आर्य, नारायण मनुष्य के बाहर तो नहीं रहते हैं न? तुम प्रसन्न हों, निश्चय ही नारायण प्रसन्न है, तुम नारायण के ही रूप तो हो, आर्य!"[1]

मानव के समक्ष जीवन में न जाने कितनी बार उत्थान–पतन की स्थिति आती है। लेकिन जब समस्यायें मानव के सम्मुख आती हैं, तो वह एक दूसरे को दोषी ठहराता है, अपने आक्रोश को अभिव्यक्त करता है, जबकि ईश्वर सबका रखवाला है, वह बनाता भी है तो बिगाड़ता भी है, और बिगड़े हुये कार्यों को बनाने का कार्य भी ईश्वर ही करता है। ईश्वर ही इस जगत का सृष्टा है, कर्णधार है। प्रस्तुत उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा में भट्टिनी का उद्धार बाणभट्ट के द्वारा होने की बात सुचरिता करती है। तो बाणभट्ट कहते हैं – "नारायण करेंगे देवि, हम तो निमित्त मात्र हैं।"

सुचरिता भी कहती है – "हाँ आर्य, नारायण ही इस नाव के कर्णधार है, हम तो तूफ़ान को देखकर बेकार ही हाय–हाय करने वाले जीव हैं।"[2]

प्रस्तुत उपन्यास में द्विवेदी जी ने वैष्णव भक्ति साधना का उल्लेख किया है। वैष्णव भक्ति साधना मानव मात्र को परमात्मा का रूप मानती है। लोकसेवा को नारायण की पूजा मानने वाला व्यक्ति जीवन की सार्थकता पा लेता है। वैष्णव धर्म के अतिरिक्त बौद्ध धर्म, वाममार्गी तंत्र साधना, कौल साधना का भी उल्लेख किया है। प्रस्तुत उपन्यास में अघोर भैरव एवं भैरवी महामाया की वाममार्गी तंत्र साधना, चण्डी मण्डप के पुजारी जी की ढोंग आडम्बर युक्त पूजा, सुगतभद्र की बौद्ध साधना, वज्रतीर्थ की शक्ति साधना, सुचरिता विरतिवज्र की वैष्णव साधना, भट्टिनी एवं निपुणिका की महावराह, वैष्णव उपासना वर्णित की गई है। इन साधनाओं के लिए लेखक ने अपनी ही पुस्तक 'मध्यकालीन धर्म साधना', 'नाथ सम्प्रदाय', 'सहज साधना' से सामग्री एकत्रित की है।

---

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1 राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 – 166
2. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1 राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 – 166

दर्शन :-

दुःख की चरम निवृत्ति तथा सुख की प्राप्ति में कारणभूत विचारों को दार्शनिक विचार कहा जाता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास में द्विवेदी जी ने इस प्रकार के विचार यत्र तत्र प्रस्तुत किये हैं। मानव मनोसामाजिक प्राणी है, अतः क्रियाशील होने के कारण अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाने की आकाँक्षा रखता है। कुछ व्यक्ति अत्यधिक महत्वाकाँक्षी होते हैं। वह स्वलक्ष्यों की प्राप्ति हेतु तन, मन, धन का प्रयोग करता है। कभी तो व्यक्ति सफल भी हो जाता है। कभी कुछ कारणवश असफल हो जाता है। कभी असफलता का कारण कर्मों का अभाव होता है, लेकिन कभी भाग्य का भी सहयोग न होने पर असफलता का सामना करना पड़ता है। कहा भी गया है, कुछ करनी, कुछ कर्मगत। यानि कुछ तो हमें कर्मों के कारण असफलता या सफलता लक्ष्य की प्राप्ति में मिलती है, कभी सफलता या असफलता भाग्य के कारण प्राप्त होती है। कुछ लोग पूर्णरूपेण भाग्यवादी होते हैं। जो मानव के भाग्य में लिखा है वह होकर ही रहेगा। बाणभट्ट कृष्णवर्धन के यहाँ जन्मोत्सव में जाते समय कहते हैं –"भाग्य को कौन बदल सकता है? विधि की प्रबल लेखनी से जो कुछ लिख दिया गया, उसे कौन मिटा सकता है? अदृष्ट के पारावार को उलीचने में अब तक कौन समर्थ हुआ?"[1]

व्यक्ति जो भी कार्य करता है, उसके पीछे कोई अलौकिक सत्ता होती है। इस जगत में जो कुछ भी परिवर्तन होता हैं, उसके पीछे कोई न कोई अदृश्य, अलौकिक, शाश्वत सत्ता होती है। यह विचार द्विवेदी जी ने स्वीकारा है। जब भट्टिनी बाणभट्ट को आर्यावर्त का द्वितीय कालिदास कहती है, तो बाणभट्ट इसी शाश्वत सत्ता के सन्दर्भ में सोचते हुये कहते हैं –"इस सौन्दर्य के उस पार, इस आसमान जगत के अन्तराल में एक कोई शाश्वत सत्ता है, जो इसे मंगल की ओर ले जाने का संकल्प किये हुये है।"[2]

संसार के सन्दर्भ में महामाया भट्टिनी से कहती है –"परम शिव से दो तत्व एक ही साथ प्रकट हुये थे– शिव और शक्ति। शिव विधि रूप है और शक्ति निषेध रूपा। इन्हीं दो तत्वों के प्रस्पन्द निस्पन्द से यह संसार आभाषित हो रहा है। पिण्ड में शिव का प्राधान्य ही पुरुष है, और शक्ति का प्राधान्य नारी है।"[3]

मानव शरीर मन, बुद्धि एवं आत्मा का योग होता है। ईश्वर ने मानव को विशेष प्रकारकीबुद्धि दी है। यहाँ बुद्धि तत्व उसे अन्य जीवों से श्रेष्ठ बनाता है। इसी बुद्धि तत्व के द्वारा मानव भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उपलब्धि प्राप्त करने में सफल होता है। या यह कह सकते हैं, कि मानव मनो शारीरिक प्राणी है अतः उसके पास क्रिया, विचार करने की शक्ति है। मनुष्य समस्या

---

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1 राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0–27
2. " " " 107
3. " " " 137

को समझने, उसके हल करने के उपायों को सोचने एवं उसके अनुसार कार्य करने की शक्ति रखता है। सामाजिकता उसकी दूसरी बड़ी विशिष्टता है, तीसरी विशष्टिता है, कि वह किसी भी बात को अपने अनुभव की कसौटी पर कसे, बिना सत्य नहीं मानता तभी तो नित्य नई खोजें होती हैं। मानव की यह विशेषता ही उसके संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी बनने का कारण है। ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना शरीर को माना गया है। इसे केवल दण्डित नहीं किया जा सकता है। यह नारायण का मन्दिरहै। प्रस्तुत उपन्यास में सुचरिता से बाणभट्ट द्वारा वासुदेव की मूर्ति के पूजन आराधना के विषय में पूछने पर सुचरिता स्वयं पहले अपने को पापलिप्त समझती थी, लेकिन वह अब गुरू के समझाने पर भगवद् आराधना में ही समय व्यतीत करना चाहती है। क्योंकि मनुष्य आत्माधारी है, और आत्मा ब्रह्म का अंश है, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है, अतः मानव अपने आप में अनन्त ज्ञान एवं शक्ति का स्रोत है, परन्तु माया के कारण मानव इस अनन्त ज्ञान एवं शक्ति को पहचान नहीं पाता है। इस ज्ञान शक्ति को पहचानने पर मानव सब कुछ करने में समर्थ हो जाता है, अतः व्यक्ति के शरीर को श्रेष्ठ बताया गया है। सुचरिता कहती है –''मानव देह केवल दण्ड भोगने के लिए नहीं बनी है, आर्य यह विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि है।''[1]

जगत का निर्माण होता है, और नाश भी होता है, इसमें तो प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, इसलिये यह अनित्य है,असत्य है, ब्रह्म ही सत्य है, जिस पर मकड़ी अपने अन्दर के द्रव्य पदार्थ से अपने श्रम में अपने जाल की रचना करती है। ठीक उसी प्रकार ईश्वर इस जगत का निर्माण करता है। ईश्वर अनादि, अनन्त, निर्गुण एवं निर्वयव है, जब उसमें माया के द्वारा संसार के निर्माण का गुण आरोपित किया जाता है तो वह सगुण हो जाता है, जगत में जो कुछ उत्थान–पतन, बनना–बिगड़ना, मिलना–बिछुड़ना, अच्छा–बुरा, होता है। उसका कर्ता यह प्राणी नहीं है, वरन् भगवान (नारायण) ही है। व्यक्ति तो एक माध्यम है। कहा जाता है, यह संसार रंगमंच है, इसमें अभिनय प्राणी करते हैं, लेकिन इसका सूत्रधार तो भगवान (ईश्वर) ही है। हम सब व्यक्ति व्यर्थ में ही एक दूसरे को अच्छा या बुरा कहते हैं। लेकिन व्यक्ति उसमें उत्तरदायी नहीं रहता है वरन् ईश्वर ही सबका कर्ता है। यही विचार सुचरिता ने बाणभट्ट से प्रस्तुत किये थे –''नारायण ही इस नाव के कर्णधार है। हम तो तूफान को देखकर बेकार ही हाय–हाय करने वाले जीव हैं। मन क्यों नहीं समझ पाता आर्य, कि वह किसी कार्य का उत्तरदायी नहीं है।''[2]

प्राणी इस जगत में आता है, तो उसे एक न एक दिन जाना ही है। जिस प्रकार से जीवन में सुख है, तो दुःख भी है, उसी प्रकार जन्म है तो मरण भी है। अतः मृत्यु से नहीं डरना चाहिए। प्रस्तुत उपन्यास में महामाया कहती हैं ''मृत्यु का भय माया है।''

---

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0–165
2. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली – 1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 166

व्यक्ति में दातृव्य भाव होना चाहिए। व्यक्ति जितना दान करता है, उसे किसी न किसी प्रकार से बहुत कुछ प्राप्त होता है।निपुणिका से कंचुकी वाभ्रव्य कहते हैं – ''देख बिटिया, मनुष्य जितना देता है, उतना ही पाता है, प्राण देने से प्राण मिलता है, मन देने से मन मिलता है। आत्मदान ऐसी वस्तु है, जो दाता और गृहीता दोनों को सार्थक करती है।''.........–लौकिक मानदण्ड से आनन्द नामक वस्तु को नहीं पाया जा सकता दुःख तो केवल मन का विकल्प है।........अपने को निःशेष भावसे दे देने से दुःख जाता रहता है।''[1]

भट्टिनी के हृदय में यह भावना पुनः घुमड़ती रही कि पृथ्वी से लेकर स्वर्ग एवं अन्य लोक लोकान्तर तक मानव मात्र के रूप में एक ही प्रकार के भावों का आधिपत्य है। वे सभी लोगों के मानवों के मनोभावों में अद्वैत भावना का दर्शन करती है और बाणभट्ट से कहती है –''इस नरलोक से लेकर किन्नर लोक तक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।''[2]

जीवन के अन्तिम दिनों में निपुणिका में दार्शनिक प्रवृत्ति जाग उठती है। रत्नावली नाटिका के विषय में बाणभट्ट द्वारा तर्क वितर्क करने पर उसके हृदय में निगूढ़, भाव, संघात, दार्शनिकता का जामा ओढ़े हुये शब्दों के रूप में साकार हो उठता है–'' प्रेम एक और अविभाज्य है। उसे केवल ईर्ष्या और असूया ही विभाजित करके छोटा कर देते हैं।''[3]

मानव इस भौतिक जगत में आकर इच्छा अनिच्छा से जीवन यापन करता है। वह कभीं दूसरों को सुख प्रदान करने हेतु, कभी दुःख प्राप्त करने हेतु नाना प्रकार के अभिनय करता है। इसी से साम्यता रखते हुये जीवन जीने के सन्दर्भ में आचार्य द्विवेदी जी निपुणिका द्वारा भट्ट के प्रति विचार देते हें –'' अभिनय ही तो कर रही हूँ। जो वास्तव है, उसको दबाना और जो अवास्तव है, उसका आचरण करना यही तो अभिनय है। सारे जीवन यही अभिनय किया है।'' .....''सचमुच ही क्या यह जीवन अभिनय है? यह पग–पग का बन्धन, श्वास–श्वास का दमन अभिनय ही तोहै।''[4] बाणभट्ट का विचार है–''निउनिया बन्धन ही सौन्दर्य है, आत्मदमन ही सुरुचि हैं, बाधायें ही माधुर्य हैं। नहीं तो यह जीवन व्यर्थ का बोझ हो जाता। वास्तविकतायें नग्न रूप में प्रकट होकर कुत्सित बन जाती हैं''[5]

बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली – 1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 247
" " 229
" " 249
5 " " 236, 237

भाषा विज्ञान :-

बाणभट्ट की आत्मकथा उपन्यास में द्विवेदी जी ने भाषाविज्ञान विषय सम्बन्धी विचार भी यत्र तत्र प्रस्तुत किये हैं। बाणभट्ट कहते हैं –" मगध की बोली में 'बण्ड' पूँछ कटे बैल को कहते हैं। वहाँ यह कहावत मशहूर है कि बण्ड आप आप गये, साथ में नौ हाथ का पगहा भी लेते गये। सो लोग मुझे बण्ड कहने लगे। इसी को बाद में संस्कृत शब्द 'बाण' द्वारा संस्कार करके मैंने इस नाम की कुछ इज्जत बढ़ा ली।"[1]

बाणभट्ट निपुणिका के साथ भट्टिनी को लेने जाते हैं तब निपुणिका कहती है–"क्षीबा है! मैं मतलब समझ गया। 'क्षीबा' कान्यकुब्ज की बोली में मदिरा पी हुई स्त्री को कहते हैं।"[2]

भट्टिनी भट्ट को कवि की संज्ञा देती है। और कहती है कि कौन कहता है कि तुम कवि नहीं हो? श्लोक बनाना ही तो कविता नहीं है।..................भट्ट कविता श्लोक को नहीं कहते। हमारे यवन साहित्य में गद्य को काव्य का 'निकषा' कहा है। छन्द, तुक और अलंकार तो काव्य के प्राण नहीं हैं, प्राण हैं रस, विशुद्ध सात्विक रस। सच्चे कवि हो। मेरी बात गाँठ बाँध लो तुम इस आर्यावर्त के द्वितीय कालिदास हो।"[3]

---

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1 राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 24
2. " " 40
3. " ;; 106

पौराणिक वृत्ति :-

आचार्य द्विवेजी जी ने ''बाणभट्ट की आत्मकथा'' उपन्यास में अन्य विषयों के अतिरिक्त पौराणिक विषयों का वर्णन किया। पात्रों के द्वारा पुराणों एवं धार्मिक ग्रन्थों में लिखित विषयों को 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास में प्रस्तुत किया गया। निपुणिका बाणभट्ट को जब भट्टिनी का उद्धार करने हेतु कहती। तब निपुणिका का विचार था –'' तुम असुर गृह में आबद्ध लक्ष्मी का उद्धार–करने का साहस रखते हो?..........इस सीता का उद्धार करते समय तुम्हें जटायु की भाँति शायद प्राण दे देना पड़ेगा।''[1]

निपुणिका द्वारा ज्योतिषी के सन्दर्भ में बताये जाने पर बाणभट्ट कहते हैं –''हमारे पुराण प्रथित ग्रह देवताओं की जाति, स्वभाव और लिंग तक में अद्‌भुत विरोध स्वीकार कर लिये गये हैं। हमारे पुराण प्रसिद्ध शुक्र और चन्द्रमा इस ज्योतिष में स्त्री गृह मान लिये गये हैं।..........गृह मैत्री का अद्‌भुत विधान है। आर्य पुराण ग्रन्थों से इसं मैत्री बन्ध का कोई समर्थन नहीं होता।''[2]

सत्य क्या है? इस सन्दर्भ में कृष्णवर्धन ने बाणभट्ट से कहा था–'' देखी सुनी बात को ज्यों का त्यों कह देना या मान लेना सत्य नहीं है। सत्य वह है जिससे लोक का आत्यन्तिक कल्याण होता है। ऊपरसे यह जैसा भी झूठ क्यों न दिखायी देता हो, वही सत्य है।''[3]

बाणभट्ट लौरिक देव के राजगृह में पहुँचा, तब वह राजगृह की स्थिति के बारे में सोचता। आचार्य द्विवेदी जी ने लिखा –''वात्स्यायन में सैकड़ों वर्ष पहले पाटलिपुत्र के नागरिकों की जीवन चर्चा को देखकर जो व्यवस्था सुझायी थी, वह आज समूचे भारतखण्ड के अभिजात जनों का आदर्श बन गयी है।''[4]

---

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1 राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 35
2. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1 राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 116
3. बाणभट्ट की आत्मकथा, महाभारत, शान्ति 229,13 पृ0सं0 97,98
4. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 210

इतिहास :-

इतिहास अतीत में घटित होने वाली घटनाओं का क्रमबद्ध अध्ययन है। इतिहास के द्वारा व्यक्ति अतीत में घटित जो भी हुआ है, उसकी स्थिति तथा परिणाम के बारे में जानकारी ले सकता है। इस उपन्यास में उत्तर गुप्तकालीन इतिहास की पार्श्वभूमि में कविभट्ट की जीवन कथा प्रस्तुत की गई है। ऐतिहासिक उपन्यास की अपेक्षा के अनुरूप इसमें युगानुरूप वातावरण की ऐतिहासिकता का सफल निर्वाह किया गया है। हर्षयुगीन परिवेश को एक आवयविक इकाई के रूप में प्रस्तुत करना लेखक की इतिहास चेतना का परिचायक है। इस प्रयास में कहीं भी इतिहास के हनन से खटकने वाली अस्वाभाविकता नहीं आई है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में वर्तमान युग की समस्याओं को प्रस्तुत करना चाहते हैं। बाणभट्ट के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध साहित्यकार भारत भूषण अग्रवाल का विचार है–"ये हर्षकालीन भारत के जीवन का अत्यन्त रोचक, प्रामाणिक तथा प्रभावोत्पादक चित्र हैं, जो भारतीय इतिहास और भारतीय प्राचीन साहित्य में दीर्घ मन्थन के उपरान्त लेखक ने निर्मित किया है.............युगीन उपन्यास होते हुये भी उसका सन्देश अतीत का मोह नहीं, वर्तमान में निर्भय कर्म का है और उसमें सार्वभौम सत्य का ऐसा प्रज्ञा पूर्ण प्रकाश है, जो उसे अन्य सभी उपन्यासों से विशिष्ट बनाता है।[1]

द्विवेदी जी के उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में 7वीं शताब्दी के राजा हर्षवर्धन के सामन्तीय युग का चित्रण है। प्रस्तुत उपन्यास में ऐतिहासिक काल को अपनाने में स्वयं द्विवेदी जी का विचार है –"मैं लोगों को जानकारी देना चाहता हूँ, अतीत के संसार की तरह–तरह की जानकारी और उसे रोचक रूप में प्रस्तुत करना चाहता हूँ।[2]

आचार्य द्विवेदी जी ने हर्षकालीन समाज की राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक परिस्थितियों की वास्तविकताओं को ऐतिहासिक संगतियों के साथ प्रस्तुत किया है। इसमें प्रयुक्त हर्षवर्धन, कुमार कृष्णवर्धन, राज्यश्री, ग्रहवर्मा, तथा तुवुरमिलिन्द ऐतिहासिक प्रामाणिक पात्र हैं। बाणभट्ट प्रसिद्ध कवि हैं। इस उपन्यास हर्षकालीन बौद्ध धर्म, वाममार्गी, तंत्र साधना, कौल साधना एवं वैष्णव साधना पद्धतियों का वर्णन किया गया है।

हर्ष वर्धन ने अपने साम्राज्य विस्तार के लिए मगध पर अधिकार कर लिया। उसने मालवा के शासक देवगुप्त को हराकर उसके राज्य को अपने अधीन कर लिया। हर्ष पहले वैदिक धर्म को मानता था, परन्तु बाद में वह बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया। इसकी पुष्टि उसके द्वारा कन्नौज में आयोजित बौद्ध धर्म के महासम्मेलन से होती है। इस सम्मेलन में बौद्ध धर्म के महायान सिद्धान्तों की व्याख्या हुई थी। बौद्धधर्म में दो सम्प्रदाय होते हैं, प्रथम हीनयान, द्वितीय महायान। द्विवेदी जी ने महायान

---

1. हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव–भारत भूषण अग्रवाल, पृं0सं0 154
2. स्मृति की रेखायें, अज्ञेय " 155–156

सम्प्रदाय के विचारों का ही उल्लेख किया है। बौद्ध धर्म के सिद्धान्त अहिंसावादी थे। वह वैदिक यज्ञों एवं कर्मकाण्डों का विरोध करते थे। हर्षवर्धन अन्य धर्मों के प्रति भी बहुत उदार था। वह सभी धर्मों के अनुयायियों को खुलकर दान देता था। उसके समय में वैदिक तथा जैनधर्म भी विकसित दशा में थे।

हर्षवर्धन के समय में बौद्ध विहारों में शिक्षा प्रदान की जाती थी, आचार्य शिक्षण कार्य किया करते थे। द्विवेजी जी ने तद्युगीन संगीत कला एवं कवियों की स्थिति के सन्दर्भ में वर्णन किया है। उस समय में भी संगीत में नृत्यकला तथा विभिन्न भाषाओं के कवियों का सम्मान होता था। बाणभट्टनेकुमार कृष्णवर्धन से मिलकर लौटते समय रास्ते में देखा कि सरस्वती मन्दिर में मदनोत्सव के उपलक्ष्य में चारूस्मिता का मयूर नृत्य तथा पद्य नृत्य का आयोजन है। सरस्वती मन्दिर के सामने प्रेक्षाशाला में देखा कि –''सभापति के दाहिनी ओर संस्कृत के कवियों के लिए आसन निर्दिष्ट थे और बाँयीं ओर प्राकृत और अपभ्रंश कवियों के लिए।''[1]

कुमार कृष्ण वर्धन उदार एवं उच्च चरित्रवान शासक था। बाणभट्ट जब निपुणिका एवं भट्टिनी को छोड़कर सामनेर के साथ कुमार कृष्णवर्धन से मिलने के लिए जाते है, तभी सामनेर के द्वारा कुमार कृष्ण वर्धन के प्रति विचार दृष्टव्य है –''कुमार बड़े उदार हैं, विद्वानों का, गुणियों का सम्मान करते। यद्यपि तरुण है, पर चरित्र के उज्ज्वल तथा बुद्धि के परिपक्व हैं। ....कुमार कृष्णवर्धन कान्यकुब्जों में रत्न है, वे खरा खोटा पहचानते हैं।''[2]

चीन की मूची कबीले की जाति ने भारत पर आक्रमण कर कुषाण साम्राज्य की स्थापना की। कदफिसेज और कनिष्क इस वंश के प्रमुख शासक थे। कुषाण साम्राज्य की सीमाएं अफगानिस्तान, कश्मीर, पंजाब, सिन्ध तथा उत्तर प्रदेश तक फैली हुई थी। इस काल (कुषाण काल) में भवन निर्माण कला तथा गान्धार मूर्ति कला का बहुत विकास हुआ है। आचार्य द्विवेदी जी ने कुषाण कला का परिचय देते हुये कहा–''भारतीय शिल्पियों के अनुकरण पर कुषाण नरपतियों ने उर्ध्वमुख चरण तल वाले पद्मासन ही बँधाये हैं।.............इस मूर्ति में बुद्ध का मस्तक मुण्डित बनाया गया था, जब कि शक नरपतियों की मूर्तियों में दक्षिणावर्त कुंचित केश कुछ जंचते नहीं दिखते।''[3]

कुमार कृष्णवर्धन ने भट्टिनी को देने के लिए बाणभट्ट को दो अपहार दिये, जिसमें एक मूर्ति बुद्ध की थी उस समय शक नरपतियों द्वारा भारतीय एवं यावनी शिल्प की गंगा जमुना मूर्ति की अपेक्षा तथा कुषाण नरपतियों द्वारा बनायी गयी मूर्ति को सजीव बताया है। यह भी बताया कि गुप्तों की मूर्ति कला से उनका सम्बन्ध नहीं था।

चौथी शताब्दी का प्रारम्भ काल भारतीय इतिहारा में गुप्तकाल के नाम से

---

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 100
2. " " 64, 66
3. " " 99

प्रसिद्ध है। जो कि स्वर्णकाल माना जाता है। गुप्तकाल की शासन व्यवस्था बहुत ही सुदृढ़. थी। राजा, न्याय सेना और प्रशासन का प्रधान होता था। गुप्तकालीन शासकों में चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमार गुप्त तथा स्कन्द गुप्त थे। चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए महाराजाधिराज की उपाधि धारण की, नया 'गुप्त संवत' लागू किया तथा लिच्छवि वंश की राजकुमारी से विवाह करके अपना प्रभाव बढ़ाया। समुद्रगुप्त एक वीर कुशल शासक और महान विजेता, विद्वान सम्राट थे। उन्होंने अनेक राजाओं से युद्ध करके उन्हें पराजित किया तथा उनके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया, उन्होंने विन्ध्य क्षेत्र में वन प्रदेश के राजाओं को हराकर उन्हें अपना सेवक बनाया। दक्षिण पूर्वी तट के राज्यों के शासकों को युद्ध में पराजित किया तथा उन्हें उनका राज्य वापस कर अपना मित्र बना लिया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने साम्राज्य की सुरक्षा हेतु मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र के शासकों को हराया तथा उनका राज्य अपने साम्राज्य में मिला लिया था उसने अश्वमेघ यज्ञ का आयोजन करके विक्रमादित्य की उपाधि धारण की और नागकुल तथा वाकाटक देशों से वैवाहिक सम्बन्ध बनाकर अपनी स्थिति को सुदृढ़ किया था। गुप्तकाल में प्रजा सुखी एवं सन्तुष्ट थी। राज्य में चोर डाकुओं का कोई भय नहीं था। अपराधियों को कठोर दण्ड दिया जाता था। जीवहत्या तथ मदिरा पीने का प्रचलन नहीं था। गुप्तकाल में साहित्य, कला के क्षेत्र में बहुत उन्नति हुई थी। गुप्तकाल में भवन निर्माण, मूर्तिकला तथा चित्रकला का खूब विकास हुआ। इस काल में मन्दिर, स्तूप तथ गुफाओं में भिन्न चित्र बनाये गये। अजन्ता के गुफा मन्दिर उच्चकोटि की कला के प्रतीक है, इस काल में बुद्ध की ताँबे की मूर्तियाँ भी बनायी गयीं। प्रस्तुत उपन्यास में बाणभट्ट लोरिक देव के घर गये वहाँ एक अभीर सैनिक ने पत्र दिया, जिसमें गुप्त-कालीन शासकों की वीरता, पराक्रम, युद्ध कुशलता, का वर्णन किया गया था। उस पत्र में लिखा था –"आज स्कन्द के अवतार समुद्रगुप्त नहीं हैं जिनके धनुष टंकार से योद्धाओं का दर्प दलन किया था, म्लेच्छों का मान मर्दन किया था, मन्दिरों एवं मठों के विध्वंसों का प्राणहरण किया था। आज नृसिंह पराक्रम चन्द्रगुप्त नहीं हैं, जिन्होंने चारों समुद्रों को अपने सुरक्षित यश से सुगन्धमय बना दिया था,..... ......आज प्रचण्ड पराक्रम मौखरि वीर विग्रह वर्मा नहीं है, जो शत्रुओं के लिए काल और दीनों के लिए कल्पवृक्ष थे।"[1]

स्कन्दगुप्त अन्तिम शासक था अतः गुप्तवंश के अन्त के सन्दर्भ में द्विवेदी जी लिखते हैं –"स्कन्दगुप्त के साथ गुप्तों का प्रतापानल शान्त हो गया।"[2]

'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास में मौखरि वंश के यशोवर्मा की वीरता तथा राज्यश्री के गुणों का वर्णन किया गया है। एक वृद्ध ने बाणभट्ट से भट्टिनी एवं निपुणिका के स्थाण्वीश्वर जाते समय राज्यश्री के सन्दर्भ में विचार दिया–"मैं पट्ट देवी राज्यश्री की आज्ञा से बौद्ध नरपति की सेवा

---

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 140
2. " " 211

कर रहा हूँ। पट्ट देवी हर जटा प्रवाहित जाहवी की भांति पवित्र हैं, अद्वितीय पति धर्मचारिणी अरुन्धती की पार्थिव विग्रह हैं................ये मौखरियों की नेत्री हैं, वे ही उनका सर्वस्व हैं। आज उस देवी के रूप में ही मौखरि राजलक्ष्मी जीवित हैं ....उनकी दयालुता के कारण ही छोटा महाराज अभी जीवित हैं, नहीं तो मौखरियों का कलंक यह राजा नामधारी अत्याचारी भेड़िया कब तक जा चुका होता।"[1]

इस उपन्यास में द्विवेदी जी ने ऐतिहासिक उपन्यास की अपेक्षा के अनुरूप युगानुसार वातावरण की ऐतिहासिकता का सफल निर्वाह किया है। द्विवेदी जी ने 7वीं सदी के गुप्तकालीन शासन का, हर्षयुगीन धार्मिक स्थिति का उल्लेख किया। गुप्तकालीन शासकों की वीरता, पराक्रम, शौर्यता का भी वर्णन किया गया है। तद्‌युगीन कुषाण कालीन मूर्तिकला एवं गान्धार मूर्तिकला का भी उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

---

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 –119

राजनीति :-

द्विवेदी जी की मानवतावादी दृष्टि राजनीत में निरंकुशता के स्थान पर लोक कल्याण भावना की प्रतिष्ठा का समर्थन करती है। वे अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लोक शक्ति के जागरण में विश्वास करते हैं। उनके मतानुसार देश रक्षा के लिए शासक व प्रजा दोनों का सहयोग आवश्यक है। उनकी राष्ट्रीयता विश्वमंगलकारी मानवतावाद में बाधक नहीं बनकर साधक ही बनती है।

राजनीति, सत्यधर्म, साहित्य, कला इन सब की सद्भाव (अस्तित्व) एवं उपादेयता सामाजिक हित साधना में भी है। द्विवेदी जी कुमार कृष्ण वर्धन के माध्यम से राजनीति के सन्दर्भ में विचार प्रस्तुत करते हैं–"राजनीति भुजंग से भी अधिक कुटिल है, असिधारा से भी अधिक दुर्गम है, विद्युत शिखा से भी अधिक चंचल है।"[1]

द्विवेदी जी ने स्थाण्वीश्वर की राजनीति का वर्णन करते हुये निपुणिका द्वारा भट्ट को बताया कि –"जब से महाराजाधिराज श्री हर्षवर्धन ने अपने बहिनोई का राज्य भी अपनी ही छत्रछाया में ले लिया, तब से उक्त बहिनोई के एक दूर के सम्बन्धी को जो मौखरि सिंहासन का उत्तराधिकारी हो सकता था– इस नगर में आश्रय मिला है। इधर की जनता में अब भी मौखरि वंश के प्रति प्रबल सम्मान भाव वर्तमान है।"[2]

द्विवेदी जी ने वहाँ की अनुत्तरदायी भोगलिप्सा अनाचार की स्थिति को वर्णित किया है। वहीं भट्टिनी को भी कैद किया गया है। द्विवेदी जी ने कान्यकुब्जेश्वर के बाद के देशों की अराजकता का भी वर्णन किया है। उत्तर का काशी, दक्षिण का करुष जनपद में महाराजाधिराज के ज्येष्ठ ब्राह्मणों को भूमि का अग्रहार देकर अपने पक्ष में कर लेते हैं। द्विवेदी जी ने अराजकता को वर्णित करते हुये लिखा है –"महाराजाधिराज के ज्येष्ठ ने यहाँ बड़ी कुशलता की नीति बरती थी। उन्होंने उत्तरी तट के कुछ ब्राह्मणों को भूमि का अग्रहार देकर अपने पक्ष में कर लिया है।.................उनमें वैदिक क्रियालोप होती जा रही है। अब वे खुलकर बौद्ध राजा का समर्थन करने लगे हैं।"[3]

महाराजाधिराज बहुत ही गहन गम्भीर न्यायी, प्रजावत्सल, कुशल प्रशासक होना चाहिए। राजा में प्रजा के प्रति प्रेम एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार होना चाहिए। महाराजाधिराज में ऐश्वर्यमद एवं तेजोभ्रष्टता नहीं होना चाहिए। बाणभट्ट को परमलम्पट कहे जाने पर बाणभट्ट सोचते हैं –"मुझे उस समय प्राणों की कोई परवाह नहीं थी, परन्तु फिर भी ऐसा उत्तर नहीं दे सका, जो उचित कहा जा सकता है, जो महाराजाधिराज को यह अनुभव करा देता कि महाराजा होने मात्र से किसी को किसी विषय में अनर्गल विचार रखने का अधिकार नहीं हो जाता।"[4]

---

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 – 97
2. " " 36
3. " " 118
4. " " 156

मानव समाज ने अपनी सुरक्षा व समृद्धि के लिए जिस राज्यसंस्था को जनम दिया, वही राज्य संस्था यदि सत्ता दृप्त होकर व्यक्ति के शोषण, अत्याचार व अन्याय में प्रवृत्त हो जाती है, तो समाज के लिए अभिशाप बन जाती है। प्रस्तुत उपन्यास में हर्षयुगीन राजनीतिक परिवेश के माध्यम से सत्ता की इसी निरंकुश वृत्ति को उजाकर किया गया है। राजतंत्रीय शासन व्यवस्था में निरंकुशता के लिए अधिक गुंजाइश रहती है। स्थाण्वीश्वर का भण्डराजकुल उन्मत्त सत्ता मदान्धता का प्रतीक है, जहाँ सैकड़ों आर्यललनायें पशुता का शिकार बनती हैं।

सत्ता लोलुप राजनीति केवल स्वार्थ की भाषा जानती है। सत्ताधारी शासक विभिन्न वर्गों या शक्तियों को राजनीतिक दबाव से स्वार्थवश अन्यायपूर्ण आचरण करते हैं। जागृत लोकशक्ति का सामूहिक प्रयास ही इस अन्याय का प्रतिरोध कर सकता है। प्रस्तुत उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में द्विवेदी जी द्वारा स्थाण्वीश्वर का राजनीतिक घटनाचक्र इसी तथ्य को पुष्टि करता है। सम्राट हर्षवर्धन स्वार्थवश भण्ड राजकुल के पाप आचरण को अनदेखा कर देता है। अपने किसी सामन्त श्रेष्ठी को प्रसन्न करने के लिए सुचरिता एवं विरतिवज्र को बन्दी बना लेता है, तथा अवधूत अघोरभैरव एवं वेंकटेशभट्ट को निष्कासित कर देता है। इस अन्याय को देखकर महामाया लोकशक्ति का आह्वान करती हैं। वह आर्य विरतिवज्र एवं आयुष्मती सुचरिता को निर्दोष बताती हैं, तथा समस्त नागरिकों को देश की रक्षा हेतु स्वयं को बलिदान होने के लिए प्रेरित करती हुयीं कहती हैं –"आर्य सभासदों, उत्तरापथ के लाख–लाख नौजवानों ने क्या कंकण–वलय धारण किया? क्या वे वृद्धों और बालकों, बेटियों और बहुओं, देवमन्दिरों और बिहारों की रक्षा के लिए अपने प्राण नहीं दे सकते हैं? क्या इस देश के विद्वानों में स्वतंत्र संघटन बुद्धि का विलोप हो गया है।"[1]

भारतीय समाज में नारी को पूज्य तथा श्रद्धेय समझा जाता है, उनके प्रति अत्याचार करना, तथा उनको अपमानित करना अनुचित माना जाता है। लेकिन कुछ शासकों की नीति कुछ पृथक ही होती है, वह बहू बेटियों के प्रति अमानवीय व्यवहार करते हैं, उनका अपहरण करवाते हैं तथा विक्रय का भी व्यवसाय करते हैं। द्विवेदी जी ने भी इस उपन्यास में निरीह प्रजा की बहू बेटियों के प्रति राजा द्वारा अपनायी गयी नीति को वर्णित किया है। उत्तरापथ में लाख लाख निरीह बहूओं एवं बेटियों के अपहरण एवं विक्रय का व्यवसाय चल रहा था। इस घृणित व्यवसाय के प्रधान आश्रय सामन्तों और राजाओं के अन्तःपुर हैं। महाराजाधिराज की चामर धारिणियाँ और करंक वाहिनियाँ इसी प्रकार भगायी हुई और खरीदी हुई कन्याएँ हैं। महाराजाधिराज स्वयं शुद्ध शील होकर भी सैकड़ों ऐसे सामन्तों को आश्रय दिये हुये हैं, जिनका एकमात्र प्रताप कन्याहरण में ही प्रकट होता है। महामाया राज्य की

---

1. बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन पृ0 सं0 – 174

बहूबेटियों की शोचनीय स्थिति को देखते हुये प्रजा को संघटित होने के लिए प्रेरित करती हुई कहती है –"अमृत के पुत्रों, मृत्यु का भय माया है, राजा से भय दुर्बल चित्त का विकल्प है। प्रजा ने राजा की सृष्टि की है। संघटित होकर म्लेच्छवाहिनी का सामना करो। देवपुत्रों और महाराजाधिराजाओं की आशा छोड़ो। समस्त उत्तरापथ की लाज तुम्हारे ही हाथों में है।"[1]

प्रजा का अपने धर्म की रक्षा करना प्रमुख कर्तव्य है। देश में बहू बेटियों पर होने वाले अत्याचारों से भी मुक्ति दिलाना प्रजा का कर्तव्य है। उसे वैयक्तिक सुख का त्याग करना चाहिए। मृत्यु का भय नहीं होना चाहिए, क्योंकि मृत्यु का भय माया है। महामाया न्याय के लिए प्राण देना तक आवश्यक मानती है। द्विवेदी जी के प्रस्तुत उपन्यास में महामाया कहती हैं–"अमृत के पुत्रों धर्म की रक्षा अनुनय विनय से नहीं होती, शास्त्र वाक्यों की संगति लगने से नहीं होती, वह होती है अपने को मिटा देने से। न्याय के लिए प्राण देना सीखो, सत्य के लिए प्राण देना सीखो, धर्म के लिए प्राण देना सीखो।"[2]

लेखक की मान्यता है, न्याय का अधिकार माँगने से नहीं मिलता है। उनकी प्राप्ति के लिए प्रबल संघर्ष करना पड़ता है। अपने न्यायोचित अधिकारों के लिए जनता में जागरूकता होना चाहिए। महामाया उचित न्याय प्राप्त करना अधिकार मानती हुई कहती है –"अमृत के पुत्रों न्याय जहाँ से भी मिले, वहाँ से बलपूर्वक खींच लाओ। यदि तुम समझते कि न्याय पाना मनुष्य का धर्म सिद्ध अधिकार है, और उसे न पाना अधर्म है।"[3]

लेखक की दृष्टि में जाग्रत और संगठित लोकशक्ति ही राष्ट्र की रक्षा कर सकती है। प्रत्यन्त दस्युओं के आक्रमण की बेला में महामाया सम्पूर्ण देश की एकता को सूत्र में बांधकर राष्ट्ररक्षा करने की प्रेरणा देती है। एकता में ही शक्ति है। यदि मानव जाति, धर्म, ऊँच, नींच के भेदभाव को भुलाकर एक जुट हो जाये तो वह किसी भी शक्ति से पराजित नही हो सकता है, तथा देश की रक्षा कर सकता है। अतः महामाया की दृष्टि में न्याय पा जाने से समस्या समाप्त नहीं हो जाती है। दुर्द्धष म्लेच्छवाहिनी का सामना करने में राजपुत्रों की वेतनभोगी सेना असफल रहेगी। ब्राह्मण और चाण्डालों को बहू बेटियों की मान मर्यादा के लिए तैयार करने हेतु प्रेरित करती हुई कहती है –"अपने आपको बचाओ, धर्म पर दृढ़ रहो, न्याय के लिए मरना सीखो, ब्राह्मणसे लेकर चाण्डाल तक एक हो जाओ–चट्टान की तरह दुर्भेद्य एक। यही बचने का उपाय है।"[4]

द्विवेदी जी ने राजनैतिक अव्यवस्था का चित्रण किया है। स्थाण्वीश्वर की राजलक्ष्मियों को ठुकराया गया है। उसी समय देश की स्थिति विदेशी आक्रमणकारियों के भय से ग्रस्त थी। राजा किसी भी विरोधी आन्दोलन को दबाने हेतु राजनैतिक चातुरी का प्रयोग करता था। भट्टिनी

1, 2 हजारी प्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा, गन्थावली–1 राजकमल प्रकाशन – 175

3, 4 " " " 176

तथा सुचरिता को राज्यभक्त बनाने हेतु किये गये कार्य इसी प्रकार के हैं। दुर्दान्त दस्युओं के भय से ग्रस्त समाज के लिए महामाया सन्देश देती है –"राजाओं का भरोसा करना प्रमाद है, राजपुत्रों की सेना का मुंह ताकना कायरता है। आत्मरक्षा का भार किसी एक जाति पर छोड़ना मूर्खता है। जवानों, दस्यु आ रहे हैं।"[1]

यदि देश में किसी बाह्‌य शक्ति का आक्रमण होने वाला हो, तो समस्त प्रजा को एक होकर सामना करना चाहिए। अतीत में जब भी ईर्ष्या द्वेष की भावना होती थी, अराजकता होती थी, तो दूसरी शक्ति आधिपत्य करने में सफल हो जाती थी। प्रस्तुत उपन्यास में गैरिक धारण भैरवियाँ गान कर रही थी –"आर्यावर्त के तरुणों जीना सीखो, मरना सीखो, इतिहास से सीखना सीखो। आर्यावर्त नाश के कगार पर खड़ा है। जवानों, प्रत्यन्त दस्यु आ रहे हैं।"[2]

'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास में 7वीं शताब्दी के भारत की राजनीतिक स्थिति का अत्यधिक सफल चित्रण किया गया है। विदेशी हूणों के आक्रमणों से आक्रान्त विश्रृंखलित राजनीतिक वातावरण चित्रित किया गया है। हूणों को म्लेच्छ तथा प्रत्यन्त दस्यु कहकर उसकी नृशंसता का अनेकशः उल्लेख मिलता है –"समुद्रगुप्त के प्रताप ने क्या किया चन्द्रगुप्त के रणहुँकार ने क्या किया, मौखरियों की दुर्दान्त वाहिनी ने क्या किया, म्लेच्छ अब भी जीवित है। अमृत के पुत्रों प्रत्यन्त दस्यु आ रहे हैं।"[3]

आपस में ही लड़ते रहने वाले छोटे–छोटे राज्यों स्थाण्वीश्वर के सबसे बड़े कान्यकुब्ज शासन तथा हर्षवर्धन, कुमार कृष्णवर्धन, राज्यश्री यशोवर्मा, धावक, भुर्वुपाद, तुवुरमिलिन्द के चरित्रों एवं क्रियाकलापों द्वारा तद्‌युगीन सामाजिक व्यवस्था को साकार किया गया है। इनके द्वारा ही सामन्तों की कलाप्रियता, कूटनीति, आदर्शप्रशासन, विलासिता का अड्डा बने हुये अन्तःपुर उच्छृंखलित राजसभा, राज्य सुरक्षा व्यवस्था तथा राजनीति का समुचित ऐतिहासिक उल्लेख है। उस समय राजा को स्वार्थ ने, प्रजा को भय ने और विद्वानों को राजप्रिय बनने की लिप्सा ने अंधा कर दिया था। उक्त कथन वर्तमान स्थिति पर भी सत्य सिद्ध होता है। लेखक वर्तमान समाज की खोई हुई, सोई हुई, चेतना को जगाना चाहता है, उद्‌बुद्ध करना चाहते थे। प्रस्तुत उपन्यास में दो गैरिक धारिणी भैरवियाँ मधुर उदात्त कण्ठ से जनता को राजाओं की लम्पटता से अवगत कराती हैं, अन्तःपुर की निर्यातित बधुओं की स्थिति बताती हैं तथा राजशक्ति के खोखलेपन को बताती हुई कहती हैं कि–" समस्त आर्यावर्त एक है एक समाज, एक प्राण, एक धर्म। देश रक्षा सबका संमान धर्म है।...........अरे ओ अमृत के पुत्रों इन राजाओं में लम्पटता बढ़ गई है, इनके अन्तःपुर निर्यातित वधूओं के क्रन्दन से भरे हुये हैं। राजशक्ति के मूल में घुन लग गया है। जवानों, प्रत्यन्त दस्यु आ रहे हैं।"[4]

1, 2 हजारी प्रसाद द्विवेदी की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 225
3. 4 " " " 225

आचार्य द्विवेदी जी देश में लोक कल्याणकारी तथा देश भक्ति की भावना प्रसारित करने के पक्षधर थे। द्विवेदी जी ने स्थाण्वीश्वर की भोगलिप्सा तथा अनाचारवादी नीति को प्रस्तुत किया है। हर्षवर्धन एक निरंकुश शासक था। द्विवेदी के अनुसार राजा को ऐश्वर्यवादी तथा अत्याचारी के स्थान पर प्रजावत्सल तथा लोक कल्याणकारी होना चाहिए। महामाया के द्वारा दस्युओं के आक्रमण के समय जनता को एकता के सूत्र में बँधने का आदेश दिया गया है।

धर्म :-

धर्म मानव के आत्मिक उन्नयन का साधन है। मानव की प्रबुद्ध प्रजा जीवन को निरर्थक व निरूद्देश्य प्राण प्रवाह मात्र न मानकर कुछ महान लक्ष्यों की पूर्ति में इसकी सार्थकता स्वीकार करती है। व्यक्ति के द्वारा कुछ उच्च आदर्शो से अनुप्राणित होकर अपने जीवन की सार्थकता के लिए किया जाने वाला विवेकपूर्ण आचरण धर्म कहलाता है।

धर्म प्रमुख रूप से आचरणों से ही प्रकट होता है। धर्म के मूल में आचरण की बात ही प्रमुख है। लोकहित में ही मानव का हित है। द्विवेदी जी भी इसी अर्थ में धर्म को स्वीकारते हैं। द्विवेदी जी के अनुसार भी धर्म के मूल में ही मानव कल्याण हैं, और जब मूल में मानव कल्याण है, तो फिर वह किस प्रकार से मानव मात्र का अहितकारक हो सकता है। धर्म के प्रति आस्था होने से व्यक्ति धर्म विरुद्ध आचरण करने से डरता है।

मानव धर्म सत्य और न्याय पर आधारित है। व्यक्ति का कर्तव्य है, वह सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये जीवन व्यतीत करे, क्योंकि न्याय पाना मानव का धर्म है। अन्याय को सहना आत्मदमन है। मानव धर्म की रक्षा के लिए महामाया इस उपन्यास में कहती हैं –"धर्म की रक्षा अनुनय विनय से नहीं होती, शास्त्र वाक्यों की संगति लगाने से नहीं होती, पर होती है अपने को मिटा देने से....................न्याय पाना मानव का धर्म सिद्ध अधिकार है, और न पाना अधर्म है।"[1]

द्विवेदी जी व्यापक लोकल्याण को धर्म की कसौटी मानते हैं। परम्परागत नियमों का रूढ़ पालन ही धर्म नहीं है। इस उपन्यास में सामान्यतः अन्तःपुरों में पुरुष का चौर्य प्रवेश अपराध माना जाता है, परन्तु लक्ष्य के लिए भट्ट का ऐसा आचरण अधर्म नहीं माना जा सकता है। निपुणिका भी भट्टिनी के उद्धार के लिए किये गये अपने राजद्रोहपूर्ण कृत्य को अधर्म नहीं मानती है। सही समझ प्राप्त होने पर वाभ्रव्य कहते है–"मैं आज स्पष्ट देख रहा कि जितने बँधे बँधाये नियम व आचार है, उनमें धर्म अँटता ही नहीं, वह नियमों से बड़ा है, आचारों से बड़ा है। मैं जिन्हें धर्म समझता रहा वे सब समय और सभी अवस्था में धर्म ही नहीं थे, जिन्हें अधर्म समझता रहा वे सभी समय और सभी अवस्था में अधर्म नहीं कहे जा सकते हैं।"[2]

अन्याय का विरोध करना ही धर्म है। द्विवेदी जी प्रस्तुत उपन्यास में महामाया से कहलवाते हैं न्याय जहाँ कहीं भी है ढूँढ निकालो, उसे खींच कर ले आओ।

मनुष्य की सहज प्रवृत्तियाँ उसके स्वभाव की परिचय कराती है। व्यक्ति का स्वभाव ही उसके स्वधर्म का निर्णायक होता है। स्वभाव के विरुद्ध आचरण व्यक्ति का धर्म नहीं हो सकता। अपनी प्रकृति के विरुद्ध मार्ग में प्रवृत्त होने के कारण ही विरतिवज्र की साधना अधूरी रह जाती है। बाणभट्ट का जीवन स्वभाव साधना का निर्देशन है। वह अलौकिक सिद्धियों में रूचिशील न होकर

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 176
2. " " " 246

लोकहित साधना में ही तृप्ति पाता है। उसकी इस प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर ही अघोर भैरव उसे तंत्र साधना में दीक्षित न करके अपने मार्ग पर ही दृढ़ रहने का परामर्श देते हैं।

आचार्य द्विवेदी जी ने धार्मिक विश्रृंखलता का चित्रण किया है। आपके 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास में तदयुगीन धर्म साधनाओं का समावेश हुआ। बौद्ध धर्म सविकार ग्रस्त होकर सौगत कौल, वाममार्गी आदि अनेक प्रशाखाओं में फैल रहा था। द्विवेदी जी ने ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म तथ वाममार्गी धर्म साधना का प्रचुर मात्रा में वर्णन किया। इसके अतिरिक्त वेंकटेश भट्ट द्वारा प्रचारित एक विशेष प्रकार की धर्म साधना का भी परिचय यहाँ प्राप्त होता है, जिसके विषय में लेखक ने बाणभट्ट के मुख से ही कहलवाया है कि –''परन्तु यह तो अद्भुत मिश्रण है। मगध का साधारण मनुष्य भी इस अनुष्ठान का विरोध किये बिना न रहता, परन्तु कान्यकुब्ज विचित्र देश है। यहाँ बाह्य आचारों में तो तिल मात्र परिवर्तन भी नहीं सहन किया जाता, पर धार्मिक अनुष्ठानों में प्रतिदिन नये–नये उपादान मिश्रित होते रहते हैं। जो हो, है यह बहुत मनोरंजक अनुष्ठान।''[1] सुचरिता द्वारा अंगीकृत एवं वैष्णव तांत्रिक वेंकटेश भट्ट द्वारा उद्घाटित एवं प्रचारित इस अद्भुद धर्म में सुचरिता वासुदेव तथा काम गायत्री की आराधना करती है।''[2] इस धार्मिक पद्धति में जिस प्रकार वाद्य कांस्य करताल के साथ नारायण की स्तुति का प्रस्तुतीकरण हुआ तथा भाव विहवल वेंकटेश भट्ट नारायण–नारायण का गायन करते हुये जिस प्रकार नृत्य की मुद्रा में आ गये उससे यह धर्म आधुनिक समय के हरे कृष्ण हरे रामा सम्प्रदाय के क्रियाकलापों के परिप्रेक्ष्य में लेखक की कल्पना द्वारा रूपायित होकर तत्कालीन समाज के एक अंग विशेष पर आरोपित कर दिया सा प्रतीत होता है। उस समय की प्रचलित महावराह की पूजा का भी वर्णन किया गया है। निपुणिका तथा भट्टिनी के आराध्य महावराह थे।''[3]

उस समय कान्यकुब्ज में बौद्ध धर्म का प्रचलन था। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में महाराजा हर्ष द्वारा बौद्ध धर्म अपनाने का वर्णन किया गया है। ब्राह्मण तथा बौद्ध दोनों में भेदभाव के कारण असन्तुष्ट ब्राह्मणों द्वारा महाराज हर्ष को यन्त्र तंत्र बौद्ध नरपति शब्द से अभिहित किया गया।

चण्डी मन्दिर के ब्राह्मण पुजारी द्वारा सुगतभद्र को घर–घर भीख मांगने वाला[4], सुगतभद्र द्वारा पुजारी को 'मूर्ख और नीच'[5] कहा गया। विद्वेष के कारण ही धनदत्त कहता है–विरतिवज्र का पिता वह उसके एक सहस्त्र दीनार ऋणलेकर मर गया था। जब तक सन्यासी था तब तक उस ऋण से मुक्त था, परन्तु अब क्यों कि वह सुचरिता के साथ गृहस्थी के बन्धन में बँध गया, इसीलिए उसे कुसीदक (सूद) समेत चुकाना चाहिए। ....मैं तो तुम्हें बन्दीशाला तक पहुँचाकर किसी और दिशा की ओर चल दूँगा।''[6] यह जाल बौद्ध भिक्षु वसुभूति द्वारा रचाया गया था, सुचरिता को भी

1, 2 ह0प्र0द्वि, बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 159
3, 4, 5, " " 164
6 " " 33–34

बन्दीगृह में रखा गया उडुपति भट्ट एवं वसुभूति के मध्य शास्त्रार्थ का आयोजन करना इसी राजनीतिक स्वार्थ का परिणाम था।

विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का उद्देश्य पृथक–पृथक रुचि के अनुरूप उपासना के विविध मार्ग बताना है। व्यक्ति की साधना के सुगम, सुबोध एवं गतिमय बनाने के लिए ये सम्प्रदाय कुछ विशिष्ट प्रतीकों एवं बाह्य आचारों का विधान करते हैं। मनुष्य भ्रमवश उपासना के इस बाह्य पक्ष को ही धर्म मान बैठता है। यही मान्यता मिथ्याचार को जन्म देती है। प्रस्तुत उपन्यास में हर्षयुगीन बौद्ध साधना कौल साधना एवं वैष्णव साधना आदि विविध साधना मार्गों के स्वरूप, परिचय एवं रहस्य विश्लेषण की पृष्ठभूमि में धार्मिक मिथ्याचार का विरोध किया गया है। अलौकिक सिद्धियों के लोभ में अन्धविश्वासपूर्ण जड़ तांत्रिक क्रियाओं में लिप्त रहने वाला द्रविड़ साधु इसी मिथ्याचार का विद्रुप चित्र है।

प्रस्तुत उपन्यास में वज्रतीर्थ के द्वारा तंत्र साधना में नरबलि की प्रथा का भी उल्लेख किया गया है। इन साधनाओं की वीभत्सता को चित्रित किया है –''वज्रतीर्थ एक विशाल श्मसान था। चारों ओर नीम के तेल में भुने हुये लशुन के समान जलते शवों की दुर्गन्ध व्याप्त हो रही थी। सारा श्मसान घाट सिद्धों व स्यारों के पदचिन्हों से भरा था। हड्डियों व मांस के छिन्न खण्डों के ऊपर संध्या का धूसर प्रकाश बड़ा भयावना दिखाई दे रहा है।''[1]

वाममार्गी साधना में रत सन्यासियों एवं भैरवियों के दर्शन को सर्वाधिक मात्रा में प्रस्तुत किया गया है। भैरव भैरवी की साधना की पूर्व क्रिया कलाप का वर्णन किया गया है। साधना काल के कारण (मदिरा) से भरे हुये पात्र के महत्व से लेकर एक विधि की चरण परिणति तक प्रत्यक्ष निरूपण भी ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। अघोर भैरव वाममार्गी साधना के गोपन रहस्य को स्पष्ट करते हुये कहते हैं–''इस ब्राह्मण्ड का प्रत्येक अणु देवता है देवता के जिस रूप ने तुझे सबसे अधिक मोहित किया है, उनकी पूजाकर।''

अघोरघण्ट एवं चन्डमण्डना की भीषण एवं वीभत्स तांत्रिक साधना एवं साधना जाल में नरबलि का प्रसंग वाममार्गी साधकों के प्रति जहाँ वितृष्णा के भाव को जाग्रत करता है, वहां अघोर भैरव की उदात्त चेष्टा में तथा बाणभट्ट के प्रति वत्सलता की मनोवृत्ति [2] उनके प्रति सम्मान, श्रृद्धा का भाव भी जाग्रत करती है। द्विवेदी जी ने लिखा है –'' वे व्याघ्र चर्म पर अर्द्धशापित अवस्था में लेटे हुये थे...............ललाटमण्डल की सहज बलि या कूर्च प्रदेश तक व्याप्त हो गयी थी...............उनकी आँखें बहुत–ही आकर्षक थी...................सदा आधी खुली रहने के कारण उनके नीचे मांस खण्ड फूल उठे थे, और कोने में स्थायी सिकुड़न थी। दाहिनी ओर रखा पान पात्र देखकर अनुमान होता था, कि वे कोई वाममार्गी अवधूत होंगे।[3]

---

1. ह0प्र0द्वि0, बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 130
2. " " " 75
3. " " " 81

'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास में अघोर भैरव तथा भैरवी महामाया की वाममार्गी तंत्र साधना, चण्डी मण्डप के पुजारी की ढोंग आडम्बरयुक्त पूजा, सुगतभद्र की बौद्ध साधना, वज्रतीर्थ की शक्ति साधना, सुचरिता विरतिवज्र की वैष्णव साधना, भट्टिनी तथा निपुणिका की महावराह वैष्णव उपासना आदि धार्मिक घटनायें हैं।

लेखक की दृष्टि में सत्यनिष्ठा धर्म का प्रधान तत्व है। अधूरा विश्वास मिथ्या आचरण को जन्म देता है। झूठ व्यक्ति को भयभीत बनाता है। अघोरभैरव बाणभट्ट को गुरू तंत्र, मंत्र लोक समाज, वेद शास्त्र की चिन्ता न करके कर्म में दृढ. रहने को कहते हैं–"डरना नहीं चाहिए, जो परिणाम हो उसे मानना चाहिए, उसे अन्त तक मानना चाहिए।

बाणभट्ट इस मंत्र की गाँठ बाँध लेते हैं, व्यापक लोकहित की तुला पर अपना कर्तव्य निश्चित करके तद्नुकूल आचरण करने में वह हिचकता नहीं है। भट्टिनी की प्राणरक्षा के लिए महावराह प्रतिमा को जल में विसर्जित करने का निर्णय तथा एकाकिनी मूर्च्छित भट्टिनी के शिथिल वस्त्रों को ठीक करने के लिए अपने स्वाभाविक संकोच का परित्याग उसकी यही निर्भयता साधना का संकेत करते हैं। इसके अतिरिक्त चण्डीमण्डप के पुजारी द्वारा धर्म की आड़ में ढोंग, पाखण्ड का चित्रण हुआ है। इस प्रकार सम्पूर्ण राजतंत्र और समाज को धर्म साधनाओं से प्रभावित जकड़ा हुआ दिखाया गया है। ऐसे धार्मिक विषयों की सृष्टि में लेखक की मनोभूमि विविध धर्मों को संकीर्णता से हटाकर कल्याणोन्मुख बनाना है।

संस्कृति :–

आचार्य द्विवेदी जी के उपन्यास इतिहासपरक संस्कृति के उपन्यास हैं। उन्होंने उस युग की रीति रिवाज, उत्सव ललित कलाओं, रहन–सहन, वेश–भूषा, लोक व्यवहार और शिष्टाचार, सम्मान का औचित्यपूर्ण सहज स्वाभाविक चित्रण किया है, जो तद्युगीन सांस्कृतिक चेतना के अभिन्न अंग हैं। द्विवेदी जी की दृष्टि में भारतीय संस्कृति का मूल आधार सर्वत्र या प्राणिमात्र के आत्यन्तिक कल्याण की भावना है। द्विवेदी जी ने प्राचीन संस्कृति से प्राप्त अस्वस्थ परम्पराओं को अपने ढंग से समाजोपयोगी बनाकर प्रस्तुत किया है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' की संस्कृति भारतीय इतिहास के 'गुप्तयुग' (स्वर्णकाल) की संस्कृति है। हर्षदेव कलाप्रेमी एवं कलाकार थे, बाणभट्ट उनके राजकवि थे। प्रस्तुत उपन्यास में सामाजिक प्राणियों के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक तथा नैतिक क्रिया कलापों का वर्णन पद–पद पर उपलब्ध है। आधुनिक समय की तरह उस काल में भी स्त्रियाँ मांगलिक अवसरों पर नृत्यादि के आयोजन के साथ–साथ जुलूस के रूप में ग्रामों तथा नगरों के मार्गों पर निकलती थी। कुमार कृष्णवर्धन के पुत्र के जन्म के अवसर पर ऐसे ही एक उत्सव का आयोजन उपन्यास में भी प्राप्त होता

है। बाणभट्ट स्थाण्वीश्वर पहुँचते है, वहाँ जन्मोत्सव मनाया जा रहा था। वहाँ की जनता हर्षोल्लास के साथ इस उत्सव में भाग ले रही थी। वहाँ की जनता जुलूस लेकर निकल रही थी, जुलूस में स्त्रियों की संख्या अधिक थी। राजमहल में रहने वाले बौने, कुबड़े, नपुंसक और मूर्ख लोग उद्धत नृत्य से विहवल होकर भागे जा रहे थे। वहाँ के नृत्य गान का वर्णन करते हुये लिखा है –''यहाँ का नृत्य गान–संयत, गम्भीर और मनोहरी था। एक ओर भेरी मृदृंग, पटल का हल और शंख के निनाद से धरती फटी जा रही थी और दूसरी ओर राजकन्याओं के कपोलतली के आन्दोलित मणिमय कुण्डलों और उत्पल पात्रों से जगमगाती हुई शिविकाएँ बीच बीच में सनूपुर चरणों की ईषत् झंकार से मुखरित हो उठती थी। सबके पीछे राजा के चारण तथा बन्दी लोग विरुद गान करते हुये जा रहे थे। उनमें से कुछ तो आनन्दातिरेक में ऐसे मदमस्त थे कि मुख से ही एक विशेष प्रकार के वाद्य का काम ले रहे थे।''[1]

रत्नावली नाटिका (श्री हर्ष) स्वप्नवासवदत्तम, (भास) तथा मालती माधव (भवभूति) के वर्णनों से मिलता जुलता मदनोत्सव का वर्णन भी प्रस्तुत उपन्यास में विस्तृत एवं मनोहारी रूप में किया गया है।

बाणभट्ट को राजकवि का सम्मान देना, सम्राट हर्ष द्वारा 'रत्नावली' नाटिका की रचना तथा जनकल्याण हेतु भट्टिनी का भट्ट को कविता के लिए प्रेरित करना तद्युगीन साहित्य परम्परा को प्रस्तुत करते हैं। द्विवेदी जी निपुणिका का नाट्यमण्डली में अभिनय करना, स्थाण्वीश्वर में गणिका विद्युतपांगा और चारूस्मिता के मयूर और पद्मनृत्य आयोजन का उल्लेख तथा बाणभट्ट निपुणिका आदि द्वारा रत्नावली नृत्य नाटिका का आयोजन तथा आभीरों का नृत्य उस युग की नृत्य कला को तथा भट्टिनी द्वारा वीणावादन तथा महावराह की स्तुति गायन संगीत कला को वर्णित करते हैं। भट्टिनी के अन्तःपुर के वर्णन में वैष्णव, कुमार कृष्ण के राजगृह के चित्रण में तद्युगीन चित्रकला तथा राजसभा के वर्णन में विलासिता के दर्शन होते हैं। कुमार कृष्ण वर्धन का गृह सौन्दर्य युक्त था। दीवारें स्फटिक मणि के सदृश आलोकित हो रही थी। आचार्य द्विवेदी जी ने उनके राज्य की चित्रकला के उदाहरण को वर्णित करते हुये लिखा है–''उनके ऊपरी हिस्से में बहुत उत्तम अंलकरण चित्र बने थे। उत्फुल्ल कमलों का एक अविरल प्रवाही स्रोत सा अंकित था, जिसके बिन्दु–बिन्दु पर हंस, मत्स्य, गज और स्रोत की अभिमुख दिशा में लपकते हुये चित्रित थे। सारा ऊपरी हिस्सा एक उलझी हुई कमलिनी लता की धारा थी, जिससे प्रत्येक पत्ते में कोई न कोई जीवाकृति बन जाती थी। दरवाजे के सामने वेस्तन्तर जातक का भावपूर्ण चित्र था। जो ब्राह्मण राजकुमार के पुत्र को दान के रूप में माँग रहा था, उसकी कातर मुखमुद्रा स्पष्ट ही फूट उठी थी, परन्तु राजकुमार और उनके पुत्र में जो सहज दानवीर भाव था, वह देखने ही लायक था।''[2]

---

1. ह0प्र0द्वि0, बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 25
2. " " " 94

उनका यह चित्र मनोहर कला का उदाहरण था। यह मोम भात में काजल रगड़कर बनाये हुये रंगों से बना था।

कुमार कृष्णवर्धन ने प्रस्तुत उपन्यास में बाणभट्ट को दो उपहार भट्टिनी को देने के लिए दिये। यह दो मूर्तियाँ जो कृष्ण वर्धन ने दी थीं, जिसमें से एक काले पत्थर को काटकर बनायी गयी बुद्ध की प्रतिमा थी। वितस्ति मात्र की इसं मूर्ति में कलाकार ने एक विचित्र चारूता भर दी थी। द्विवेदी ने मूर्तिकला के सन्दर्भ में लिखा है –''शक नरपतियों ने अपनी बुद्ध भक्ति के आवेश में इस देश में भारतीय और यावनी शिल्पकी जो गंगा यमुना मूर्तियाँ तैयार करायी है, उन्हें बिल्कुल पसन्द नहीं करता।''[1]

कृष्णवर्धन नृत्यकला का भी सम्मान करते थे। कुमार कृष्ण वर्धन से बाणभट्ट मूर्तियाँ लेकर निकलते हैं, तो रास्ते में मन्दिर के समक्ष तोरण कलश, वन्दनवार देखकर पूछने पर ज्ञात हुआ कि यहाँ प्रतिवर्ष मदनोत्सव मनाया जाता है। द्विवेदी द्वारा इस उपन्यास में नृत्यकला के सम्मान का उदाहरण दृष्टव्य है–''समाज में नगर की लक्ष्मी, शोभा की खानि, कला की स्रोतस्विनी, परमशील, गुणान्विता गणिका, चारूस्मिता का मयूर और पद्म नृत्य होने वाला है। प्रतिवर्ष 'समाज' की व्यवस्था 'छोटे महाराज' की ओर से होती थी। नाना दिग्देश से सभागत कवि, कलाकार और गणिकाएँ, नृत्यगीत की प्रतियोगिता में उतरती थी।''[2]

द्विवेदी जी ने प्रस्तुत उपन्यास में कृष्णवर्धन के राज्य में नृत्यकला के अतिरिक्त नाना विधि काव्य समस्याएँ, मानसी काव्य क्रिया, पुस्तकवाचन, दुर्वाचक योग, अक्षरमुष्टिक, पद्म बिन्दुमती आदि कलाओं से समस्त नागरिक के मनोविनोद होने का उल्लेख किया है। कान्यकुब्ज देश के लोग बड़े रुढ़िप्रिय और चित्र प्रवण हैं। वे मयूर तथा पद्म नृत्य जैसे कलापों को अभी भी जिलाये हुये हैं। द्विवेदी जी ने मयूरनृत्य के सन्दर्भ में लिखा है– ''मयूर नृत्य ताण्डव का सबसे घटिया भेद है। ताल ही इसमें प्रधान है। पैरों को इस वेग से ताल देते–देते संचालित किया गया है, कि उससे कुट्टिम भूमि के अबीर में पद्म का चित्र बन गया या मयूर का चित्र बन गया, तो कौनसी बड़ी रस सिद्धि हो गयी। मैं रस को प्रधान रहस्य मानता हूँ।''[3]

इस उपन्यास में उस समय के विविध पर्व एवं उत्सवों का भी विशद् वर्णन किया गया है। बुद्ध जन्मोत्सव का भी वर्णन किया है। छोटे राजकुल का मदनोत्सव का वर्णन अवलोकनीय है, जो कि लेखक के अनुसार भवभूति के मालती माधव के सदृश्य है। द्विवेदी जी ने मदनपूजा की स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है –''आज चैत्र शुक्ल त्रयोदशी है। आज मदन पूजा का दिन है।..................कान्यकुब्ज में यह उत्सव बड़े आडम्बर के साथ मनाया जाता है।................वहाँ

---

1. ह0प्र0द्वि0, बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 99

2, 3 " " " 100

आज मदिरा और मृदंग का उत्सव चल रहा होगा।"[1]

इसके साथ ही सामान्य लोक जीवन को भी बड़ी कुशलता से चित्रित किया है। भट्टिनी द्वारा भट्ट को पहले भोजन कराने में ब्राह्मण तथा अतिथि सम्मान की भावना को व्यक्त किया गया है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास में द्विवेदी जी ने नगर, धर्म, उत्सव, संस्कार, कला, एवं जीवन का इतना व्यापक चित्रांकन किया है, कि तत्कालीन लोक जीवन स्वमेव मुखरित हो उठा है। राजाओं, राजबन्धुओं, सामन्तों, परिचारिकाओं, सैनिकों तथा सामान्य प्रजा के वस्त्र आभूषणों का यथातथ्य विशद् विवेचन इसमें लक्षित होता है। द्विवेदी जी द्वारा बाणभट्ट का ब्राह्मण वेश द्रष्टव्य है –"उस दिन मैंने डट के स्नान किया, शुक्ल अंगराग धारण किया, शुक्ल पुष्पों की माला धारण की, आगुल्फ शुक्ल धोती उत्तरीय धारण किया यही मेरा प्रिय वेश था।"[2]

इस उपन्यास में परम्परा वार्तालाप में अपने से बड़े आदरणीयों के लिए आर्य, भट्ट, आर्या, बड़े, छोटे के लिए आयुष्मान, आयुष्मती, राजाओं के लिए देवपुत्र, देवपुत्र नन्दिनी, वृद्धा, साधिकाओं को मातः, अम्ब, विद्वानों, गुरूओं को आचार्यपाद, भदन्तु , निम्नवर्ग में हला, हब्जे, मितिया आदि सम्बोधन पदों का प्रयोग हुआ है, जो तद्‌युगीन शिष्टाचार को स्पष्ट करते हैं, नारियों के विविध वर्ग दासी, पान विक्रेता, गणिका तथा उनके क्रिया कलापों का चित्रण, स्तरानुरूप, वेशभूषा का सजीव एवं सरस वर्णन तत्कालीन लोक चेतना को व्यक्त करते हैं।

सुचरिता के प्रथम दर्शन के समय उसके रूप वैभव एवं अलंकारवादियों का वर्णन करते हुये बाणभट्ट तत्कालीन कान्यकुब्ज स्त्रियों की एक सूक्ष्म सांस्कृतिक प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। इधर की स्त्रियों में प्रक्षेप्य एवं आवेध्य अलंकारों के प्रचलन का भी उल्लेख किया गया है।"[3]

द्विवेदी जी ने कला व साहित्य को मानवता के हितार्थ समझते हुये भट्टिनी द्वारा बाणभट्ट के लिए कहलवाया है – "तुम इस आर्यावर्त के द्वितीय कालिदास हो...............तुम इस म्लेच्छ कही जाने वाली निर्दय जाति के चित्र में संवेदना का संचार कर सकते हो, उन्हें स्त्रियों का सम्मान करना सिखा सकते हो, बालकों को प्यार करना सिखा सकते हो........................तुम्हारी छाया पाकर अबलायें भी इस देश की सामाजिक जटिलता को कुछ शिथिल कर सकती।[4]

सामान्तों द्वारा उदिग्न जनता को प्रसन्न करने हेतु गणिकाओं की नृत्यकला के दुरुपोग पर बाणभट्ट दुःखित होते है, क्योंकि हमारी समाज व्यवस्था के सारे नियम अभिजात वर्ग की सुविधा के लिए बने प्रतीत होते हैं। उच्च वर्ग की आंकाक्षापूर्ति के लिए दिव्य सौन्दर्य की प्रतिमाओं को बलि पशु बनते देखकर बाणभट्ट का हृदय कराह उठता है –"हाय, कितनी गुण सम्पत्ति है, और कितने

1. ह0प्र0द्वि0, बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 37
2. " " " 26
3. " " " 160
4. " " " 229

नीच उद्देश्य से उसका उपयोग हो रहा है। गणिका नगर का श्रृंगार वह क्या एक ही अमृत और विष का मिश्रण है।"[1]

भारतीय संस्कृति में नारी के लिए समाज के निर्धारित नियमों, मूल्यों के प्रतिकूल आचरण करना हितकारक नहीं हो सकता है। यह सत्य है, कि द्विवेदी जी नारी को घर मे तो नहीं बाँधना चाहते है। पर नारी को रणक्षेत्र में भी नहीं भेजना चाहते। बाणभट्ट की आत्मकथा में भट्टिनी महामाया से प्रश्न करती है, कि –"तो माता! क्या स्त्रियाँ सेना में भर्ती होने लगें या राजगद्दी पाने लगे तो यह अशान्ति दूर हो जायेगी। तो महामाया प्रत्युत्तर में कहती है–"पिण्ड नारी के राजगद्दी पा लेने से या सेना में भर्ती होने से समस्याका समाधान नहीं हो सकता है।"[2]

प्रश्न यह नहीं है कि नारी का बाहरी क्षेत्र में प्रवेश उचित है या अनुचित? आग्रह यह भी नहीं है, कि नारी को घर की चारदीवारी में कैद कर रखा जाये। कम से कम हमारे शास्त्र एवं पुरुष का सम्मिलित प्रयास ही समस्या का समाधान है। आवश्यकता एक दूसरे के बिना अवरोध बनाये, सहकारिता से आगे बढ़ने की है। द्विवेदी जी पिण्ड नारी एवं पिण्ड पुरुष को महत्व नहीं देते हैं। वह महत्वपूर्ण मानते हैं– नारी तत्व व पुरुष तत्व को। नारी व पुरुष दोनों में ही ये दोनों तत्व विद्यमान होते हैं। अन्तर केवल यह होता है, कि व्यक्ति विशेष में प्रधानता किस तत्व विशेष की है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास में महामाया भैरवी भट्ट को समझाती हुई कहती है –"तू क्या अपने आपको पुरुष समझ रहा है, और मुझे स्त्री? यही प्रमाद है। मुझमें पुरुष की अपेक्षा प्रकृति की अभिव्यक्ति की मात्रा अधिक है, इसलिए मैं स्त्री हूँ। तुझमें प्रकृति की अपेक्षा पुरुष की अभिव्यक्ति अधिक है, इसलिए तू पुरुष है।"[3]

द्विवेजी जी बाबा अघोर भैरव के माध्यम से यह स्पष्ट करना चाहते है कि मैं और तू का भेद भी पुरुष और स्त्री का भेद नहीं है। बाबा विरतिवज्र कहते हैं –"जब तक तुम पुरुष और स्त्री का भेद नहीं भूल जाते, तब तक तुम अधूरे हो, अपूर्ण हो, आसक्त हो। तुम और मैं का भेद तब तक तुमसे निरन्तर चिपटा रहेगा।"[4]

समाज में मनुष्य की गुणवत्ता एवं शक्तिमत्ता पुरुष एवं स्त्री (तत्व) के रूप में द्विद्या विभक्त है। पुरुष विधेय तत्व है, तो स्त्री निषेध तत्व है। स्त्री प्रेरणा शक्ति है, तो नारी उसका बाह्य कर्ता। पुरुष सभ्यता संस्कृतिमय योग का का विधाता है, तो स्त्री उसके क्षेम की आराधिका है। प्रस्तुत उपन्यास में महामाया कहती है–"पुरुष निस्संग है, स्त्री आसक्त, पुरुष निर्द्वन्द्व है, स्त्री द्वन्दोन्मुखी, पुरुष मुक्त है, स्त्री वद्ध है।"[5]

1.	ह0प्र0द्वि0, बाणभट्ट की आ0, ग्रन्थावली–1,		राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0	234
2.	"	"	"	137
3, 4	"	"	"	86,81
5.	"	"	"	87

आचार्य द्विवेदी जी के अनुसार सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास के लिए पुरुष एवं स्त्री इन दोनों को अपने तात्विक स्वभाव के प्रति प्रतिबद्ध रहकर परस्पर सहयोगी होना आवश्यक है। तभी मनुष्य की द्विधा विभक्त शक्ति सामाजिकता की दिशा में एकान्वित हो सकती है। अकेला पुरुष संस्कृति का विशाल आयोजन करके भी संतुष्ट नहीं होता, अतः वह इस सब काम का बंधन छुड़ाकर चला जाना चाहता है, किन्तु स्त्री उसे बाँध कर अपने गुणों से उसके शुष्क आयोजन को खींचकर उसमें जीवन रस की सन्तुष्टि प्रदान करती है। ''प्रकृति में सृष्टि रचना के सदृश ही समाज में संस्कृतिगत प्रवृत्ति के लिए स्त्री की सफलता (अपने दया, माया, ममता, अगाध विश्वास आदि गुणों द्वारा) पुरुष को बाँधने में तो है। किन्तु वह (पुरुष) अपने निर्माण से बाँधकर उसके प्रति आसक्ति का स्वार्थी बनकर इस निर्माण परम्परा में स्वयं अवरोध न बन जाये, इसलिए स्त्री की सार्थकता (दया, सेवा सुश्रुषा, परोपकारादि गुणों द्वारा) उसे (सामाजिक कल्याणार्थ) मुक्त करने में है।''[1] ताकि उसके द्वारा निरन्तर किये जाने वाले सभ्यता एवं संस्कृतिमय उदार आयोजन के त्यागपूर्वक भोग में सारी मानवता भागीदार हो सके। आचार्य द्विवेदी जी महामाया के माध्यम से नारी की उपयोगिता के सम्बन्ध में विचार इस उपन्यास में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं –''नारीहीन तपस्या संसार की भद्दी भूल है। यह धर्म कर्म का विशाल आयोजन, सैन्य संगठन, और राज्य व्यवस्थापन सब फेन बुदबुद की भाँति विलुप्त हो जायेंगे, क्योंकि नारी का इसमें सहयोग नहीं है।''[2]

पुरुष द्वारा स्त्री (गुणों) को संकीर्ण रूप से ग्रहण करने के कारण, स्वार्थी या आसक्त होने लगता है, तो स्त्री का निषेध तत्व (दया, सेवा, सुश्रुषा, परोपकारादि गुण) उसे ऐसा बनने से रोकते हैं। नारी का निषेध तत्व मानवता या सामाजिकता विरोधी स्वार्थ, लोभ, मोह , हिंसा, लूटमार इत्यादि दुर्गुणों के निषेध का सूचक है। समाज विरोधी दुर्गुणों के निषेध के लिए जहाँ कही अपने आपको उत्सर्ग करने की, अपने आपको खपा देने की भावना प्रधान है, वहीं नारी है। द्विवेदी जी ने प्रस्तुत उपन्यास में लिखा है –'' जहाँ कहीं अपने आपको उत्सर्ग करने की, अपने आपको खपा देने की भावना प्रधान है, वहीं नारी है।''[3]

प्रस्तुत उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में निपुणिका का जीवन वैधव्य की मर्मन्तुद करुण कथा है। दुर्भाग्य और आर्थिक विपन्नता की मारी इस अभागी नारी को अपने जीवन निर्वाह के लिए दर दर भटकना पड़ता है। ऐसी हतभाग्य नारी को समाज की ओर से सहयोग और सान्त्वना के स्थान पर अपमान, निर्यातन और तिरस्कार ही मिलता है। भारतीय संस्कृति की संवेदन शून्यता को व्यक्त करते हुये बाणभट्ट कहते हैं–''वह कुलभ्रष्टा स्त्री है, उसके सद्‌गुणों का समाज में क्या मूल्य है? दुर्गुणों की तो फिर भी कुछ न कुछ पूछ है ही।''[4]

---

1. ह0प्र0द्वि0, बाणभट्ट की आत्म0, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 86
2. " " " 137
3. " " " 137
4. " " " 25

सामन्तीय समाज व्यवस्था में उच्छृंखला पौरुष की निर्मर्याद महत्वाकांक्षाओं का नग्न नृत्य दुर्बल वर्ग को पाशविक अत्याचार का ग्रास बनाता है। पुरुष की दर्पान्धता प्रकृति की सुकुमार सृष्टि नारी जाति के प्रघर्षण एवं अपमान में भी लज्जा अनुभव नहीं करती है। यदि कुसंस्कार हमारी संस्कृति को खोखला कर रहे हैं। इच्छा विरुद्ध अनमेल विवाह, अन्तर्जातीय विवाह निषेध प्रभृति पुरुष के अत्याचार का एक जघन्य रूप है। इस उपन्यास में स्थाण्वीश्वर के अन्तःपुरों में रानियों की सौतों का विशाल जंगल इसी बर्बर वृत्ति का परिचय कराता है। नारी दयावान सहनशील तथा त्याग की मूर्ति मानी गयी है। भारतीय संस्कृति में एक समस्या होती है, पति द्वारा परित्यक्ता नारियों का दुःखी जीवन। अपना उत्तरदायित्व भुलाकर पत्नी का परित्याग करने वाले पलायनवादी पुरुष को नियंत्रित करने के लिए उसके पास कोई विधान नहीं है। सारे विधि विधान एवं मर्यादायें मात्र नारी के लिए हैं। प्रस्तुत उपन्यास में सुचरिता ऐसे ही निष्ठुर परित्याग की परिताप कथा है। वृद्धा, माता की प्राणाहुति भी इस बाल बधू को खोया हुआ पति तो दिला देती है, वरन् ग्रहस्थ जीवन नहीं दिला पाती। अपने सन्यासी पति विरतिवज्र की आत्म साधना में आजीवन सहयोग का कठोर व्रत निवाहने के बाद भी उसे समाज तो शंका की दृष्टि से ही देखता है।

दपन्धि पौरुष उद्धाम विलास जहाँ एक ओर नारी को गणिका, परिचारिका, नर्तकी, देवदासी एवं वारवनिता बनने के लिए विवश करता है, वहाँ दूसरी ओर मानव मानव के बीच जातिभेद एवं वर्गभेद की दीवारें खड़ी करके दुर्बल वर्ग का शोषण भी करते हैं। लेखक दपन्धि समाज में वैभव विलास को संस्कार हीनता एवं रुग्ण मानसिकता का प्रतीक मानते हैं। संस्कृति शून्य समाज का सौन्दर्य बोध समाप्त हो जाता है। वहाँ पवित्र सौन्दर्य के स्थान पर बाह्य विलास की पूजा होती है। बाणभट्ट का निम्न कथन समाज की इसी अस्वस्थ मनोवृत्ति की ओर इंगित करता है–"शोभा और कान्ति को विभ्रम और विच्छित्ति पर बिकते देखकर जिस दिन मैं प्रथम बार विचलित हुआ था, उस दिन की बात याद आती है, तो मेरी सम्पूर्ण सत्ता विद्रोह कर उठती है। माधुर्य और लावण्य की अपेक्षा हेला और वित्वाक का सम्मान दैनन्दिन घटना है।"[1]

ऐसे विकृत समाज में आमोद विनोद एवं उत्सव आयोजन स्वस्थ मनोरंजन के स्थान पर शिष्टजनों के ह्रदय में उद्वेग एवं जुगुप्सा भाव ही जगाते हैं। बाणभट्ट के शब्दों में –"ये उन्मत्त उत्सव, ये रासक गान, ये श्रंगकसीत्कार, ये अबीर गुलाल, ये चर्चरी और पटह, मनुष्य की किसी मानसिक दुर्बलता को छिपाने के लिए हैं, ये दुःख भुलाने वाली मदिरा है, ये हमारी मानसिक दुर्बलता के पर्दे हैं। इनका अस्तित्व सिद्ध करता है, कि मनुष्य का मन रोगी है, उसकी चिंताधारा आबिल है, उनका पारस्परिक सम्बन्ध दुःखपूर्ण हैं।"[2]

---

1. ह0प्र0द्वि0, बाणभट्ट की आत्म0, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 145
2. " " " 94

द्विवेदी जी ने प्रस्तुत उपन्यास में हमारे समाज की जड़ीभूत परम्पराओं पर तीव्र प्रहार करते हुए सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित मानवतावादी दृष्टि के अनुरूप समाज में नवनिर्माण का संदेश दिया है। इसमें अतीत के कथापट पर वर्तमान भारतीय नारी जीवन की वैधव्य, अपहरण इच्छा विरुद्ध अनमेल विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह निषेध प्रभृति अनेक समस्याओं की जड़ समाज की संस्कारहीनता है। एक भारतीय संस्कृति में नारी जाति के अपमान की बात सोच ही नहीं सकती। लेखक ने बाणभट्ट एवं कुमार कृष्णवर्धन जैसे शीलवान पात्रों की सर्जना के माध्यम से नारी के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचय कराया है। बाणभट्ट का कथन था –"मैं स्त्री को देवमन्दिर के समान पवित्र मानता हूँ।"

द्विवेदी जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में नगर, धर्म, उत्सव, संस्कार, कला और जीवन का व्यापक चित्रांकन किया है। राजाओं, राजबहूओं, सामन्तों, परिचारिकाओं, सैनिकों तथा सामान्य प्रजा के वस्त्राभूषणों का भी यथातथ्य विशद् विवेचन इसमें लक्षित होता है।

अन्य लौकिक एवं अलौकिक अवधारणायें :–

'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास में लौकिक विषयों को भी वर्णित किया है। इस उपन्यास में नरबलि प्रथा का भी उल्लेख किया गया है। करालादेवी मन्दिर की स्थिति का वर्णन करते हुये लिखा गया है –"करालादेवी के सामने वही रहस्यमयी स्त्री जानुपात पूर्वक खड़ी थी और उससे भी अधिक अशिव– वेशधारी एक पुरुष ताजी चर्वी से हवन कर रहा था। आहुति पड़ने के साथ ही साथ अग्नि की पिंगल लोल जिव्हा विकराल भाव से लपक पड़ती थी और क्षणभर के लिए वायुमण्डल दुर्गन्धि से और नभोमण्डल पिंगल प्रकाश से व्याप्त हो जाता था। कुण्ड के चारों ओर नर कपालों में भिन्न–भिन्न आहवनीय सामग्री रखी हुई थी।"[1]

भारत एक धर्म प्रधान देश है। यहाँ समस्त धर्मों का सम्मान किया जाता है। भारतीय अनेक तीर्थस्थलों में से एक धार्मिक स्थल चित्रकूट माना गया, जो कि उत्तर प्रदेश में है। यहाँ पर विभिन्न स्थानों से भगवद् दर्शन करने हेतु आते हैं। चित्रकूट में एक सरोवर भी है, जिसका बहुत ही महत्व है। प्रस्तुत उपन्यास में सुचरिता अपनी सास के साथ चित्रकूट में एक सरोवर में स्नान करने जाती है, उस सरोवर के महत्व को द्विवेदी जी प्रस्तुत करते हैं कि –"प्रसिद्ध हैं, कि उस सरोवर में स्नान करने वाली स्त्री का सौभाग्य युगान्त तक अचल रहता है। सरोवर एक धनच्छाय वृक्ष संकुल प्रदेश में था।.. ....सरोवर के एक प्रान्त में एक छोटा सा आम्र कानन था, जिसकी मंजरी नालों में उन्मत्त कोकिलों ने नखाग्रो से विहीन कर डाला था, और इसीलिए उनसे निरन्तर मधु टपकता रहता था।"[2]

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में नगर, धर्म, उत्सव, संस्कार, कला, एवं जीवन के

---

1. ह०प्र०द्वि०, बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ०सं० 130
2. " " " 182

व्यापक चित्रांकन में लौकिक वर्णन किया है। राजाओं, राजबहूओं, सामन्तों, परिचारिकाओं, सैनिकों तथा सामान्य प्रजा के वस्त्राभूषणों का भी यथातथ्य विशद्, विवेचन इसमें लक्षित होता है। नारियों के विविध वर्ग, दासी, पान विक्रेता, गणिका तथा उनके क्रियाकलापों का चित्रण स्तरानुरूप वेशभूषा का सजीव एवं सरस वर्णन तत्कालीन लौकिक चेतना को व्यक्त करते हैं।

आचार्य द्विवेदी जी ने लौकिक विषय के अतिरिक्त अलौकिक विषय को भी वर्णित किया है। इस उपन्यास में बाणभट्ट निपुणिका की खोज में जाते हैं, लेकिन वह वज्रतीर्थ श्मसान में पहुँच जाते हैं। जब बाणभट्ट वज्रतीर्थ श्मसान के पास जा रहे थे, तब उसके पार्श्व से आँधी की तरह दौड़ती हुई एक रहस्यमयी स्त्री निकल गयी। उस स्त्री का आचार्य द्विवेदी जी ने वर्णन करते हुये लिखा है–''उसके गले में कपाल माला झूल रही थी, कटि में हड्डियों की किंकणी खड़खड़ा रही थी, उसकी जटायें न्यग्रोधी (बरगद) तरू के प्ररोह के समान कर्कश थी, जो कोटि विन्यस्त खटवांग घण्टे से टकरा–टकराकर कठोर ध्वनि उत्पन्न कर रही थी, और कपोल देश पर लटकी हुई बराटक (कौड़ी) माला से बार–बार उलझ पड़ती थी। मेरे पार्श्व को दरेरती हुई वह इस प्रकार निकल गयी, मानों उड़ रही हो।''[1]

बाणभट्ट कराला देवी के मन्दिर में वज्रंतीर्थ के श्मसान घाट पर पहुँचते हैं, वहाँ साधिका ने कुछ मुद्राओं का प्रदर्शन करते हुये एक लाल कर्णिकार की माला मेरे गले में डाल दी, धीरे–धीरे बाणभट्ट की चेतना लुप्त होने लगी, क्योंकि वहाँ विचित्र साधना अव्याहत गति से चल रही थी। उस समय के बाणभट्ट द्वारा देखे हुये दृश्य को द्विवेदी जी वर्णित करते हैं –''नभोमण्डल से विकटाकृति कटपूतनायें और भैरवियाँ उतरती, मुझे विचित्र ढंग से प्रणिपात करती और आरती उतारती रहीं। फेरूओं के चण्डख के समान विचित्र जय–जयकार से दिङ्मण्डल उत्तम्भित होता रहा और विकराल वदन पिशाचों के अस्ति करताल से अन्धकार फटता रहा।''[2]

बाणभट्ट का पूर्ण शरीर संज्ञाहीन हो गया था। द्विवेदी जी ने बाणभट्ट की मनः स्थिति को वर्णित करते हुये लिखा–''बीच–बीच में सुदूर आकाश के कोने में चन्द्रमण्डल की क्षीण आभा दिखाई देती है और वहीं से प्रफुल्ल शतदल पर वज्रासनासीन कर्पूरगौरी आनन्द भैरवी धीरे–धीरे उतरतीं।''.........................बीच–बीच में मुझे धरती का आकर्षण नीचे की ओर खींचता है।''[3]

---

1. ह0प्र0द्वि0, बाणभट्ट की आत्मकथा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 130
2. " " " 131
3. " " " 134

तृतीय अध्याय

'चारुचन्द्रलेख' के अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन

चारूचन्द्रलेख के अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन :-

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के द्वितीय उपन्यास 'चारूचन्द्रलेख' में 12 वीं शताब्दी के भारत का चित्र प्रस्तुत किया गया है। पृथ्वीराज की पराजय के बाद विदेशी शासकों के अत्याचारों से पददलित भारतीय समाज विश्रृंखल तथा व्यक्ति केन्द्रित बन गया था। इस उपन्यास में जैन प्रबन्ध, तांत्रिक साहित्य तथा पृथ्वीराज रासो आदि साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर इस विघटित, त्रस्त तथा हतदर्प समाज के जीवन में धर्म साधनाओं के अल्पज्ञात रूप का अनुसंधान करने का प्रयास किया गया है।

इस उपन्यास की कथा एक काल्पनिक राजा सातवाहन एवं उसकी रानी चन्द्रलेखा से सम्बद्ध है। किसी गाँव की मुग्ध किशोरी चन्द्रलेखा का तपस्वी नागनाथ की कठिन तपस्या की ओर करुणा प्रेरित आकर्षण, अज्ञात अश्वारोही राजा सातवाहन का वरण तथा युद्ध का संयोग उपस्थित होने पर सैनिकों को उद्‌बोधन तथा जन जागरण चन्द्रलेखा की व्यक्तिगत विशिष्टता का अहसास कराते हैं। रानी के द्वारा जरामरण पर विजय पाने के लोभ में घर छोड़कर रस साधना में संलग्न हो जाना तथा नागनाथ की मृत्यु पर विक्षिप्त सी बन जाना इसी स्वतोविभक्तता का परिणाम कहा जा सकता है। रानी के असान्निध्य में राजा किंकर्तव्यविमूढ़ता के कारण वृद्ध मंत्री विद्याधर की देशोद्धार योजना छुटपुट युद्धों तक सीमित रह जाती है। घुण्डकेश्वर के साथ युद्ध में मंत्री, बोधा प्रधान तथा मैना कुछ सक्रिय दिखायी देते हैं। भगवती विष्णुप्रिया एवं नाटीमाता के द्वारा रानी के विक्षिप्त मानस का मनोवैज्ञानिक उपचार तथा आहत राजा की परिचर्या के प्रसंगों में कथाप्रवाह शिथिल गति से बढ़ता है। स्वस्थ होने पर राजा का अशोक चल्ल से सहयोग लेने के लिए उत्तर की ओर प्रस्थान, मंत्री द्वारा सन्यासियों की सेना का संगठन मैना द्वारा बोधा का वरण तथा शाह एवं अक्षोभ्य भैरव से सहायता प्राप्ति के प्रयास कथा को पुनः कुछ गति देते हैं। अन्त में भद्रकाली के अपहर्ता को ढूँढ़ती हुई मैना के द्वारा शाह का वध तथा पाश्चाताप के आत्मघात से कथा का आकस्मिक अन्त कर देते हैं। राजा, रानी तथा मंत्री का देशोद्धार का प्रयास इसी शोकान्तिका में विलीन हो जाता है।

इस मुख्य कथा के साथ प्रासांगिक कथाओं में जयतिचन्द्र पराजय, पृथ्वीराज के द्वारा कारूनटी का अपमान तथ कदम्बवास का वध, हाहुलीराय से चन्द्रकवि की भेंट तथा दक्षिण भारत में शैव, जैन संघर्ष आदि विविध घटनाओं का वर्णन किया गया है।

लेखक ने चन्द्रलेखा की अनुभूतियों के पत्रात्मक आलेख तथा अमोघवज्र, अक्षोभ्य भैरव, नाटी माता तथा विष्णुप्रिया आदि पात्रों के इतिवृत्त के माध्यम से तत्कालीन धर्म साधनाओं का व्यापक परिचय दिया गया है। सीदीमौला के माध्यम से भारत के बाहर मध्य एशिया तक की धर्म साधनाओं तथा जीवन पद्धतियों का परिचय कराया गया है। भारतीय धर्म साधनाओं के

रहस्यों का अधुनातन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या तथा उनकी विकृतियों का समाज पर दुष्प्रभाव प्रदर्शित करने में लेखक ने अपूर्व कौशल का परिचय दिया है। इस अतीत चित्रण में सर्वत्र ऐतिहासिक संगति का ध्यान रखा गया है।

इस उपन्यास के अन्तर्गत ज्योतिष, आध्यात्म, दर्शन, भाषा विज्ञान, पौराणिकवृत्ति, इतिहास, राजनीति धर्म, संस्कृति, अन्यलौकिक एवं अलौकिक विषयों का भी वर्णन है।

ज्योतिष गणित :–

व्यक्ति उज्ज्वल भविष्य की आकांक्षा रखता है। अपने द्वारा कियेगये कार्यों से सफलता प्राप्त करना चाहता है। मानव को लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कर्म करना ही होता है। लेकिन कहा गया है, कि कुछ सफलतायें पूर्व निर्धारित होती है। भाग्य भी कर्मों द्वारा परिवर्तित होता रहता है। कहा गया है कि –"कर्म प्रधान विश्व रचिराखा, जो जसि करि तोह तस फल चाखा।" व्यक्ति की सफलतायें कर्मों पर निर्भर करती हैं, अतः कर्म को ही प्रधानता दी जाती है। गीता में कहा भी गया है –"कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्।"

कर्म को व्यक्ति को करते रहने चाहिए, फल की आशा नहीं करना चाहिए। कुछ लोगों की मान्यता यह रहती है कि –"हुई है वही जो राम रचि राखा, को करि तर्क बढ़ावई शाखा।"

अर्थात् जीवन में विधाता के द्वारा जो लिख दिया गया, वही होना है, अतः मनुष्य अपने वर्तमान, भविष्य के सन्दर्भ में ज्ञान प्राप्त करना नहीं चाहता है। ज्योतिषी कभी हस्तरेखाओं के द्वारा व्यक्ति के भविष्य के बारे में बताते हैं, कभी ग्रह नक्षत्रों के आधार पर बनी हुई जन्मांक को देखकर व्यक्ति के भविष्य के बारे में बताते हैं। कुछ ज्योतिषी व्यक्ति के शारीरिक लक्षणों के अनुसार भी भाग्य के बारे में जानकारी प्रदान करते हैं। व्यक्ति के कुछ लक्षण देखकर शुभ अशुभ का भी ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रस्तुत उपन्यास में राजा सातवाहन सीदीमौला की खोज में जा रहे थे। रास्तें में एक साधु से मुलाकात हुई। उसने गौड़ देश और उसके राजा लखमनिया के सन्दर्भ में बताया। लखमनिया माता के गर्भ में था, तभी उसके पिता की मृत्यु हो गयी। राजमुकुट उसकी माता के पेट पर रख दिया गया। सब लोग उसकी माता की आज्ञा को राजाज्ञा समझकर सम्मान करते थे। जब प्रसवकाल निकट आया तो ज्योतिषियों ने बताया कि –"यदि इस समय इसका जन्म होगा तो बड़ा अशुभ होगा, यदि दो घड़ी बाद होगा, तो शुभ होगा, उस समय यह बालक अस्सी बरस तक अखण्डराज्य का अधिकारी होकर उत्पन्न होगा। माता ने जब यह बात सुनी तो उसने आज्ञा दी कि शुभ मुहूर्त आने तक दोनों पैर बाँधकर उसे उल्टा लटका दिया जाये। ऐसा ही किया गया। ज्योतिषी लोग बैठकर ग्रह गणना करते रहे। शुभ मुहूर्त में माता को सीधा लिटाया गया। उसी समय राय लखमनिया का जन्म हुआ....

रहस्यों का अधुनातन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या तथा उनकी विकृतियों का समाज पर दुष्प्रभाव प्रदर्शित करने में लेखक ने अपूर्व कौशल का परिचय दिया है। इस अतीत चित्रण में सर्वत्र ऐतिहासिक संगति का ध्यान रखा गया है।

इस उपन्यास के अन्तर्गत ज्योतिष, आध्यात्म, दर्शन, भाषा विज्ञान, पौराणिकवृत्ति, इतिहास, राजनीति धर्म, संस्कृति, अन्यलौकिक एवं अलौकिक विषयों का भी वर्णन है।

ज्योतिष गणित :–

व्यक्ति उज्ज्वल भविष्य की आकांक्षा रखता है। अपने द्वारा कियेगये कार्यों से सफलता प्राप्त करना चाहता है। मानव को लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कर्म करना ही होता है। लेकिन कहा गया है, कि कुछ सफलतायें पूर्व निर्धारित होती है। भाग्य भी कर्मों द्वारा परिवर्तित होता रहता है। कहा गया है कि –"कर्म प्रधान विश्व रचिराखा, जो जसि करि तोह तस फल चाखा।" व्यक्ति की सफलतायें कर्मों पर निर्भर करती हैं, अतः कर्म को ही प्रधानता दी जाती है। गीता में कहा भी गया है –"कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्।"

कर्म को व्यक्ति को करते रहने चाहिए, फल की आशा नहीं करना चाहिए। कुछ लोगों की मान्यता यह रहती है कि –"हुई है वही जो राम रचि राखा, को करि तर्क बढ़ावई शाखा।"

अर्थात् जीवन में विधाता के द्वारा जो लिख दिया गया, वही होना है, अतः मनुष्य अपने वर्तमान, भविष्य के सन्दर्भ में ज्ञान प्राप्त करना नहीं चाहता है। ज्योतिषी कभी हस्तरेखाओं के द्वारा व्यक्ति के भविष्य के बारे में बताते हैं, कभी ग्रह नक्षत्रों के आधार पर बनी हुई जन्मांक को देखकर व्यक्ति के भविष्य के बारे में बताते हैं। कुछ ज्योतिषी व्यक्ति के शारीरिक लक्षणों के अनुसार भी भाग्य के बारे में जानकारी प्रदान करते हैं। व्यक्ति के कुछ लक्षण देखकर शुभ अशुभ का भी ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रस्तुत उपन्यास में राजा सातवाहन सीदीमौला की खोज में जा रहे थे। रास्तें में एक साधु से मुलाकात हुई। उसने गौड़ देश और उसके राजा लखमनिया के सन्दर्भ में बताया। लखमनिया माता के गर्भ में था, तभी उसके पिता की मृत्यु हो गयी। राजमुकुट उसकी माता के पेट पर रख दिया गया। सब लोग उसकी माता की आज्ञा को राजाज्ञा समझकर सम्मान करते थे। जब प्रसवकाल निकट आया तो ज्योतिषियों ने बताया कि –"यदि इस समय इसका जन्म होगा तो बड़ा अशुभ होगा, यदि दो घड़ी बाद होगा, तो शुभ होगा, उस समय यह बालक अस्सी बरस तक अखण्डराज्य का अधिकारी होकर उत्पन्न होगा। माता ने जब यह बात सुनी तो उसने आज्ञा दी कि शुभ मुहूर्त आने तक दोनों पैर बाँधकर उसे उल्टा लटका दिया जाये। ऐसा ही किया गया। ज्योतिषी लोग बैठकर ग्रह गणना करते रहे। शुभ मुहूर्त में माता को सीधा लिटाया गया। उसी समय राय लखमनिया का जन्म हुआ....

लखमनिया बहुत अच्छा राजा है, उसने कभी किसी पर कोई अत्याचार नहीं किया। उसकी प्रजा उसके शुभ जन्म पर विश्वास करती है।''[1]

ज्योतिषी रोम, केश, नासिका तथा अन्य शारीरिक लक्षणों को देखकर उसके भविष्य के बारे में बताते हैं। 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में तपस्वी नागनाथ ने चन्द्रलेखा को देवि कहकर सम्बोधित किया था। चन्द्रलेखा स्वयं को सामान्य किसान की लड़की मानती थी। लेकिन तपस्वी नागनाथ ने कहा –''यह उन्नत ललाट, यह कुंचित केशराशि, यह दक्षिणावर्त रोम राजि और यह तिल पुष्प के समान नासिका और घनी भृकुटियों के नीचे सघन अराल रेखा ये तुम्हें सामान्य नारी नहीं रहने देंगी। तुममें रानी के सब लक्षण हैं।..........लेकिन तुम रानी से भी बड़ी होने के लिए पैदा हुई हो। शुभे, सिद्ध योगिनी के सभी लक्षण तुममें प्रकट हैं।''[2] तरुण तापस ने चन्द्रलेखा के हाथ की हस्तरेखा देखते हुये कहा था कि –''स्वस्तिका और मत्स्य का यह युगपत् सम्मिलन अपूर्व योग है। शंख कमल और व्यंजन के चिन्ह केवल भगवती विमला के हाथ में प्रकट हुये थे।............... पद्यगर्भ के समान मणिबन्धदुर्लभ लक्षण है। भविष्य में कौन जाने क्या क्या घटने वाला है? पर लक्षण तुम्हें रानी ही नहीं, रानी से बड़ी बनायेंगे। तुम्हारे हाथ में अपूर्व योग है।''[3]

राजा सातवाहन रानी चन्द्रलेखा को वृद्ध पुरोहित के विचार को बताते कि मैंने अस्सी वर्ष के जीवन में प्रथम बार बत्तीस लक्षणों से युक्त सौभाग्यवती पद्यिनी नारी को देखा है। उसका कहना है कि मैंने कोई जोखिम उठाया है। तब रानी चन्द्रलेखा, राजा सातवाहन को अपने अतीत के सन्दर्भ में बताते समय विद्याधर भट्ट ने ज्योतिषी की भविष्यवाणी को बताया, तथा मेरी माँ को बताया कि –''माता तुझे सन्तान सुख तो है, लेकिन सन्तान नहीं।.....................कर्म फल को कौन अन्यथा कर सकता है। आज महाशिवरात्रि का दिन है। तू विश्वेश्वर के मन्दिर में अर्द्धरात्रि तक भक्तिभाव से प्रतीक्षा कर। निःसन्देह तुझे सन्तति सुख की प्राप्ति होगी। मैं स्वयं नहीं जानता, इस भाग्य रेखा का क्या अर्थ है। कर्म की रेखा तो विश्वनाथ भी नहीं टाल सकते हैं। पर तुझे सन्तान प्राप्ति का सुख अवश्य है।''[4]

विश्वेश्वर मन्दिर में मेरे (चन्द्रलेखा) के माता पिता के पास सोते समय कोई छोटी बालिका तथा पांच स्वर्ण मुद्रायें रख गया। वही विश्वनाथ का प्रसाद चन्द्रलेखा है। विद्याधर भट्ट ने चन्द्रलेखा के हाथ, पैर, नाभि ललाट आदि की परीक्षा की और कहा–''आज मैं धन्य हूँ जो बत्तीस लक्षणों से सम्पन्न कुमारिका का दर्शन पा रहा हूँ। देवि इस कन्या के विवाह के बारे में चिन्ता मत करना, यह राजरानी होगी, इसका वर स्वयं इसे वरेगा। विद्याधर ज्योतिषी ने चन्द्रलेखा के बारे में बताते हुये कहा–''प्रथम बार, मैने बत्तीस लक्षणों का एकत्र संयोग देखा है। यह अक्षय योग में रानी होगी और

---

1. ह0प्र0द्वि0, चन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 268
2, 3 " " 277
4. " " 287

इसके प्रताप से इसका पति समस्त उत्तरापथ का उद्धारक होगा। केवल एक बात मेरी समझ नहीं आ रही है। इसकी रेखाओं में कुछ ऐसा योग है, जो कदाचित आज तक इतिहास में नहीं देखा गया। इसके पुण्य प्रताप से इसका पति अक्षय कीर्ति का अधिकारी होकर सूर्य मण्डल का भेद करेगा। लेकिन यह उनको फिर किसी जन्म में नहीं पा सकेगी। इस योग का क्या अर्थ है, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है, लेकिन इस बात में मुझे कोई भी सन्देह नहीं कि तुम्हें बहुत दुर्लभ कन्या रत्न की प्राप्ति हुई है।"[1]

तुर्कों के आक्रमण के समय विद्याधर भट्ट कहते हैं –"स्वर्ग जाने से पहले मैं केवल एक धक्का दे जाना चाहता हूँ.................मैने जीवन भर ग्रह नक्षत्रों पर विश्वास किया है। केवल इस बार मैंने अनुभव किया, कि विधाता ने मनुष्य के अन्तरतर में ग्रह नक्षत्रों की शक्ति से भी बड़ी शक्ति दी है।........................धरती पर विश्वास करो। आकाश के ग्रह धरती के गुलाम है।"[2]

आध्यात्म :–

प्राणी नाना प्रकार की सुख सुविधाओं, ऐश्वर्य तथा विषय वासना को त्यागकर अलौकिक असीम सत्ता के निकट पहुँच सकता है। उस परम सत्ता के समीप पहुँचकर असीम आनन्द की अनुभूति होती है। मानव सांसारिक कष्टों से मुक्ति प्राप्त करता है। मानव को (दैहिक, दैविक, भौतिक) त्रिताप का सामना नहीं करना पड़ता है। प्राणी को एक प्रकार से सूर्य की किरण मिलती है, जिससे तन मन आलोकित होता है। समस्त भ्रम दूर हो जाते हैं।

मानव को परमात्मा के समीप पहुँचने हेतु सभी प्रकार की चिन्ताओं से मन को विलग करना पड़ेगा। समस्त भौतिक पदार्थों से मन अलग करना होगा, तभी ध्यान लगाने में सफल हो सकेगा। चिन्तामुक्त मानव ही मन को एकाग्र कर सकता है। 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में सीदीमौला मंगोलों के एक साधु के साथ उत्सव में गये वहाँ गुरू ने कहा–"ध्यान में बड़ी शक्ति है।"

मानव के प्रमुख रूप से तीन गुण माने गये हैं, सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण। सतोगुण से युक्ति मानव परमानन्द की प्राप्ति कर पाता है। द्विवेदी जी ने बताया कि –"जब–जब मनुष्य अपने अन्तर्यामी देवता के इंगित पर शक्ति के नवीन स्रोतों के रहस्यों को ढूँढ़ निकालेगा, तब–तब तमोगुण जोर मारकर उसकी विवेक बुद्धि पर आक्रमण करेगा।..................जो आध्यात्मिक, आधिदैविक शक्ति प्राप्त करता है। वह भी भूल जाता है, कि उसके अन्तःकरण में विद्यमान देवता उसे उद्‌बुद्ध कर रहे हैं, तब तमोगुण की प्रतिक्रिया प्रकट हो कर उन्हें तंग करती है।"[3]

द्विवेदी जी के अनुसार आध्यात्मिक शक्ति का सन्धान पाकर भी यदि

---

1. ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 287
2. " " 358
3. " " 306

मनुष्य अन्तःकरण एवं बाह्य जगत का सामंजस्य नहीं खोज सका, तो भयंकर तमोगुण का शिकार हो जाता है।

मानव को परमात्मा के साक्षात्कार से प्राप्त आनन्द अनुभूति के लिए कठोर साधना आवश्यक है। जिसके लिए यम, नियम, प्राणायाम, समाधि, ध्यान, आसन आदि साधन अपनाना होता है। तभी परमात्मा के अनुग्रह की कृपा होती है। 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में सीदीमौला को मठ के प्रधान भिक्षु ने बताया था –" लेकिन जिन पर भगवान का परम अनुग्रह होता है, वे सिद्धियों की माया काट जाते हैं, और क्रमशः गहराई में जाकर बुद्ध और बुद्ध प्रज्ञा के स्पन्दहीन, क्रियाहीन, भावहीन, महामुख स्वरूप 'कहियत भिन्न भिन्न' युगनद्ध रूप का सन्धान पा जाते हैं, और अपने में ही परिपूर्ण हो जाते हैं।"[1]

नाटी माता चन्द्रलेखा को भगवान के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित होने के लिए प्रेरित करती हैं, उनका विचार है कि–" तुम सिद्ध योगिनी के अभिमान में सहज धर्म को भूलती जाती हो। भगवान को आत्मसमर्पण करने का अर्थ है, प्रेरणा देने की स्थायी शक्ति को पाना। देवि जो जितना देता है, उतना ही पाता है। जितना भगवान को दिया जाता है, उतना सोना होकर लौटता है। दानृव्य शक्ति का उत्स है, सम्पूर्ण रूप से अपने आपको महाग्रहीता भगवच्चरणों में अपर्ण कर देना।"[2]

अमोघवज्र का साधना मार्ग नाटीमाता के आध्यात्मिक साधना के मार्ग से पृथक है। अमोघवज्र के अनुसार नाटीमाता व्यक्तिनिष्ठ होने के कारण मोह के उस आवरण से मुक्त नहीं हुई है जो भक्ति मार्ग में आस्था रखती है। नाटीमाता उपास्य उपासक भेद में आस्था रखती है तथा अपने में भी आस्था है। वह पूर्ण रूपेण न तो भगवदर्पण बुद्धि से काम ले पाती है, न पूर्ण रूप से अपनी बर्हिर्गामिनी बुद्धि पर ही भरोसा कर पाती है। अमोघवज्र का विचार था कि"मैं 'मोह' को 'मोह' मानने का पक्षपाती हूँ सात्विक हो तो, राजसिक हो तो। भक्तिमार्ग में भगवदर्पण का जो सिद्धान्त स्वीकृत है, वह व्यक्ति की सहजवृत्ति ही हो सकती है, कोई सिद्धान्त साधन या मार्ग नहीं। एक विशेष प्रकार के स्नायविक संस्थान वाले व्यक्ति सहज ही भगवदर्पण सिद्धान्त को मान लेते हैं, वे जिस किसी परिस्थिति में हो, इसी रास्ते जायेंगे। बाहरी रूप उनके विश्वासों के भिन्न भिन्न हो सकते हैं। कभी वे गुरू को ही सब कुछ मानकर निश्चिन्त हो जाते हैं, कभी किसी ग्रन्थ विशेष पर आस्था रखकर सब कुछ उसी के नाम और भरोसे पर छोड़ देते हैं और कभी किसी इष्ट देवता को अनुचिंतन करके अपने को सारे दायित्वों से अलग कर लेते हैं। मूलतः ये सब व्यक्तिवादी होते हैं।"[3]

---

1. ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 306
2. " " 429
3. " " 510

दर्शन :-

द्विवेजी जी ने 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में इतिहास विषय के वर्णन के साथ–साथ दर्शन को पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इसमें पात्र कहीं न कहीं योगी है या कर्मयोगी। प्रत्येक के विचार भारतीय दर्शन को ठोस पृष्ठभूमि का आश्रय लिये हुये से प्रतीत होते हैं, चाहे वह राजा सातवाहन हो या चन्द्रलेखा, नागनाथ, गोरक्षनाथ, विद्याधर भट्ट, भगवती विष्णुप्रिया तथा नाटीमाता हो।

वर्तमान युग भौतिकतावादी युग है। विज्ञान दिन प्रतिदिन नवीनतम् आविष्कार करता रहता है, जो कि मानव जीवन के लिए सुखदायक है। मानव भी सुखद, खुशहाल जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा करता है। वह येन केन प्रकारेण समस्त साधन एकत्र करने का प्रयास करता है। वह साधन चाहे शारीरिक, मानसिक परिश्रम द्वारा प्राप्त हों या किसी दैवी आराधना, पूजा के माध्यम से प्राप्त हो। वैसे तो कर्मों को अधिक महत्व दिया गया है, कि व्यक्ति जिस प्रकार की करनी (कर्म) करेगा, उसको उसके अनुरूप फल की प्राप्ति होगी। तुलसीदास ने भी 'रामचरित मानस' में लिखा है –

''कर्म प्रधान विश्व रचि राखा,

जो जस करि तोइ तस फल चाखा।''

भक्त युगीन महाकवि तुलसीदास जी ने इस संसार में कर्म को प्रधानता दी है, लेकिन व्यक्ति कर्म करने के बाद भी कुछ कारणोंवश असफल हो जाता है, तब उसका मन दैवी आराधना की ओर प्रेरित होता है। वह सोचता है, कि शायद दैविक शक्ति की आराधना से भौतिक साधन प्राप्त हो सकते हैं। 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में द्विवेदी जी ने भी इस बात को प्रस्तुत किया है। राजा सातवाहन द्वारा सीदीमौला से पूछे गये प्रश्न कि दैविक शक्ति की आराधना से भौतिक साधन प्राप्त हो सकते हैं। सीदीमौला प्रत्युत्तर में कहते हैं कि –''ब्राह्माण्ड में ऐसा कुछ नहीं है, महाराज जो पिण्ड में न हो। शक्ति चाहे दैवी हो, भौतिक हो, आध्यात्मिक हो, एक हैं और पिण्ड के भीतर विद्यमान है। अगर कहीं भी उसे पकड़ सको, और उसे खींच सको तो निखिल ब्राह्माण्ड में जो कुछ भी दिखायी दे रहा है, उसे खींच सकते हो।''[1]

नागनाथ ने पुरुषचित्त के सम्बन्ध में राजा से रानी हेतु विचार प्रस्तुत किया –''पुरुषचित्त का लेशमात्र विकार नारी शक्ति को कुण्ठित कर देता।'' पुरुषचित्त की सृष्टि ही इसलिए हुई कि यह माया प्रपंच को क्रियाशील बनाये रखे।''[2]

दार्शनिकों ने कहा है कि ''ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या। ब्रह्म द्वारा यह जगत निर्मित है, लेकिन यह संसार असत्य है, सत्य तो ब्रह्म ही है। संसार की प्रत्येक वस्तु नाशवान है, क्षणभंगुर है। एक न एक दिन इस जगत की वस्तुओं को नष्ट हो जाना है। यह शरीर जो कि ब्रह्म द्वारा

---

1. ह0प्र0द्वि0, चारू0, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 301
2. " " 313

निर्मित है। यह भी एक दिन नष्ट हो जाता है। कबीरदास जीने इस बात को कहा कि–"यह संसार है कागद् की पुड़िया, बूँद पड़े घुल जाना है।"

जो नष्ट एक दिन हो जाता है, वही भौतिक सत्ता कहलाती है। द्विवेदी जी ने विद्याधर के माध्यम से चन्द्रलेखा को देखते हुये कहलवाया कि आज परमार्दिदेव का बल टूट गया है, केवल उनका नाम शेष है। महाराज जयत्रिचन्द्र की वाहिनी भी छिन्न विच्छिन्न हो गयी है। आगे द्विवेदी जी के प्रस्तुत उपन्यास में भौतिक सत्ता के सन्दर्भ में विद्याधर चन्द्रलेखा को देखते और कहते हैं –"जो नष्ट हो गया है, वह केवल भौतिक सत्ता है।"[1]

ब्राह्मण्ड ब्रह्मा द्वारा निर्मित है, जगत का प्रत्येक साधन ब्रह्म द्वारा निर्मित है। कुछ दार्शनिक भौतिक जगत एवं ब्रह्म जगत को पृथक मानते हैं, जब कि इस जगत की वस्तु का स्रष्टा एक ही अलौकिक सत्ता ही है। संसार की प्रत्येक वस्तु अलौकिक शक्ति का अंश है, व्यक्ति जो कुछ भी अनुभव करता है, देखता है, जानता है, वह वस्तुतः हमारे अन्तःकरण में स्फुरित होने वाली महाशक्ति का ही रूप है। जब भी व्यक्ति कुछ कारणवश देवता की आराधना करता है, उपासना करता है, जप करता है या तप करता है। वह अन्तःकरण में स्थित उस शक्ति का उद्‌बोधन मात्र है।

निखिल ब्राह्मण्ड के अणु परमाणु में व्याप्त शक्ति का जो रहस्य मन व बुद्धि के रूप में घटित होता है। वह पिण्डस्थ देवता से भिन्न नहीं है। जो कुछ भी विश्व ब्राह्मण्ड में घटित होता है, वह छोटे से छोटे पिण्ड में भी है। इसीलिए द्विवेदी जी के इस उपन्यास में सीदीमौला ब्राह्मण्ड के बारे में कहते हैं–"विश्व ब्राह्मण्ड में जो कुछ घटित हो रहा है, वह छोटे से पिण्ड में भी है, यह ध्रुव सत्य है।"[2]

मानव शरीर असीम शक्तियों से ओतप्रोत है। संसार में होने वाली घटनायें, कार्य इस शरीर के अन्दर है। व्यक्ति के अन्तर्मन में एक भाव शरीर है, जो कि उनके विचारों को, भावों को उद्वेलित करता है। प्रत्येक क्षण मानव का मन नित्य नये भावों की अभिव्यक्ति करता है। व्यक्ति में जो कल्पना करने की शक्ति है। अन्तःकरण में लाख वृत्तियों का उद्वेलन हो रहा है, वह मिथ्या नहीं जो कुछ भी व्यक्ति अनुभव करता है, उसको स्थूल जगत में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। यदि रोग मुक्ति सोचो तो रोग मुक्ति स्थूल जगत में हो सकती है। आचार्य द्विवेजी जी ने लिखा है कि –"यह जो मनुष्य का साढ़े तीन हाथ का शरीर है, वह सम्पूर्ण शक्तियों का भण्डार है। संसार में ऐसा कुछ भी नहीं जो इसमें घटित नहीं हो रहा हो।.................यह स्थूल शरीर आवरण मात्र है। इसके भीतर भाव शरीर है।...................भाव स्थूल रूप ले सकते हैं ....भाव जगत में जो कुछ अनुभूत होता है, वह सब स्थूल रहा है, वह मिथ्या नहीं।"[3]

मानव मन चंचल होता है। वह प्रत्येक इच्छायें रखता है। उसके

---

1. ह0प्र0द्वि0, चारू0, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 325
2. " " 305
3. " " 310

अन्तर्मन में और अच्छा पाने की इच्छा सदैव रहती है, जिसके कारण मानव जीवन पर्यन्त जगत के मोह माया में ग्रस्त रहता है। वह सुखद जीवन व्यतीत करने हेतु विषय वासनाओं में लिप्त रहता है। मृगतृष्णा की तरह उसकी तृष्णा रहती है। वह केवल स्वार्थ के वशीभूत होकर स्वयं की मुक्ति चाहता है। उसके अन्दर अहं भाव रहता है, जिससे अपने पराये की भावना प्रबल हो जाती है।

जब व्यक्ति में मोह अधिक रहता है, तब काम, क्रोध, लोभ जैसे विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे व्यक्ति सन्मार्ग से पृथक हो जाता है। एक दूसरे की निन्दा करता है। ईर्ष्या द्वेष की भावना जाग्रत हो जाती है, और जगत की नाशवान वस्तु को सत्य माने रहता है, जो कि क्षणभंगुर है एक न एक दिन उसे लुप्त हो जाना है। इस शरीर को व्यक्ति प्रतिदिन सुन्दर स्वस्थ बनाये रखने का प्रयास करता है, अच्छे से अच्छे आधुनिक प्रसाधन एकत्र करता है। जब कि यह सब असत्य है। यह समस्त भौतिक सुख साधन नष्टप्राय हैं, जिनको प्राप्त करने के लिए आपस में झगड़ते हैं तथा यह मेरा, यह तुम्हारा की बात सोचते हैं। स्वसुख की प्राप्ति के लिए दूसरों को कष्ट पहुँचाते हैं। इसी अज्ञानता रूपी अन्धकार में मानव जीवन यापन करता है। यह अज्ञानता ही माया है। यही विचार द्विवेदी जी का भी है, उनके द्वारा कृत 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में बोधा चन्द्रलेखा का पत्र विद्याधर भट्ट को पढ़कर सुनाते हैं कि चन्द्रलेखा ने देखा गोरक्षनाथ कह रहे हैं –"अज्ञानता ही माया है। मूढ़ता ही माया है, अवास्तव को वास्तव समझना ही माया है। सारे जगत को भूलकर अपनी मुक्ति की चिन्ता करना सबसे बड़ी माया है।"[1]

वस्तु व्यक्ति व क्रिया ये तीनो चीजें देखने में आती है। वस्तु व क्रिया यह दोनों प्रकृति है, व्यक्ति रूप में जो देखता है, यह शरीर भी प्रकृति है। परन्तु इसके भीतर में जो न बदलने वाला है, वह परमात्मा का अंश है। अब अगर यह वस्तु क्रिया या व्यक्ति में न उलझे, तो मुक्ति स्वाभाविक ही है, क्योंकि यह परमात्मा का साक्षात् अंश है। कहा गया है 'चेतन अमल सहज सुख रासी'– यह चेतन हैं, शुद्ध है, मल रहित है, सहज सुख राशि है, महान आनन्द राशि है। वह अपने स्वरूप की ओर ध्यान न देकर संसार के सम्बन्ध के सुख चाहने लगा है। यही व्यक्ति की भूल है। सांसारिक सुख में सुख का अनुभव करना वहम है। मानव जीवन का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति होना चाहिए।

मोक्ष से तात्पर्य आत्मा को सुख दुःख भोग से मुक्त करने से है। जब कुछ प्राप्त करने की इच्छा रहेगी, यहाँ तक कि आनन्द की भी, तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। न्याय दर्शन के अनुसार जब मनुष्य कर्म फल से शून्य होता है, तभी उसकी आत्मा जन्म मरण के बन्धन से मुक्त होती है। जीवात्मा जन्म मरण के बन्धन से तभी मुक्त हो सकता है। जब वह अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान ले, क्योंकि उसके पश्चात् वह कर्म शून्य हो जाता है। आत्मा अपने

---

1. ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, गन्थावली –1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 380

वास्तविक स्वरूप का ज्ञान इस मानव शरीर के माध्यम से योग साधना (यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, तथा समाधि) के द्वारा कर सकता है।

आचार्य द्विवेदी जी ने प्रस्तुत उपन्यास में लिखा है कि – कोई शुभ कर्म के अनुष्ठान और अशुभ कर्म के वर्णन को ही मोक्ष समझ रहा है। कोई वेदपाठ को मुक्ति का परम सोपान मानकर भूला हुआ है, कोई निरालम्ब रूप के द्वारा ही मुक्ति का फल खीच लेने को उद्यत है। कोई मद्यमांस एवं विलासिता के द्वारा आनन्द को ही मोक्ष समझे बैठा है, कोई मूलकन्द से उल्लसित भगवती कुण्डलिनी के संचार मात्र को मुक्ति समझकर उलझा हुआ है। कोई सुलभ दृष्टि निपात को ही मोक्ष मानने में उल्लास का अनुभव कर रहा है। यह सब खण्ड सत्य हैं। द्विवेदी जी ने मोक्ष क्या हैं? इसके सन्दर्भ में लिखा है–"मोक्ष तो वह है, जब सहज ही मनुष्य समाधि लगा सके और उस सहज समाधि के द्वारा ही स्वयं अपने मन से अपने मन को देखने लगे।................[1] परमतत्व जिसके साक्षात्कार को प्रत्येक सम्प्रदाय परम पुरुषार्थ मान रहा है, इस शरीर से बाहर नहीं है।

मानव शरीर भी प्रकृति ही है, जो कि सुन्दर एवं परमात्मा द्वारा निर्मित है। या यह कह सकते हैं, कि मानव आत्माधारी ब्रह्म का अंश है। मानव शरीर में नव इन्द्रिय द्वार हैं पांच प्राण उसकी रक्षा करते हैं। ब्रह्मरन्ध्र नाम का दसवां द्वार है, छः चक्र है, दो लक्ष्य हैं, सोलह आधार हैं, जो कि एक खम्भें पर सिर्फ टिका हुआ है।

तैत्तरीयोप निषद में मानव शरीर को पांच कोषों (अन्नयम, प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय, आनन्दमय कोष) से बना माना गया है। अन्नमय, प्राणमय कोषों से स्थूल शरीर की रचना होती है। मनोमय तथा ज्ञानमय कोषों से सूक्ष्म शरीर की रचना होती है। आनन्दमय कोष के कारण शरीर की रचना होती है। आनन्दमय कोष आत्मा परमात्मा तथा ब्रह्म नाम से जाना जाता है।

मानव अपने मन से ही जगत में व्यवस्थित वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है। जगत की वस्तुओं का वास्तविक प्रयोग कर सुखपूर्वक जीने में सफल होता है। मानव ने ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही विकास किया है। अतः यह मानव शरीर संसार का सर्वश्रेष्ठ पदार्थ है। आचार्य द्विवेदी जी का प्रकृति के सन्दर्भ में चन्द्रलेखा के पत्र के माध्यम से विचार द्रष्टव्य है –"नागनाथ ने कहा था –"देवि, प्रकृति ने जड़ तत्वों के अनेक जटिल मिश्रण तैंयार किये हैं। ढेले से लेकर पहाड़ तक सब कुछ जड़ तत्वों का संघात है। ....प्रकृति के जड़पिण्डों का जितना सुन्दर और सामंजस्यपूर्ण संघात मानव देह है, उतना और कुछ भी नही है।[2]

सत्य क्या है, राजा सातवाहन से रानी चन्द्रलेखा कहती है–"संसार में

12, ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 380 369

3

जो कुछ दिखाई दे रहा है, वह पदार्थ है। कुछ निश्चित पदों का अर्थ मात्र है...............वास्तविक सच्चाई परावाक् का विषय है, जो स्पन्दहीन है, अचल है, अकम्पित है। देवि यह जो परिदृश्यमान, अनुभूय मान, उपकल्पयमान जगत है, यह भाषा का खेल है।''[1]

भाषा विज्ञान :–

भाषा विज्ञान में भाषा की उत्पत्ति, विकास प्रकृति तथा भाषा उत्पत्ति के कारकादि का वर्णन किया जाता है। अपने 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में राजा सातवाहन को एक साधु ने कहा था कि –''लखमनिया लक्ष्मण सेन का अपभ्रंश रूप था। उसने बताया कि राय लखमनिया की राजधानी नोदिया है। मैने आशय समझ लिया, नोदिया अर्थात् नवद्वीप।''[2]

राजा व रानी को उज्जियिनी जाते समय गधैया ताल मिलता है। वहां साधु ने तालाब के रहस्य को बताते समय कहा –''भाषा बड़ी रहस्यमयी देवी है। वह नयी सृष्टि करती है। इतिहास विधाता के किए कराये पर वह ऐसा पर्दा डाल देती है, कि कभी–कभी दुनिया ही बदल जाती। महामाया का सबसे परिष्कृत रूप भाषा है।.....................यह जो गधैया शब्द है, उसका गधे या गर्दभ से दूर का ही सम्बन्ध है।''[3]

''कृत नामक वीर के वंश में कई प्रतापी राजा हुये जो 'कृतवीर' की सन्तान होने के कारण आरम्भ में 'कार्तवीर्य' कहलाते थे। कई राजाओं का रूझान जैनधर्म की ओर गया और संस्कृत का कार्तवीर्य मालवी अपभ्रंश में कोमलीकरण की प्रवृत्ति के कारण प्राकृत में गर्दभिज्ज से आगे बढ़ता हुआ गर्द भिल्ल बन बया। फिर यह शब्द संस्कृत में आ गया और हिन्दू पुराणों तक में कार्तवीर्य वंश गर्दभिल्ल वंश के नाम से विख्यात हुआ।''..........संस्कृत में 'भील शब्द भिल्ल' के रूप में लिखा जाता है।''[4]

आगे तपस्वी ने कहा है –''मैने शकुन्तला नाटक का जो श्लोक सुनाया उसमें नीललोहित का नाम है।...............नील लोहित है। नीले रंग में हल्की सी लाल लाल आभा है।... ....कालिदास के श्लोक में नीललोहित का एक अन्य अर्थ भी है। किन्तु शब्द तो परावाक् का मूर्त रूप है, महाराज, यह अपनी सृष्टि तो करता ही रहता है।''[5]

राजा सातवाहन ने शिवा बलि के अनुष्ठान हेतु तारादेवी के मन्दिर के पास आने पर घर्घर नदी के सन्दर्भ में विचार किया–''पहाड़ से मैदान में उतरने वाली नदियों में एक प्रकार की घरघराहट की ध्वनि होती है। इसीलिए लोग प्रायः उन्हें 'घर्घर' कहा करते हैं। बोधा प्रधान ने बताया कि इस नदी को भी यहाँ के स्थानीय लोग घग्घर ही कहते हैं।'' [6]

1.	ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली – 1, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0		413
2.	"	"	258
3, 4	"	"	338, 339
5.	"	"	341
6.	"	"	523

पौराणिक वृत्ति :-

द्विवेदी जी ने अन्य विषयों के अतिरिक्त पुराणों से सम्बन्धित विचार इसमें प्रस्तुत किये हैं। युद्ध के पश्चात् नाटी माता राजा सातवाहन को विश्राम हेतु कह जाती है। तभी रानी के आने की आहट मिली, तभी चित्त में निश्चय नये विकारों का आविर्भाव हुआ–"शास्त्र कहता है कि मनुष्य के जन्म के साथ साथ कितने ही शत्रुओं की वाहिनी पीछे पड़ जाती है–क्रोध है, लोभ है, मोह है, मद है, मत्सर है।"[1]

अहंकार के बारे में नाटी माता ने रानी को समझाते हुये कहा–"भागवत का श्लोक सुनाकर उन्होंने कहा, मनुष्य अपने पुत्र कलत्र के लिए धन–मान के लिए जो कुछ करता है। वह तब तक असत् होता है जब तक उसमें अपने को सबसे पृथक समझने की बृद्धि बनी रहती है। किन्तु वे सारे प्रयत्न 'सत' हो जाते हैं, यदि सबके लिए किये जाये अपने को जगत् प्रवाह से अभिन्न समझकर किये जाये।"[2]

भगवती विष्णुप्रिया ने राजा से कहा –"जानते हो बेटा, भगवान ने किसी समय अर्जुन को बताया था कि सहज कर्म अगर सदोष भी हो तो उसे छोड़ना नहीं चाहिए।"[3]........आगे कहती है –"भगवान ने गीता में इसीलिए कहा था –" हे अर्जुन, सभी कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं। शास्त्रों में इसका प्रयत्न किया गया है कि छोटे से छोटे काम में मनुष्य को वह मूल बात याद आती रहे। हम जो भी करें उसके पहले हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यह क्रिया और इस क्रियाके करने की इच्छा किसी बड़े ज्ञान का परिणाम है, इसी बड़े ज्ञान में इसकी समाप्ति होगी।"[4]

व्यक्ति के लिये दुष्कर्म करने वालों का दमन करना आवश्यक है। सामाजिक मंगल का उच्छेद करने वाले विधाता के सहज विधान को नहीं मानते। उनको दण्ड देना सहज धर्म है। भगवती विष्णु प्रिया कहती –"भगवान ने इसीलिए कहा था कि सीमित दृष्टि से जो चीज सदोष जान पड़े वह भी यदि मनुष्य का सहज धर्म हो तो अवश्य करणीय है। अर्जुन के मन में मोह हो गया था। वह सहज कर्म को भूलने लगा था।"[5]

तारा देवी के मन्दिर में शिवा बलि के अनुष्ठान हेतु राजा के पहुँचने पर धीरशर्मा ने दमनक पौधा के 'दक्षिणामूर्ति' संहिता का ज्ञानार्णव, ब्रह्मसंहिता, वज्रतारा का महात्म्य आदि के बारे में वर्णन किया।

धीरशर्मा ने राजा को अनुष्ठान समाप्त हो जाने पर बताया कि 'कुल

1, 2. ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1 , राज0प्रका0 पृ0सं0 427, 428
3,4. " " 473, 474
5. " " 475

चूड़ामणि' में तो कहा गया है –सन्ध्या समय श्मसान में विल्ववृक्ष के नीचे यह अनुष्ठान करना चाहिए। 'महाकाल संहिता' में निर्देशहै कि यह रात के समय ही किया जाये।''[1]

जल्हन ने वराहमिहिराचार्य का विचार प्रस्तुत किया –''स्वस्थ भाव से प्रातःकाल कुक्कुट का तारस्वर से पुकारना केवल राजा के लिए नहीं, राष्ट्र और पुर के लिए भी मंगलजनक होता है।''[2]

समस्त तंत्र मंत्र साधनाओं हेतु उपन्यासकार ने गोरक्षशतक तथा वराहमिहिर की वृहत्संहिता आदि ग्रंथों को आधार बनाया। गधैया ताल की कथा तथा काशी के हरिश्चन्द्र घाट के ऐतिहासिक अन्वेषण द्वारा लेखक ने दंतकथा शिल्प का प्रयोग किया है।

इतिहास :–

इतिहास वह विज्ञान है, जिसमें अतीत की घटनाओं का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है। इतिहास का अध्ययन हमें भावी जीवन के लिए प्रेरणा देता है। भारतीय इतिहास को तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–प्रथम प्राचीन कालीन इतिहास, द्वितीय मध्ययुगीन इतिहास, तृतीय आधुनिक कालीन इतिहास। मध्य युगीन इतिहास 1206 ई0 से 1707 ई0 तक माना जाता है। यह युग मुस्लिम शासन का युग है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा कृत 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में 12–13वीं शताब्दी के मध्य युगीन भारतीय समाज का चित्रण है। लेखक की दृष्टि केवल घटनात्मक इतिहास के चित्रण तक सीमित नहीं है। आचार्य द्विवेदी जी इतिहास के अध्ययन को उत्तम एवं शवसाधना मानते हैं। द्विवेदी जी की दृष्टि में –''समूचा युग एक साधन है। यदि इस युग का लक्ष्य वह युग ही है, तो साधना अधूरी है। पुराने युग के मृतशव पर बैठा हुआ ज्ञानी साधक आकाश से सिद्धि पायेगा।''[3]

द्विवेदी जी के इस उपन्यास में इतिहास पुराण की आधार सामग्री के साथ पुरातात्विक शोध, लोक विश्वास तथा संस्कृत, प्राकृत साहित्य के दीप्त प्रसंगों का मेल बैठाया गया है। फिर आधुनिक प्रगतिशील अनुसंधान के दायरे में इनके पैटर्न तराशे गये, इसमें मध्य युगीनता का विम्बग्राही चित्रण अन्यतम रूप से हुआ। प्रस्तुत उपन्यास में 12वीं, 13वीं शती के भारत का ईर्ष्या, कलह, द्वेष, और क्षुद्र स्वार्थों के संघर्ष में रूढ़ि गलित, जीवन समाज का चित्र खींचा गया है। विभिन्न जातियों में रुढ़ि गलित जीवन समाज का चित्र खींचा गया है, विभिन्न जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों एवं पूजा पद्धतियों में विभक्त समाज की हीनता वर्णित है।

---

1. ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1, राज0प्रका0 पृ0सं0 528
2. ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1, राज0प्रका0 पृ0सं0 551
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य में सामाजिक चिंतन (डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद शर्मा) 94

इस उपन्यास की रचना देश पर चीनी आक्रमण की पृष्ठभूमि में हुई थी। इस रचना के भीतर लेखक ने तत्कालीन महत्व के कई संकेत उभारे थे। जो प्रकारान्तर से किसी देश तथा समाज की जड़ों को खोखला बनाने वाली शक्तियों को उभारकर सम्मुख प्रस्तुत है। इस उपन्यास में गहरे अन्धविश्वास, आत्माभिमान की दृढ़ता, कर्मक्षेत्र की आशाम्भरी भूमि से पलायनकर छलनाओं एवं आत्मप्रपंचनाओं में भटकने की प्रवृत्ति देखने को मिलती है।

तुर्को के आक्रमण के समय भारतीय राज्यों के राजा आपस में ईर्ष्या भाव रखते थे। हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत में अनेक छोटे–छोटे राज्यों की स्थापना हुई। इन राज्यों में प्रतिहार वंश, गहड़वाल वंश, चौहान वंश, चन्देल वंश, परमार वंश, पाल वंश, सेन वंश का शासन था। लेकिन एक दूसरे को सहयोग नहीं देते थे। सभी पदलोलुपता तथा क्षूद्र स्वार्थों से ओतप्रोत थे। इसी लिए ही तुर्की भारत में अपने पैर जमाने में सफल हुये थे।

आचार्य जी ने तुर्कों के आक्रमण के सन्दर्भ में लिखा है –"भारत के उत्तरी भाग पर पूर्णरूप से तुर्कों का राज्य स्थापित हो गया था। दक्षिण में गोपाद्रि दुर्ग तक वे बढ़ आये थे, और भी आगे बढ़कर पैर जमाने की कोशिश में थे, परन्तु पूर्वी प्रदेश अभी तक उनके आक्रमणों से बचा हुआ था।"[1]

द्विवेदी जी ने यह भी वर्णित किया, कि भारत पर जिस समय तुर्को ने आक्रमण किया। तब प्रजा में आपसी भेदभाव ईर्ष्या थी। राजाओं के आपसी झगड़े हो रहे थे। तब प्रजा अन्धविश्वासी, अकर्मण्य लापरवाह थी। यह ऐतिहासिक सत्य है, कि तुर्कों के आक्रमण के समय राजा आपस में झगड़ते थे। राजाओं में धन लोलुपता, पदलोलुपता थी। इसी का लाभ तुर्कों ने उठाया। और भारत देश में आधिपत्य स्थापित करने में सफल हुये।

'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में विद्याधर भट्ट ने रानी व राजा सातवाहन को बताया, कि विदेशियों ने कई बार महाराज पृथ्वीराज को ध्वस्त करने का प्रयास किया। किन्तु शाकम्भरी तथा दिल्ली के महाप्रतापी नरेश पृथ्वीराज वज्र कपाट की तरह उनका प्रतिरोध करते रहे। पारस्परिक कलह के कारण महाराज जयत्रिचन्द्र इस वज्र कपाट का मतलब नहीं समझ सके। वह पृथ्वीराज से वैरभावना रखते थे। और मन ही मन पृथ्वीराज की बातों को सुनकर प्रसन्न होते थे। आचार्य द्विवेदी जी ने मुहम्मद गौरी द्वारा कन्नौज पर आक्रमण के समय की स्थिति को वर्णित करते हुये लिखा है –"जब मुहम्मद गौरी ने योगिनीपुर के और शाकम्भरी क्षेत्र के प्रतापी चाहमाण नरेश पर अन्तिम बार आक्रमण किया तो जयत्रिचन्द्र ने उनकी कोई सहायता नहीं की।"[2]

---

1. ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1 राजकमलप्रकाशन पृ0सं0 267
2. " " 293

तुर्कों के आक्रमण के समय राजा आपसी मनमुटाव रखते थे। द्विवेदी जी प्रस्तुत उपन्यास में विद्याधर के माध्यम से रानी चन्द्रलेखा एवं राजा सातवाहन को जयत्रिचन्द्र के सन्दर्भ बताया तथा उनकी स्वार्थवादी नीति को प्रस्तुत करते हुये यह भी वर्णित किया, कि तुर्की अपना धिपत्य स्थापित करने में कैसे सफल हुआ, आर्यावर्त (भारत) की शक्ति दुर्बल होने का कारण भी प्रस्तुत या हैं द्विवेदी जी ने लिखा है –"मिथ्या कुलाभिमान और झूठे आदर्शों के प्रति एकान्त निष्ठा के कारण र्यावर्त आज शक्तिहीन और दुर्बल हो गया।............शक्तिशाली राज्य आपसी कलह के शिकार होकर न्न भिन्न हो रहे हैं।"[1]

द्विवेदी जी ने पृथ्वीराज एवं जयचंद की वैमनस्यता को वर्णित किया है। ाकवि जगन्नायक द्वारा लिखित परमार्दिदेव के प्रतापी वीर आल्हा ऊदल की यशोगाथा का भी उल्लेख या है।

भारत के उत्तर में मध्य एशिया में शक जाति फैली हुई थी। जिनका र्य लूटना, मारना, पीटना, और कत्ल करना था। इसी बीच मगध में समुद्रगुप्त के द्वितीय पुत्र सम्राट ्गुप्त विक्रमादित्य हुये। जिन्होंने शकों की शक्ति को जड़मूल से उखाड़कर शकारि विक्रमादित्य की धि पायी। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों से अन्तिम युद्ध सिन्धु एवं झेलम नदी के संगम पर किया। ों के राज्यों को समाप्त कर दिया। प्रयाग में फिर महर्षि वात्स्यायन भारद्वाज की अध्यक्षता में होने े धर्म सभा में उनको शकारि (शकों का शत्रु) विक्रमादित्य की उपाधि दी गई। उसी दिन से नवीन ् विक्रम सम्वत प्रारम्भ हुआ। द्विवेदी जी ने प्रस्तुत उपन्यास के शकारि विक्रमादित्य के बारे में लिखा "आरम्भ में पूर्व पुरुष 'कृत' नामक वीर के नाम पर संवत का नाम 'कृत संवत' ही रखा था। ...... कल जिसे विक्रम संवत कहते है, वह वही कृत संवत है।"[2]

नालन्दा शिक्षा का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। भारत की प्राचीन संस्कृति को र्ण विकसित तथा सुदृढ़ करने में इस शिक्षा केन्द्र का प्रमुख स्थान रहा है। इन नगरी के भग्न अवशेष र प्रान्त को पटना जिले में राजगृह से 8 मील पश्चिमोत्तर में अब भी दृष्टिगोचर है।नालन्दा विहार थम संस्थापक सम्राट अशोक थे। ह्वेनसांग ने इस विश्वविद्यालय का वर्णन करते हुये लिखा है–"छैः ओं ने भिन्न–भिन्न कालों में नालन्दा में छैः बिहार बनवाये थे। इनमें से 5 गुप्त राजाओं के बनवाये । वास्तुकला व स्थापत्य कला की दृष्टि से यह भवन सुन्दर थें यहाँ विद्यार्थियों का प्रवेश मुश्किल श्वानचाङू ने लिखा है कि –"नालन्दा में कोरिया, मंगोलिया, जापान, चीन, तिब्बत, लंका आदि ों से विद्यार्थी और विद्वान अध्ययन करने आया करते थे।"

नालन्दा का विशाल पुस्तकालय धर्मगंज में था तथा रत्नसागर, रत्नोद्वीप,

---

ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 318

" " 338

रत्नरंजक नामक तीन विभागों में विभक्त था। तर्क शब्द विद्या (व्याकरण) चिकित्सा विद्या, साँख्य योग, न्याय एवं सर्वास्तिवाद माध्यमिक आदि विभिन्न दर्शनों की शिक्षा का पूर्ण प्रबन्ध था। भारतीय दर्शन कला तथा सभ्यता का यह प्रतीक 800 वर्ष तक एक गौरवशाली जीवन व्यतीत करने के उपरान्त 12वीं शताब्दी के अन्त में मुस्लिम विजेता बख्तियार खिलजी की बर्बरता का शिकार हुआ। इस एक दीर्घ काल से जलने वाला ज्ञान प्रदीप जिसे मानव ने अपने ही जीवन स्नेह से युग युगों से प्रज्ज्वलित रखा था, सदा के लिए बुझ गया।

आचार्य द्विवेदी जी ने भी प्रस्तुत उपन्यास में बताया, कि ओदन्तपुरी के निकट जो नालन्दा बिहार है, उसमें देश देशान्तर से आये विद्वान और साधु शास्त्र चर्चा किया करते थे। पता चला है, कि वहाँ अष्टोत्तर शत विहार थे। बौद्ध धर्म के बड़े–बड़े विद्वान तथा शाक्त आगमों के साधक निवास करते थे। द्विवेदी जी ने नालन्दा शिक्षा केन्द्र को ध्वस्त होने की जानकारी बोधा के माध्यम से बतायी है –''जब तुर्क सेनापति बख्तियार ने उस स्थान पर अधिकार किया, मन्दिरों और बिहारों को ध्वस्त कर दिया और वहाँ के विशाल पुस्तक मन्दिर को जला दिया, तो विद्वान और साधु या तो मार डाले गये या जिसे जो रास्ता सूझा उससे उसे भागना पड़ा। नालन्दा का विद्यामन्दिर देखते देखते जनशून्य हो गया।''[1]

कई राज्यों का नाम परिवर्तन हुआ है। मिथिला राज्य के नाम में परिवर्तन किया गया है। द्विवेदी जी ने प्रस्तुत उपन्यास में सीदीमौला के माध्यम से महाराज सातवाहन को बताते हुए लिखा है –''यह जो मिथिला है न महाराज, इसका नाम विदेह है। विदेहों का राज्य कभी हिमालय के उस पार तक था।''[2]

दक्षिण भारत के प्रमुख राज्य राष्ट्रकूट, चालुक्य, पल्लव, चोल आदि हैं। चोल वंश का राज्य तमिलनाडु में था। इस वंश के शासक आदित्य प्रथम ने पल्लवों को हराकर कांची पर अधिकार कर लिया। राजरात प्रथम ने पाण्ड्य तथा केरल राज्यों को भी जीत लिया। राजेन्द्र प्रथम के बाद इस वंश का पतन हो गया। दक्षिण के चोल राजाओं का धर्म सम्बन्धी विचार दृष्टव्य है, जो कि बोधा, मैना, को बताता है –''किसी समय दक्षिण के चोल राजाओं ने जैनों का भंयकर दमन किया था। ये लोग शैव थे। दक्षिण के राष्ट्रकूट लोग जैन थे। ठीक जैन धर्म में दीक्षित तो नहीं थे, पर जैन मत का बड़ा सम्मान करते थे।''[3]..........चालुक्यों ने शैव धर्म की प्रतिष्ठा में अपनी राजशक्ति का उपयोग किया था।''[4]

1, 2. ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 539 , 575
3. " " 575
4. " " 485

राजनीति :-

देश को समृद्ध बनाने तथा देश में शान्तिपूर्ण सौहार्द्रता का वातावरण रखना है, तो वह प्रजा तथा राजा के सहयोग से ही सम्भव है। प्रजा को युद्धों से भय होता है, वे इस राजा या उस राजा की जीत भी चाहते हैं, परन्तु समूचे देश को अपना समझकर समयोचित उपचार वे नहीं जानते हैं। उनमें प्रतिरोध की भावना नहीं होती है। देश की सुरक्षा का कार्य सिर्फ राजा का ही नहीं होता वरन् प्रजा का भी देश के प्रति कर्तव्य होता है।

आचार्य द्विवेदी जी की समाजोन्मुखी दृष्टि राजनीति के जनकेन्द्रित रूप में आस्था रखती है। प्रस्तुत उपन्यास में रानी चन्द्रलेखा एवं राजा सातवाहन दोनों राजतंत्र के दोषों की आलोचना करते हैं। चन्द्रलेखा युद्ध के लिए प्रजा का सहयोग आवश्यक मानती हुई कहती है–"वे समझते हैं, राज्य राजा का होता है।...............कुछ ऐसा होना चाहिए कि इस जीत या हार को प्रजा अपनी जीत या हार समझे।"[1]

प्रजा के सहयोग के बिना देश प्रगति नहीं कर सकता, न राजा ही राज्य को सही ढंग से संचालित कर सकता। राजा व प्रजा में पिता पुत्र के सदृश सम्बन्ध होता है। प्रजा को भी राजा की सुरक्षा तथा राज्य की प्रगति में सहयोग देना अनिवार्य है। यदि यह समझा जाये कि राज्य सिर्फ राजा का ही होता है, तो वह गलत है। इसीलिए प्रस्तुत उपन्यास 'चारूचन्द्रलेख' में चन्द्रलेखा गाँव–गाँव घूमकर जनता में जाकर जन जागरण करती है, उन्हीं की प्रेरणा से जनसम्पर्क में प्रवृत्त राजा सातवाहन भी जनता के आत्मबल जागरण में 'राजा की विचित्र कल्पना' को बाधक मानता है। राजा की इस दृष्टि की प्रशंसा करते हुये अमोघवज्र कहते हैं –"उस देश में केवल तुमने समझा है कि राजधानी राज्य नहीं होती, जनता ही वास्तविक राज्य होती है।"[2]

युद्ध में सफल होने के लिए राजा की सूझबूझ, कर्तव्यनिष्ठा तथा उचित कूटनीतिज्ञ नीति के अतिरिक्त प्रजा में शक्ति, प्रेम, बन्धुत्वभाव, सहयोग का भाव होना आवश्यक है। प्रजा का साहस एवं उत्साह तथा आत्मविश्वास भी युद्ध में सफल होने में सहायक रहता है। क्योंकि शस्त्रबल से हारना हारना नहीं माना जायेगा, यदि व्यक्ति आत्मबल से हार जाये तो वास्तविक पराजय होगी।

'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में विद्याधर भट्ट चन्द्रलेखा को बिजली की तरह कड़कने, सुधा धारा की तरह बरसने, असहाय प्रजा में साहस एवं शक्ति का संचार करने हेतु कहते हैं। आगे कहते कि इसकी निरीह प्रजा उद्‌वुद्ध हो गयी है, उसमें आत्मबल का संचार हुआ है, वह पीड़ित होकर भी आत्मबल से हीन नहीं हुई है। 80 वर्ष का अनुभव यही है कि शस्त्र बल से हारना हारना नहीं

---

1. ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 333
2. " " 515

है, आत्मबल से हारना ही वास्तविक पराजय है। अतः चन्द्रलेखा से वृद्ध विद्याधर भट्ट भी हारजीत के बजाय जनता के आत्मविश्वास को अधिक महत्व देते हुये कहते हैं कि–"सारा का सारा देश विदेशियों से आक्रान्त हो जाये, मुझे रंचमात्र भी चिन्ता नहीं होगी, यदि प्रजा में आत्मविश्वास बना रहे।"[1]

चक्रवर्ती राजा को राज्य की सीमा में न बँधकर मानव का कल्याण करना चाहिए, क्योंकि मानव कल्याण की भावना के अभाव में क्षुद्र स्वार्थी, राज्य लिप्सा के कारण बड़े–बड़े राजा ध्वस्त हो गये, अपमानित तथा पददलित हुये हैं। अतः राजा को मानव हितार्थ होना चाहिए। न कि सिर्फ भोग विलास, ऐश्वर्य, वैभव एवं सुख अनुभूति में व्यस्त रहे । द्विवेदी जी ने कहा है –"चक्रवर्ती राज्य की सीमाओं में नहीं बँधा रहता। वह राज्य सुख का भोक्ता नहीं, दीन और दलित का रक्षक या गोप्ता रहता है।"[2]

द्विवेदी जी ने इतिहास के माध्यम से राजतंत्रात्मक शासन पद्धति का वर्णन किया। केवल राजा, उसके सामन्त एवं वेतनभोगी सेना के भरोसे राष्ट्र की नियति सौंपने का दुष्परिणाम निरीह जनता को भोगना पड़ता है। राजा के चारित्रिक, दोष, रानियों के स्वार्थपूर्ण कुचक्र या सेनापति की त्रुटिपूर्ण राजनीति के कारण शौर्य और बलिदान का धनी देश भी पराधीन हो जाता है।

आचार्य द्विवेदी जी ने अक्षोभ्य भैरव के माध्यम से सामन्तीय व्यवस्था के उत्खात प्रतिरोपण वंशानुगत सामन्त प्रथा–तथा भूमि दानादि के द्वारा भूमि का सतत विभाजन आदि दोषों का वर्णन किया, जिससे शासन खोखला हो गया था। राष्ट्रीय अस्मिता को ध्वस्त करने वाली इस दोषपूर्ण व्यवस्था पर प्रहार करते हुये अक्षोभ्य भैरव कहते हैं–"राजशक्ति दुर्बल है! प्रजा मूकदर्शक बनी हुई है। राजपुत्रों की झूठी दर्पोक्तियाँ अन्तः सार शून्य बन गई हैं, धिक्कार है, इस दम्भवर्धिनी, पाखण्ड जड़ नीति को।"[3]

भौतिक जगत नष्ट प्राय है। यह शरीर भी एक दिन नष्ट हो जायेगा, लेकिन यदि कुछ इस जगत में रहता है तो वह है शरीर के द्वारा कियेगये कर्मो से प्राप्त यश। जीवन में सुख–दुःख, संयोग–वियोग, जन्म–मरण तो रहता ही है। यदि जन्म हुआ है तो मरना भी निश्चित है। इस शरीर को जब नष्ट होना ही है तो क्यों न कुछ देश के हित के लिए कुछ कार्य किये जाये।देश की रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। देश में युद्ध के समय व्यक्ति को अपने कर्तव्य से नहीं हटना चाहिए। देश की सुरक्षा हेतु बलिदान भी होना पड़े तो स्वयं को बलिदान भी करना चाहिए। जिससे अनाथ तथा पददलित मनुष्यता उद्बुद्ध हो सके। जो शरीर मातृभूमि की सेवा में समाप्त हो जाये वह धन्य है। इससे मानव को यश प्राप्त होता है, जिसकी तुलना में स्वर्ग एवं अपवर्ग भी उपेक्षणीय है।

---

1. ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 [illegible]5
2–3 ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 [illegible]7, 563

द्विवेजी जी सम्पूर्ण मानव जाति को दुःख विपत्तियों से मुक्त देखना चाहते हैं। वह सभी व्यक्तियों में मानवीयता की भावना उद्बुद्ध करना चाहते हैं। इसीलिए नागनाथ तथा चन्द्रलेखा सम्पूर्ण संसार के रोग जरामृत्यु से मुक्त करने का संकल्प करते हैं, किन्तु सिद्धियों के प्रलोभन से उनकी साधना अपूर्ण रहती है। रानी चन्द्रलेखा भी इसी उद्देश्य के लिए राजा सातवाहन को जन जागरण हेतु प्रेरित करती है तथा स्वयं भी राजा के साथ गाँव–गाँव घूमकर जनता में आत्मशक्ति का संचार करती है। लेखक के अनुसार जीवन तथा मृत्यु की सार्थकता पददलित मानव को उद्बुद्ध करने में हैं। प्रस्तुत उपन्यास में धीरशर्मा कहते हैं कि –"वीरो जन्म के साथ मृत्यु निरन्तर लगी हुई है,...... लेकिन यदि मृत्यु निश्चित है तो कीर्ति क्यों धूमिल की जाये, जो शरीर मातृभूमि की सेवा में समाप्त हो जाये धन्य है।"[1]

मातृभूमि की रक्षा करना समस्त धर्मों तथा जातियों के लोगों का कर्तव्य है। किसी एक जाति विशेष या एक धर्म विशेष का कार्य नहीं। सभी जाति के लोग एक जुट होकर देश की सुरक्षा करने का प्रयास करे तो देश अवश्य सुरक्षित रहेगा। प्रजा का सोचना रहता है, कि लड़ाई करना राजा तथा राजपुत्रों का धर्म है। शेष प्रजा निश्चेष्ट चुपचाप बैठी रहती है। लड़ाई जिनका धर्म माना जाता है वे जब हार जाते है, तो प्रजा भी हार मान लेती है। मातृभूमि की सुरक्षा समस्त धार्मिक मतभेद को भुलाकर एकता के साथ देश के लिए युद्ध करने से ही हो सकती है। द्विवेदी जी ने 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में सारी प्रजा को दुर्भेद्य चट्टान की तरह एक हो जाने का विचार प्रस्तुत किया है। जिससे कोई भी विदेशी शक्ति आक्रमण करने में सफल न हो सके। द्विवेदी जी के इस उपन्यास में रानी चन्द्रलेखा मातृभूमि की रक्षा सभी के लिए आवश्यक मानती हैं और कहती हैं –" वीरो, अपनी मातृभूमि की रक्षा किसी जाति विशेष का पेशा नहीं है, वह सबका जन्म सिद्ध अधिकार और विधि विहित धर्म है।"[2]

देश की रक्षा हेतु समस्त जनता को एकता के सूत्र में बँधना होगा। गोरक्षनाथ का इस उपन्यास में विचार है कि"यदि हम अपने बाह्य विभेदों पर ही अब अड़े रहेंगे, तो विनाश निश्चित है।"[3]

आचार्य द्विवेदी जी ने अमोघवज्र के माध्यम से इस्लाम के आगमन के बारे में बताया है। यह क्रान्तिवाहक धर्म जहाँ–जहाँ गया, वहीं दबी हुई जनता ने इसका स्वागत किया, मंत्रमुग्ध की भाँति इसे अपनाया है। यह विचित्र धर्म है। सहस्त्रों जंगली जातियों को उसने एक झटके में रुढ़ियों तथा परम्पराओं के मलवे से दूर फेंक दिया है। सहस्त्रों दलितों को उराने तलवार की नोंक पर उठाकर ऊँचा आसन दे दिया है। इस शक्ति से युद्ध करने हेतु जनता को एकजुट होना होगा। प्रस्तुत

1. ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1, राज0प्रका0, पृ0सं0 332
2. " " 333
3. " " 381

उपन्यास में अमोघवज्र सातवाहन से देश की स्थिति बताते हुये कहते हैं कि यहाँ व्यक्ति दूसरों को अपमानित करने में गर्व का अनुभव करता है, प्रत्येक जाति क्षुद्रता के अहंकार से जर्जर हैं। अतः आगे कहते हैं–''हे मेरे महान देश की मिट्टी, शक्ति दो, शक्ति दो, शक्ति दो,......................कि मैं इस महान 'एक' के मन्त्र का साधन जुटा सकूँ।''[1]

द्विवेदी जी ने 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में पाँच सौ वर्षों से राजलक्ष्मी को खण्ड विक्षत राजाधिराजाओं द्वारा किये जाने का उल्लेख किया गया है। समयानुसार राजनीति में परिवर्तन करना पड़ता है। गुप्त सम्राटों ने सदा पुराने शास्त्रों की नयी परिस्थिति के अनुसार संशोधन कराने का प्रयत्न किया था। उसके पश्चात् सम्राटों ने उन दिनों के लिए शास्त्रों को स्थिर माना है। उनके अर्द्धशिक्षित सचिवों ने उन्हीं नीतियों का पालन किया है, जिससे देश की स्थिति गड़बड़ा गई। आचार्य द्विवेदी जी ने अक्षोभ्य भैरव के माध्यम से तत्कालीन राजनीति के दोष तीन बताते हुये लिखा है –''इस देश की राजनीति के तीन महादोष है। तुम भी इन्हीं दोषों की उपज हो।.................जिन राजाओं को उत्खात कर दिया गया है, उनके उत्तराधिकारियों को राज्य करने दिया जाये।..................राजाओं और राजाधिराजाओं ने पृथ्वी को अपनी वंशानुक्रम से प्राप्त सम्पत्ति मान लिया है। दूसरा दोष, जिसने महालक्ष्मी को खण्ड जर्जर बना दिया है।....................बात बात में भूमिदान के द्वारा नये–नये सामन्तों की सृष्टि करना तीसरा महादोष है।''[2]

इसी प्रकार द्विवेदी जी ने अक्षोभ्य भैरव के द्वारा भाड़े के सैनिकों मृतक सेना, मौल सेना, अटवी सेना, मित्र सेना, श्रेणी सेना का भी वर्णन किया है।

राष्ट्रीय संकट की स्थिति में जन सामान्य के उत्साह एवं बलिदान के अतिरिक्त राष्ट्र के कर्णधारों की सतर्कता, सूझबूझ तथा उचित निर्णय लेने की क्षमता अनिवार्य है। जन नायकों की इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान शक्ति का समन्वय ही सफलता दिला सकता है। प्रस्तुत उपन्यास में राजा की मोह जन्य निष्क्रियता जन सामान्य के उत्साह को व्यर्थ बना देती है। मैना कहती है–''कल आप रानी के लिए व्याकुल थे, आज धीरशर्मा के लिये चिंतित हैं, कल विद्याधर मंत्री या बोधा प्रधान के लिए कातर हो उठेंगे। इस प्रकार मोह की छोटी–छोटी गठरियों के ढोने में हमारी शक्ति क्षीण हो जायेगी।''[3]

ग्रहनक्षत्रों एवं जादू टोनों पर विश्वास करने वाला निष्प्राण देश शत्रुओं का प्रतिकार नहीं कर सकता। विद्याधर कहता है –''विधाता ने मनुष्य के अन्तरतर में ग्रह नक्षत्रों की शक्ति से बड़ी शक्ति दी है।............धरती पर विश्वास करो। आकाश के ग्रह धरती के गुलाम हैं।''[4]

1. ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1, राज0प्रका0 पृ0सं0 515
2. " " 562
3. " " 43 ?]
4. " " 358

आचार्य द्विवेदी जी राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध के लिए धर्मगत या जातिगत भेदभाव उभारने के विरोधी है। यह उपन्यास भारत पर चीनी आक्रमण के समय लिखा गया था, अतः सुरक्षा हेतु देश में एकता होना आवश्यक है। हिन्दू मुस्लिम के भेदभाव में राष्ट्र का विनाश देखने वाला सीदीमौला सुल्तान की निन्दा करता है –"वह भारतीय जनता को दो भागों में बाँटना चाहता है– हिन्दू मुसलमान।.............परमात्मा ने आदमी को दो तरह का नहीं बनाया। सुल्तान बनाने जा रहा है।"[1] द्विवेदी जी ने शाह और उसकी हिन्दू पत्नी को साम्प्रदायिक सौहार्द्र के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार द्विवेदी जी के राजनीति सम्बन्धी विचार जनतांत्रिक भावना, लोकसेवा, राष्ट्र के लिए बलिदान भावना, धार्मिक सद्भाव और व्यापक जनकल्याण की भावना से ओत प्रोत है।

धर्म :–

आचार्य द्विवेदी जी ने 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में धर्म सम्बन्धी विषय को भी प्रस्तुत किया है। द्विवेदी जी ने मध्यकालीन विविध सिद्ध साधनाओं तथा धर्माडम्बरों का चित्रण किया है। इसमें विविध साधनाओं का प्रमाणिक इतिवृत्तात्मक वर्णन हुआ है। लेकिन इससे सम्बन्धित घटनायें कल्पना प्रसूत हैं। सम्पूर्ण उपन्यास में लेखक द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तक 'मध्यकालीन धर्म साधनों से सामग्री ली है। इसमें पारद अभ्रक की रसेश्वर साधना, तिब्बत के प्रसंग में बौद्धों की महायनी साधना, शाक्त आगमों की षोड्श कुमारी साधना अमोघवज्र जल्हन तथा अशोक चल्ल द्वारा नील सरस्वती की साधना, नाना गोसाई तथा घुण्डकेश्वर के द्वारा शैव तथा पशुपत साधना, नाटीमाता की मधुर भाव वैष्णव उपासना तथा भगवती विष्णुप्रिया की वैष्णव साधना का वर्णन किया।

विधाता ने मानव को सामाजिक प्राणी बनाया है जो सामाजिक मंगल का उच्छेद करने वाले विधाता से सहज विधान को नहीं मानते हैं। उनकों दण्डित करना मानव का सहज धर्म हे। धर्म के क्षेत्र में कोई अगवाह रास्ता नहीं है। हर बात का दाम देना पड़ता है। मानव का कर्तव्य है, कि जो दीन, दुःखी, निरीह व्यक्तियों को कष्ट पहुँचा रहे हैं, उनका दमन करे। द्विवेदी जी धर्म को भी मानव के हित के लिए मानते थे। कोई धर्म किसी भी आत्मा को कष्ट पहुँचाने के लिए नहीं कहता है। न ही किसी को भेदभाव ऊँचनीच की भावना पर विश्वास करता है। उसकी दृष्टि में समस्त प्राणी समान है। द्विवेदी जी ने धर्म को समष्टि हित के परिप्रेक्ष्य में परखा है। जो धर्म व्यक्ति को समाज से दूर ले जाये, वह एकांगी होने के कारण त्याज्य है। द्विवेदी जी ने धर्म के सम्बन्ध में लिखा है –"सामाजिक मंगल के लिए जो सहज प्रवृत्ति है। उसी का नाम धर्म है।...........अधर्म से जूझना मनुष्य का सहज धर्म है।"[1]

द्विवेदी जी की दृष्टि में समाज सेवा ही सहज धर्म है। अन्याय का

---

1. ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1, राज0प्रका0 पृ0सं0 574
2 " " 475

प्रतिकार करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। समाज से कटी हुई साधना का कोई मूल्य नहीं है। वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा समष्टि मुक्ति का प्रयास ही मान्य है। द्विवेदी जी जड़ दैहिक धर्मों पर प्रतिष्ठित साधनाओं को प्रवंचना मानते हैं। वैष्णव दृष्टि के अनुरूप सुख–दुःख को ईश्वर का प्रसाद मानकर सामाजिक उत्तरदयित्वों के निर्वाह हेतु कटिवद्ध रहना ही वास्तविक धर्म है।

द्विवेदी जी की दृष्टि में अपने कर्तव्य एवं अधिकार के प्रति सजग रखने वाला अनुभव धर्म से कोई विपरीतता नहीं रखता। प्रस्तुत उपन्यास में राजा सातवाहन धर्म के स्वरूप के बारे में सोचते हैं, कि एक धर्म दूसरे धर्म को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते रहते हैं। एक दूसरे को दमित करते रहते हैं –"मेरा मन कहता है, इन धार्मिक संगठनों में और कुछ चाहे हो, धर्म नहीं है। धर्म मुक्ति दाता है, धार्मिक संगठन बन्धन हैं। धर्म प्रेरणा है.....................धर्म कोई संस्था नहीं है, वह मानवात्मा की पुकार है।"[1]

धर्म व्यक्ति को संस्कारित करने वाली शक्ति है, धर्म और संस्कृति अपने नैरन्तर्य में जनमानस के परिष्करण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। द्विवेदी की दृष्टि में धर्म का आधार लोकहित होता है। विविध धर्म साधनायें सिद्धि चमत्कारों से धर्मान्धता को जन्म देती है, जबकि धर्मसाधनाओं का उद्देश्य मानव में मानवीयता का विकास करना होना चाहिए।

'चारूचन्द्रलेख' में तत्कालीन बौद्धों, तांत्रिकों कापालिकों, सिद्धों तथा नाथों की रहस्यमयी दुनिया का यथार्थ व जीवन्त चित्रण किया गया।"धार्मिक चेतना की दृष्टि से यह मध्यकालीन भारतीय धर्म साधनाओं का एक समाजशास्त्रीय शब्दकोष ही है...................इस धरातल पर लेखक ने मानो मध्ययुग का नया अनुसंधान ही किया है, जिसमें विभिन्न साधनाओं, मंत्र शक्तियों, चक्र, तंत्र, उपासना पद्धतियों आदि का पूरे प्रमाण के साथ वर्णन ही नहीं, इतिवृत्त भी है।"

(आलोचक डॉ0 महेश कुन्तल मेह)

मध्य काल में सिद्धियों के पाखण्ड ने देश को जर्जर बना दिया था। शत्रुओं के आक्रमण के समय यह सिद्धियाँ समस्त तंत्र मंत्र के चमत्कार विफल हो गये थे। इन सिद्धियों में कोई सार्थकता नहीं है। यह मानव में विशेष बल प्रदान नहीं करती है। एक साधारण सा व्यक्ति है, यदि उसमें परोपकार, दया माया है, सच झूठ का विवेक है और बाहर भीतर एकाकार है तो वह बड़े से बड़े सिद्ध से ऊँचा है। चरित्र बल समस्त शक्तियों का अक्षय भण्डार है। जिस साधना से यह महान शक्ति स्रोत सूख जाता है, वह व्यर्थ है। अकर्मण्य, भीरू, पुरुषार्थहीन बना देने वाला धर्म व्यर्थ है। गोरक्षनाथ के कथन में इसी विचार की अभिव्यक्ति हुई है –" सिद्धियाँ मनुष्य को पशु बना दे, पक्षी बना

---

1. ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1, राज0प्रका0 पृ0सं0 488

दे, अजगर बना दे, प्रेत बना दे, पर वे मनुष्य को मनुष्य बनाने में तब तक सहायक नहीं होगी, जब तक सहज शरीर धर्मों को ही परम लक्ष्य समझा जाता रहेगा।''[1]

द्विवेदी जी के अनुसार उस समय राजाओं तथा जन सामान्य को सारहीन, थोथी सिद्धियों के चक्र में फँसने में विश्वास था। द्विवेदी जी ने तंत्र साधना के वर्णन में गुहा का चित्रण किया जहाँ पर रानी चन्द्रलेखा गई थी। द्विवेदी जी ने लिखा है –''पुराने दुर्ग के खण्डहर को कापालिक योगियों ने गुहा के रूप में व्यवहृत किया था।..............नरकपालों में मनुष्य की चर्बी के दिये जल रहे थें और मध्य भाग के छोटे से आंगन में कुछ विकट वेशधारी तापस बैठे थे जो समाधि मग्न से जान पड़ते थे। बीच में नरकपाल का ही एक कुण्ड बना हुआ था। इसमें निश्चय ही कुछ हवन किया गया था, जिसकी चिरॉंयाध गन्ध से सारी गुहा बुरी तरह महक उठी थी।''[2]

हिन्दु मुस्लिम, सिख, ईसाई इन चार धर्मों के अतिरिक्त भारत देश में शैव, वैष्णव, तथा जैन, बौद्ध धर्म का भी प्रचलन हुआ था। द्विवेदी जी ने शैव, वैष्णव तथा जैन धर्मों का घुण्डकों से सम्बन्ध जोड़ते हुये बोधा प्रधान के माध्यम से इन धर्मों का अवलम्बन करने वाले राजवंशों के विषय में विचार प्रस्तुत किये हैं –''किसी समय दक्षिण के चोल राजाओं ने जैनों का भंयकर दमन किया था। ये लोग शैव थे। दक्षिण के राष्ट्रकूट लोग जैन थे। ठीक जैन धर्म में वे दक्षिन तो नहीं थे, पर वे जैन मत का बड़ा सम्मान करते थे।.............घुण्डकों का प्रथम उत्थान जैन मत के अनुयायियों के दमन के लिए हुआ था।''[3]

'बाणभट्ट की आत्मकथा' के सदृश इस उपन्यास में नाटीमाता तथा विष्णुप्रिया के माध्यम से वैष्णव धर्म का वर्णन किया है। आचार्य द्विवेदी जी की अन्य साधनाओं से श्रेष्ठ मानने में वैष्णव धर्म के प्रति आस्था थी। द्विवेदी जी ने नाटीमाता के द्वारा कृष्ण के प्रति की जाने वाली मधुरोपासना का चित्र प्रस्तुत किया है –''नृत्य में विह्वल होकर नाटी माता उस छोटे से घर में एक कोने से दूसरे कोने तक मत्तमयूर की भांति नाच उठी।...............निःसन्देह इस गीति की राधा स्वयं नाटी माता थी।.............यह लाल साड़ी तथा नीली अंगिया राधाभाव की साधना का अंग मात्र थी। नाटी माता भाव मंदिर थी। ....हृदय के अतल गाम्भीर्य से निकली हुई नृत्य मन्दाकिनी क्लान्ति नहीं लाती, विश्राम ले आती है। नाटी माता इस समय सच्चे अर्थों में 'आत्माराम' बनी थी।''[4]

द्विवेदी जी वैष्णव साधना में धर्म का सहज रूप पाते हैं। वैष्णव भक्ति मार्ग जगत से पलायन के बजाय सहज कर्तव्य साधना का सन्देश देती है। अन्य साधना पद्धतियाँ जहाँ व्यक्ति को अमूर्त सिद्धियों की कुहेलिका में भ्रमित करके समाज से काट देती है, वहाँ वैष्णव साधना

---

1. ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रका0 पृ0सं0 377
2. " " 412
3. " " 484–485
4. " " 493

व्यक्ति के चित्त का परिष्कार करके उसे निष्काम से कर्तव्यपथ पर अग्रसर करती है।

वैष्णव साधना विविध कुण्ठाओं तथा अन्तर्व्यथाओं से ग्रस्त मानव हृदय को सहज प्रेम साधना की ओर उन्मुख करती है। व्यक्ति अपनी दुर्बलताओं को देखकर भागना चाहता है, पर उनसे मुक्त नहीं हो सकता। वैष्णव साधना अपने पाप, पुण्य सब कुछ ईश्वरार्पण कर देने का उपदेश देती है। विभाग पुरुष की कल्पना व आराधना व्यक्ति को कुण्ठा से मुक्त कर देती है। नाटी माता कहती है –"मेरे भावों ने ही इस विभाव पुरुष की कल्पना की है। भाव यदि सत्य हो तो अभाव स्पष्ट हो जाते हैं, और सारे अभावों को भरकर यह विभाव पुरुष अपना रूप परिग्रह करते हैं।"[1]

नाटी माता स्वतो विभक्त एवं कुण्ठाग्रस्त रानी को अहैतुक आत्मसमर्पण का मार्ग दिखाती है। इसी प्रकार वह राजा से भी रानी को ईश्वर के प्रसाद के रूप में ग्रहण करने का निर्देश देती है। वैष्णव साधना हृदय की निश्छलता में विश्वास करती है। नाटीमाता कहती है –"ये तो भाव के भूखे हैं – सच्चे भाव के। मामूली फलफूल भी यदि थोड़ा भी अपवित्र, गंदा, या कुत्सित हो, तो रूठ जाते हैं, चित्त तो बहुत बड़ी वस्तु है। सच्चाई और ईमानदारी से धोकर, शील और मैत्री से सुवासित करके दोगे तो लेंगे।"

यह सहज निश्छल प्रेम साधना मानव हृदय को शान्ति प्रदान करती है। यदि मानव अन्तर्मन में कहीं भी लोभ, मोह, मद जैसे विकार हुये तो यह साधना निष्फल रहती है। उससे मन में सुख शान्ति नहीं रहती है। प्रभु के प्रति पूर्ण रूपेण समर्पण भाव होना चाहिए। मनसा, वाचा, कर्मणा भक्ति हो। नवधा भक्ति को भगवद् आराधना हेतु भावी मानी जाती है। उसमें एक भाव आत्मसमर्पण भाव भी है। द्विवेदी जी ने भी साधना हेतु आत्मसमर्पण का भाव, निश्छल मन की बात इस उपन्यास में प्रस्तुत की है।

आचार्य जी भी ग्रह नक्षत्र, ज्योतिष, धार्मिक कर्मकाण्डों की अपेक्षा निष्काम कर्म में ही आस्था रखते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में राजा सातवाहन को सीदीमौला की तलाश में जाते समय एक तपस्वी ने सिद्धि की प्रतीक्षा कर रही होगी, ऐसा बताया तथा आगे उस तपस्वी ने भारत की धार्मिक स्थिति के सन्दर्भ में विचार दिया कि –"भारत वर्ष की धर्म व्यवस्था में बहुत छिद्र हो गये हैं।"[2]

द्विवेदी जी का मूल उद्देश्य इस उपन्यास में समाज में लगे घुन का चित्रण करना था। वस्तुतः सिद्धियों के पीछे भागने से वर्णाश्रम धर्म ही जीर्ण शीर्ण होता जा रहा है। अतः उपन्यासकार आचार्य द्विवेदी जी चुनौती देते हुये कहते हैं–"जो महान इस्लाम आ रहा है, उसे ठीक ठीक समझो। उसके एक हाथ में अमृत का भांड है, दूसरे में नग्न कृपाण। वह समानता का मंत्र लेकर आया है, सड़े गले औजारों को चुनौती देने का अपार साहस लेकर उद्भूत हुआ है और रास्ते

1. ह0प्र0द्वि0, चारू0 ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 397
2. ह0प्र0द्वि0, चारू0 ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 269

में जो बाधक हों उन्हें साफ कर देने का विकट संकल्प लेकर निकला है। उसने लाखों करोड़ों को पैरों तले दबाकर उसकी मांस मज्जा के ढूह पर प्रासाद खड़ा करने की त्रुटि नहीं दिखाई है।............ऐसा विचित्र धर्म नहीं देखा।''[1]

प्रत्येक धर्म आपसी प्रेम, सहानुभूति, परोपकार, दया को महत्व प्रदान करता है। कोई भी धर्म ईर्ष्या, द्वेष, दुःख दूसरों को देने में विश्वास नहीं करताहै। न ही आपसी मतभेद ही रखता है। समस्त धर्मो के लोग एक ही ईश्वर की संतान है। वास्तविक धर्म आपसी मतभेद को प्रश्रय नहीं देता है। परमात्मा की दृष्टि में ऊँचा –नीचा या छोटा–बड़ा नही है। 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में अक्षोभ्य भैरव बोधा प्रधान से कहते –''देवी न हिन्दुओं की होती है न मुसलमानों की, न बौद्धों की। जहाँ सत्य हैं, जहाँ पर दुःख से विचलित न होने की भावना है, जहाँ वीरता है, जहाँ निर्भीकता है, जहाँ सहजभाव है, वहीं तारा का निवास है।

यद्यपि तत्कालीन समाज में एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयायियों के प्रति घृणा व विद्वेष की भावनायें अपनाये हुये थे, परन्तु द्विवेदी जी ने ऐसा प्रसंग भी प्रस्तुत उपन्यास में दिया जिससे धर्म सहिष्णुता का पद भी प्रशस्त होता है। राजा सातवाहन सोचते हैं –''सीदीमौला ने बताया था, कि शाह की महिषी हिन्दू पद्धति से पूजा पाठ किया करती है।''[2]

तत्कालीन समाज में इतने उच्च धरातल पर धर्म सहिष्णुता का अप्रतिम उदाहरण है।

इस प्रकार आचार्य द्विवेदी जी ने 'चारूचन्द्र' लेख उपन्यास में चन्द्रलेखा की अनुभूतियों के पत्रात्मक आलेख तथा अमोघवज्र, अक्षोभ्य भैरव, नाटीमाता, विष्णुप्रिया, आदि पात्रों के इतिवृत्त के माध्यम से तत्कालीन धर्म साधनाओं का व्यापक परिचय दिया जाता है। सीदीमौला के माध्यम से भारत के मध्य एशिया तक की धर्म साधनाओं तथा जीवन पद्धति का परिचय कराया गया है। भारतीय धर्म साधनाओं के सदस्यों की अधुनातन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या तथा उनकी विकृतियों का समाज पर दुष्प्रभाव प्रदर्शित करने में आचार्य, द्विवेदी जी ने अपूर्व कौशल का परिचय दिया है।

संस्कृति :–

भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशिष्टता है अनेकता में एकता। किसी भी देश की समस्या के समाधान हेतु एकता एवं अखण्डता का होना आवश्यक है। वर्तमान युगीन समस्याओं हेतु हमारी संस्कृति की यह भावना समन्वय की नवीन प्रेरणा एवं क्षमता प्रदान करती है।

भारत देश में अंनेक जातियों का आगमन हुआ जैसे आर्य, द्रविड़, शक,

---

1. ह0प्र0द्वि0, चारूचन्द्रलेख, ग्रन्थावली–1, राज0प्रका0 पृ0सं0 514
2. " " 535

हूण, तुर्की , फ्रांसीसी डच, पुर्तगाली, एवं अंग्रेज। सभी जातियों की संस्कृति का प्रभाव भारतियों पर पड़ा। वर्तमान समय में भी अनेक धर्मो के लोग रहते हैं। सभी की संस्कृति में अन्तर है फिर भी यहां के निवासियों में एकता की भावना है।

मानव मात्र की शुभेच्छा की भावना द्विवेदी जी भारतीय संस्कृति में भूमिशः पाते हैं। द्विवेदी जी संस्कृति को शाश्वत या एक देशीय वस्तु नहीं मानते हैं। द्विवेदी जी के अनुसार संस्कृति प्रगतिशील, परिवर्तनशील और परम्परा नैरन्तर्य संयुक्त है।

आचार्य द्विवेदी जी ने 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में संस्कृति को सहज रूप में प्रस्तुत किया है। शास्त्रों में वर्णित रुढ़नियम या परम्परायें जीवन जगत के सत्यों के अनुरूप है। आचार्य जी विभिन्न परम्पराओं एवं विचारों के विभेदों को समाप्त कर एकता चाहते थे। द्विवेदी जी को भारतीय संस्कृति के समन्वय शक्ति में अटूट आस्था रही है। आचार्य जी ने लिखा है –''भारतीय संस्कृति के प्राण में एकत्व है। उसके रक्त में सहानुभूति है।''[1]

आचार्य द्विवेदी जी ने तुर्कों के आगमन का उल्लेख 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में किया है। उस समय भारतीय राजाओं में आपस में मतभेद थे। सभी धर्मों में विभेद था। सभी में एकता, समानता, सौहार्द्रता के स्थान पर वैमनस्यता, कटुता, ईर्ष्या, द्वेष की भावना थी। सभी अपने को श्रेष्ठ मानते थे। इस उपन्यास में बाह्य विभेदों को भुलाकर एकत्व की भावना हेतु गोरक्षनाथ कहते हैं कि–''क्या शैव, क्या वैष्णव, क्या जैन, क्या बौद्ध सभी पर विपत्ति की ओर घटा छायी हुई है। यदि हम विभेदों पर ही अब भी अड़े रहेंगे, तो विनाश निश्चित है।''[2]

भारत में अनेंक तीर्थस्थल हैं। प्रमुख रूप से 12 ज्योतिर्लिंग विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। जैसे उज्जैन में महाकालेश्वर, ओंकारेश्वर में ओंकारेश्वर ज्योतिर्लिंग, सोमनाथ में सोमनाथ महादेव ज्योतिर्लिंग, नासिक में त्रयम्बकेश्वर ज्योतिर्लिंग, भीमाशंकर में भीमाशंकर ज्योतिर्लिंग, औरंगाबाद में धुश्मेश्वर महादेव ज्योतिर्लिंग, परली बैजनाथ में परली बैजनाथ ज्योतिर्लिंग, रामेश्वरम में रामेश्वरम् ज्योतिर्लिंग, मल्लिकार्जुन में (श्री शैले) मल्लिकार्जुन ज्योतिर्लिंग, वाराणसी मेंकाशी विश्वनाथ ज्योतिर्लिंग, केदारनाथ , वद्रीनाथ धाम में केदारनाथ ज्योतिर्लिंग, द्वारिकापुरी धाम में नागेश्वर ज्योतिर्लिंग है।

यहाँ पर व्यक्ति अगाध श्रद्धा, प्रेम, भक्ति के साथ जाते हैं और मनोकामना पूर्ति की आकांक्षा करते हैं। कहा जाता है कि, जो अटूट श्रद्धा एवं विश्वास से भगवद् आराधना करता है उसकी मनोकामना पूर्ण होती है। विभिन्न पर्वो पर विभिन्न देवताओं के महत्व को स्वीकारा गया है। जैसे शिवरात्रि के दिन वाराणसी में काशी विश्वनाथ के दर्शन एवं आराधना का महत्व है।

आचार्य जी ने धर्म, कला, रहन सहन आदि का वर्णन किया है। भगवान

---

1. ह0प्र0द्वि0 चारूचन्द्र लेख, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 199
2. " " 381

पर विश्वास तथा भगवद् आराधना भी संस्कृति की विशेषता है, जिसे 'चारूचन्द्रलेख' में चित्रित किया गया है। ईश्वर की आराधना हेतु बनाये गये मन्दिरों एवं अन्य आराधना गृहों का भी पर्याप्त वर्णन किया गया है। द्विवेदी जी ने चन्द्रलेखा के कथनानुसार उसके पालयिता पिता एवं माता द्वारा ज्योतिर्लिंग के दर्शन तथा आराधना का एक शब्दचित्र प्रस्तुत किया है– "हमने पण्डित के बताये अनुसार विश्वेश्वर मन्दिर में आराधना की। उस दिन महा शिवरात्रि थी, दर्शनार्थ लाखों नर नारी उपस्थित थे। हम लोग भी एक कोने में खड़े होकर ज्योतिर्लिंग को निर्निमेष दृष्टि से देखते रहें। अर्द्ध रात्रि की प्रदक्षिणा करके साथ ही प्रणाम किया और गंगा तट की ओर चले गये।"[1]

भारतीय संस्कृति में मानव जीवन व्यतीत करने हेतु हिन्दू धर्म के अन्तर्गत 16 संस्कार को आवश्यक बताया गया है। उसमें से एक संस्कार है, विवाह संस्कार, जो कि निरन्तर विकास का ही परिणाम है। भारतीय परम्परा में तो यह माना जा रहा है, कि श्वेतकेतु ने अपनी माता को अपने पिता उद्दालक ऋषि के पास से, किसी अन्य ब्राह्मण को ले जाते देखकर, क्रोधित होकर उन्मुक्त यौनाचार पर रोक लगाने हेतु विवाह प्रंथा की व्यवस्था की।

आचार्य जी ने रानी चन्द्रलेखा के विवाह संस्कार को वर्णित करते हुये लिखा है – "शांति का स्वस्त्ययन के साथ ही साथ संक्षिप्त विवाह की विधि भी घटाटोप के साथ सम्पन्न हुई। धीरशर्मा बड़े उत्साह से याज्ञिक क्रियाओं का अनुष्ठान करते रहें। विधि के अन्त में रानी को बुलाया गया और मेरी बायी ओर बैठा दिया गया। अनुष्ठान के अन्त का यज्ञ समाप्त हुआ।"[2]

समस्त प्राणियों में व्यक्तिगत भिन्नता होती है। भारत में आने वाली अनेक जातियों में से एक जाति मंगोल की भी है। लेकिन सभी की सभ्यता एवं संस्कृति में अन्तर होता है। प्रत्येक व्यक्ति के रहन–सहन, रीति–रिवाज, खान–पान, आचार–विचार में पृथकता होती है। स्त्रियों के प्रति अलग–अलग सोच रहती है। स्त्रियों की स्थिति भारतीय समाज में सदैव एक जैसी नहीं रही है। समय के अनुसार उसके स्तर में परिवर्तन आता रहा है। वैदिक काल में नारी को पूर्ण सम्मान प्राप्त था। महाभारत कालीन समाज में स्त्री की स्वतंत्रता को नहीं स्वीकारा गया था। उस समय स्त्री को बाल्यावस्था में पिता के, यौवन में पति के, एवं वृद्धावस्था में पुत्र की देखरेख में रहना पड़ता था। किन्तु जो चिर कौमार्य का व्रत लेती थी, उनके लिए यह नियम लागू नहीं था। मनुस्मृतिकार ने लिखा है कि–

"पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्रय मर्हति।। (913)

अर्थात् स्त्री की रक्षा बचपन में पिता करता है, युवावस्था में पति करता है, और वृद्धावस्था में पुत्र करते हैं स्त्री स्वतंत्र रहने योग्य नहीं है।

---

1. ह0प्र0द्वि0 चारू0 ग्रन्थावली –1 राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 287
2. " " 280

कौटिल्य कालीन समाज में भी नारी की स्वतत्रंता पर अंकुश लगा हुआ था। सामन्तीय युग होने के कारण नारी अधिक बन्धन में बँध गई थी।

इस प्रकार कह सकते हैं, कि स्त्री सम्मान की बात हो या खान–पान, वेशभूषा, रीतिरिवाज अथवा आचार–विचार की सभी जातियों के लोगों का पृथक–पृथक दृष्टिकोण होता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने मंगोलों के देशीय सांस्कृतिक उदाहरण प्रस्तुत उपन्यास 'चारूचन्द्रलेख' में प्रसंगानुसार उपलब्ध किये हैं। सीदीमौला के द्वारा मंगोल संस्कृति से सम्बन्धित वर्णन इस प्रकार है–"बैठकर खाना तो यह भले आदमी जानते ही नहीं। खाने के बाद राजा रंक सभी मिलकर एक प्रकार की शराब पीते हैं, जो घोड़ी के दूध से बनती है।......शादी चाहे जितनी करो, पर परस्त्री की ओर नहीं ताकना। कुदृष्टि डालने वालों की आँखें फोड़ दी जाती, और व्यभिचारी को तुरन्त दण्ड दिया जाता। अगर वह सरदार हुआ तो उसके घोड़े के साथ धरती में गाड़ देते हैं और उसके प्रिय दास दासियों को भी जीवित समाधि लेनी पड़ती है।"[1]

प्रस्तुत उपन्यास में मंगोलों के अभिवादन को वर्णित किया गया है कि–"वे घुटने टेककर खड़े हो गये और दोनों हाथ पीठ पर रखकर धरती पर नाक रगड़कर उन्होंने अभिवादन किया।"[2]

आशीर्वाद देते समय का वर्णन करते हुए लिखा– "साधु अपनी गुफा के भीतर ले गये, मुझे मकई के दाने की एक माला दी और उत्तराभिमुख बैठाकर कान में एक मंत्र दिया। मंत्र और कुछ नहीं था 'ओं मणि पद्मे हुँ।"[3]

सद्गुरू मनुष्य देहधारी होते हुये भी सामान्य मनुष्य नहीं है, वह नर रूप में नारायण है। जो उनके प्रति गहरी श्रद्धा के साथ स्वयं को अर्पित करते हैं, उसे ही उनके वचनों से तत्व बोध होता है, उसके भीतर में सद्गुरू के वचन सूर्य की किरणों की तरह अवतरित होते हैं। महामोह के घने अँधेरे को पलभर में नष्ट कर डालते हैं। तुलसीदास का विचार है –'गुरू देव भगवान के चरण ही नहीं, उनके चरणों की धूलि की भी भारी महत्ता है।"

गुरू चरणों की धूलि का महत्व समझ में आते ही जीवन सुगन्धित हो जाता है। वासनाओं तथा कामनाओं की मलिन , दूषित दुर्गन्ध हटने ,मिटने लगती है। गुरू भक्ति से गुरू चरणों की ध्यान साधना से गुरू भक्त साधक के जीवन में तप साधना की प्रत्येक उपलब्धि सहज रूप में अवतरित हो जाती है। गुरू चरणों की कृपा से तत्व ज्ञान, ब्रह्म तादात्म्य, ईश्वर कृपा सभी कुछ सुलभ हो जाता है। 'चारूचन्द्रलेख' में आचार्य द्विवेदी जी ने सीदीमौला से मंगोल साधु में से एक ने चिल्मिश

---

1. ह0प्र0द्वि0, चारू0 ग्रन्थावली–1, राज0प्रका0 , पृ0सं0 295
2. " " 300
3. " " 298

खान की विजय प्रशंसा की तथा उनकी महत्ता के बारे में बताया कि जब तक कुलगुरू इल्मिश खान का आशीर्वाद नहीं प्राप्त होता, तब तक चिल्मिश खान इस महान संकल्प को कार्यान्वित नहीं करेंगे। सीदीमौला साधु के साथ इल्मिश खान की समाधि पर उत्सव में जाने हेतु तैयार हो गये और उसकी वातों को स्वीकार किया। द्विवेदी जी ने प्रस्तुत उपन्यास में गुरू के सम्मुख जप करने के महत्त्व को वर्णित करते हुये लिखा है –''मैंने गुरू के सम्मुख बैठकर उस अट्ठाईस मनकों वाली माला पर उसका जप किया। गुरू ने मुझे बताया कि गुरू के सामने उत्तराभिमुख होकर जप करने से एक मन्त्रोच्चार का फल, दस लक्ष मंत्र जपने के तुल्य होता है।[1]

भारतीय कला संस्कृति के अन्य कलापों के अतिरिक्त शिल्पकला का अनूठा स्थान है। कुछ मूर्तियाँ बहुत ही सजीव, मनमोहक, आकर्षक होती हैं। चाहे वह भगवद मूर्ति हो या किसी भी प्रकार की मूर्ति हो। ऐसी ही सजीव, आकर्षक मूर्ति का उल्लेख 'चारूचन्द्रलेख' नामक उपन्यास में किया गया है। वह मूर्ति मेघ मेदुर श्रीकृष्ण एवं विद्युद्‌गौरी किशोरावस्था की है। राजा सातवाहन, अहलना एवं मैना के साथ जब चन्द्रलेखा से मिलने के लिए उसके घर पहुँचते हैं, तो वहाँ भगवती माता नाटीमाता की अनुपस्थिति में राधाकृष्ण की युगलमूर्ति को राजा सातवाहन ने देखा तथा त्रिभंगी का अनुमान किया था, पर यह मूर्ति किसी भी साम्प्रदायिक परिपाटी पर बनी हुई नहीं जान पड़ती थी। किसी अत्यन्त मुलायम शिलाखण्ड पर बड़े ही सावधान हाथों से उसे उत्कीर्ण किया गया था। द्विवेदी जी ने शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण मूर्तिकला को चित्रित करते हुए लिखा– ''यह किसी भी साम्प्रदायिक परिपाटी पर बनी हुई जान पड़ती है। वस्तुतः इसे मूर्ति कहा ही नहीं जा सकता ....मेघ मेदुर श्रीकृष्ण की गोदी में विद्युद् गौरी किशोरी राधा अस्त व्यस्त भाव से पड़ी हुई थी।..........नीचे की ओर यमुना की कल्लोलवती धारा और उसके तट पर लुढ़का हुआ एक घड़ा अंकित था। ....कवि ने शिल्पी को और शिल्पी ने कवि को निखार दिया था। कैसी अपूर्व कला थी। ''[2]

नाटीमाता के मधुरोपासना का भाव विह्वल नृत्य[3] तथा कमल और मयूर नृत्य को जयत्रिचन्द्र द्वारा प्रदत्त सम्मान, कारूनटी नगर श्री की उपाधि[4], प्रसंग तद्‌युगीन नृत्यकला तथा उसके प्रति जनमानस की अभिरुचि को अभिव्यंजित किया है। प्रसिद्ध व्याकरण तथा महायोगी भर्तहरि को कथानक का अंग बनाकर तथा वाक्यपदीय का उल्लेख[5] करके लेखक ने तद्‌युगीन साहित्यिक समृद्धि को सूचित किया है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास के सदृश इसमें भी देवि, भगवती, माता, तातपाद, भदन्त आर्य योगराज आदि शिष्टाचार सम्बोधनों का प्रयोग मिलता है। द्विवेदी जी ने

1. ह0प्र0द्वि0 चारूचन्द्र लेख, ग्रन्था–1 राज0 प्रका0 पृ0सं0 298
2. " " 394
3, 4, 5 " " 493, 498, 412–13

भगवती विष्णुप्रिया का आश्रम, नाटीमाता की आराधना का स्थल, नाना गोसाई का मठ, तपस्वी का आराध्य नीललोहित शिवलिंग तथा गधैया ताल एवं वज्रेश्वरी मन्दिर इत्यादि सांस्कृतिक स्थानों का नाम वर्णित किया है। अक्षोभ्य भैरव की आराध्य उग्रतारा की मूर्ति मेंसे निकलती हुई देवी के रूप का वर्णन किया है –"उनके चार हाथों में से एकमेंखड़ग था, एक में नीलकमल था, एक में कैंची थी और एक में खर्पट था। देवी नीले रंग की थी, उनके ललाट की आँखों से ज्वाला निकल रही थी, उनके केश, पिंगल वर्ण के थे। उनकी आकृति छोटी थी, उसमें चारों ओर नाग लिपटे हुये थे, कटिदेश में व्याघ्र चर्म जैसे तैसे झूल रहा था। वे प्रत्यालीढ़पदा मुद्रा में खड़ी थी।"[1]

वैदिक काल में नारी को पूर्ण सम्मान प्राप्त था। वह पुरुष के सदृश अध्ययन करती थी, अध्यापन करती थी, विदुषी होती थी। ज्ञान पर पुरुष का एकाधिकार नहीं था। उस युग में स्रोतों की रचना करने वाली नारियों को ब्रह्मवादिनी कहा गया है। इनमें रोमशा, लोपामुद्रा, घोषा, इन्द्राणी आदि के नाम से प्रसिद्ध है। मनुस्मृति में स्पष्ट तौर पर लिखा हुआ है कि –

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

यत्रेतास्तु न पूज्यन्ते सर्व स्तत्रा फलाः क्रियाः।। (3/56)

शास्त्रों में नारी के माध्यम से पितृ ऋण से मुक्ति की राह बताती गई है। पितृ ऋण से मुक्ति नारी दिलाती है।

स्त्री शक्ति रूपा है। शक्ति के अभाव में शिव 'शव' ही रह जाते हैं। शिव का 'इ' ही शक्ति है। शक्ति ही सही मायने में क्रिया रूप शक्ति है। अकेला 'शव' क्या कर सकता है। शिव होने पर ही वह कल्याणकारी हो पाते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने नारी पर गम्भीरता से विचार किया है। उन्होंने नारी को केवल भोग्या नहीं माना है। द्विवेदी जी के उपन्यासों की नायिकायें परित्यक्ता, विधवा या वैश्या ही रहीं है। वह नारी के शरीर को देवमन्दिर से भी अधिक पवित्र मानते थे। भगवती विष्णुप्रिया भी इस उपन्यास में नारी को शक्तिस्वरूपा मानती है–"स्त्री शरीर महामाया का साक्षात् पार्थिव विग्रह है।"[2]

द्विवेदी जी की दृष्टि में नारी का सम्मान ही व्यक्ति समाज और देश को उर्ध्वगामी बनाता है तथा नारी का अपमान समाज के अधःपतन का प्रतीक है। प्रस्तुत उपन्यास में पृथ्वीराज द्वारा कारूनटी का अपमान तथा पुरी के मन्दिर में देवदासी प्रथा का उल्लेख समाज की पतनोन्मुखता को सूचित करता है। सामन्तीय समाज की इस कुत्सित मनोवृत्ति को विद्याधर भट्ट के

---

1. चारूचन्द्रलेख, ह0प्र0द्वि0, ग्रन्था0–1, राज0प्रका0 पृ0सं0 536
2. " " 402

प्रस्तुत कथन में देखा जा सकता है। – "पुरुष नारी को मांसपिण्ड समझकर भुक्खड़ गिद्ध की तरह उस पर टूट रहा है। नारी भय से व्याकुल होकर अपना वास्तविक धर्म भूल गई है।"[1]

इसी प्रकार आध्यात्मिक साधना के नाम पर नारी का शोषण समाज की कलुषित दृष्टि को प्रकट करता है। लेखक इस शोषण का विरोध करता है। उनके विचार में नारी के समस्त दुःखों का कारण पुरुष है। वह अपने सुख व स्वार्थ के लिए नारी को साधन बनाता है। कुमारी पूजा साधना का शिकार तापस बाला की अन्तर्व्यथा तथा सिद्धियों के प्रलोभन में पागल मोती छोड़कर सीपियों के पीछे भागने वाली चन्द्रलेखा का शुष्क मरुकान्तार सदृश व्यर्थ एवं अनुतप्त जीवन सामन्ती समाज में नारी के अवमूल्यन की घोषणा करता है। नागनाथ का यह कथन लेखक इसी विचार को स्पष्ट करता है – "यह दुःख और यातना का भवसागर सूख गया होता, यदि पुरुष ने नारी को ठीक–ठीक पहचाना होता और अपने चित्त के कल्मष से इस महिमामयी शक्ति को कलुषावृत्त न किया होता।"[2]

द्विवेदी जी की दृष्टि में नारी पुरुष की प्रेरणा हैं, उसकी इच्छा शक्ति है। नारी परिवार की परिधि में ही नहीं जीवन के हर क्षेत्र में पुरुष की समर्थ सहयोगिनी है। नारी की प्रेरणा से ही पुरुष उच्च आदर्शों तथा प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होता है। द्विवेदी जी ने 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में स्त्री महिमा को स्वीकारा तथा लिखा है –"स्त्री देह प्रकृति का साक्षात प्रतिनिधि है, वह विधाता की सिसृक्षा का मूर्तिमान विग्रह है, वह जगत प्रवाह का उत्स है।"[3]

द्विवेदी जी के अनुसार भारतीय संस्कृति में प्राणी का मुख्य कर्तव्य एक दूसरे का सहयोग करना रहा है, भारतीय संस्कृति में मानव कल्याण ही मानव का लक्ष्य होना चाहिए। इसके लिए समष्टि चित्त की आवश्यकता है। समष्टि चित्त के पूर्ण परिष्कार के लिए इसकी ज्ञान शक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति के बीच सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक है। ऐसा होने पर समष्टि मानस की ज्ञान शक्ति की कुण्ठा, इच्छा शक्ति की दिशाहीनता तथा क्रियाशक्ति की जड़ता स्वतः समाप्त हो जायेगी। ऐसा परिष्कृत चित्त ही समतामूलक मानवतावाद पर आधारित विश्व संस्कृति का निर्माण करने में समर्थ हो सकता है।

अन्य लौकिक एवं अलौकिक अवधारणायें :–

आचार्य द्विवेदी जी ने 'चारूचन्द्रलेख उपन्यास' मे लौकिक विषयों को भी वर्णित किया है। या यह कह सकते हैं, कि इस जगत में लोक से सम्बन्धित धारणायें हैं, उनको भी इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है। विद्याधर भट्ट प्रस्तुत उपन्यास में राजा सातवाहन को, स्वातीत के बारे में बता रहे थे कि गंगा में स्नान करके लौटते समय एक विधवा युवती ने देखे हुये दृश्य का शकुन

1. ह0प्र0द्वि0 चारूचन्द्रलेख, ग्रन्था0–1, राज0 प्रकाशन, पृ0सं0 467
2. " " 313
3. " " 362

या उसके फल के बारे में पूछा। उसने देखा था –''गोबर के ढेर पर एक विशाल सर्प फण निकालकर बैठा है, उसके फण पर एक खंजन पक्षी नाच रहा है।''

विद्याधर भट्ट राजा सातवाहन को बताते कि मैंने उसमें स्त्री को सौभाग्य देने वाले सभी लक्षणों को देखा और विनयपूर्वक कहा –''देवि, यदि शास्त्र सत्य है, तो तुम्हें सातदिन के भीतर राज राजेश्वरी बनना चाहिए।''[1] एक दिन वह राजा जयत्रिचन्द्र की राजरानी हुई थी। भारत में अनेक देवी में से एक देवी ज्वाला देवी भी हैं। सीदीमौला मंगोलों के सन्दर्भ में जानकारी देने के पश्चात् ज्वालादेवी मन्दिर का उल्लेख करते हुए कहते है–''मंगोलों के राज्य के उत्तरी हिस्से में जहाँ से रेगिस्तान शुरू होता है, वहाँ ज्वालादेवी का मन्दिर है। वहाँ रातदिन एक ज्वाला जलती रहती है जिसकी ऊँचाई मनुष्य के बराबर होती है। वह ज्वाला कभी–कभी सचमुच मनुष्य की आकृति धारण करती है और तब माना जाता है कि देवी प्रसन्न हुई। उस समय वहाँ जप करने का बड़ा माहात्म्य है।'' ....मैंने सुना था कि जो लोग ज्वालामुखी के दर्शन के अधिकारी नहीं होते है वे इस गन्ध से अभिभूत होकर बेहोश हो जाते हैं, आगे नहीं बढ़ पाते।''[2]

राजा सातवाहन, चन्द्रलेखा उज्जयिनी की ओर आ रहे थे, रास्ते में एक टूटा सा तालाब मिला, जिसका नाम गधैया ताल है। इस ताल के प्रति लोगों की अनेक धारणायें है। द्विवेदी जी ने गधैया ताल के विषय में इस प्रकार लिखा है –''पहले इस तालाब के बीच में एक बड़ा सा खम्भा था, जो प्रातःकाल ऊपर उठने लगता था और दोपहर तक आकाश के बीचों बीच पहुँच जाता था। सूर्य देवता उस पर एक क्षण के लिए विश्राम करके आगे बढ़ जाया करते थे और सूर्यास्त तक वह खम्भा भी घटते–घटते पानी के धरातल तक आ जाया करता था। एक बार विक्रमादित्य उस पर बैठ गये। उद्देश्य था, सूर्य देवता से मिलना। वे रास्ते मेंही जल गये, पर सूर्य देवता प्रसन्न हो गये, और उन्हें अक्षय बटुआ दिया जिसका पैसा कभी घटता ही नही था।''[3]

द्विवेदी लिखते हैं,कि विक्रमादित्य ने उस बटुआ को धोबी को दे दिया, जिसका गधा खो गया था। उसने गधा खरीदने हेतु पैसा निकालकर बटुआ तालाब में फेंक दिया। बटुए के अपमान से सूर्य देवता अप्रसन्न हुए और तालाब के खम्भे को वहाँ से हटा दिया। कहा जाता है,कि वह बटुआ अभी भी सिक्के उगलता है। मालवा में चलने वाले गधैया सिक्के उसी तालाब के ही है। यह ताल तभी से गधैया ताल कहा जाने लगा।

राजा सातवाहन एवं चन्द्रलेखा को आगे बढ़ने पर एक बटवृक्ष मिला।

---

1. ह0प्र0द्वि0 चारूचन्द्रलेख, ग्रन्था0–1 राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 291
2. " " 296
3. " " 336

कहा जाता है, कि कालिदास को इसी बट के नीचे समस्त विद्याओं के स्फुटित होने की सिद्धि मिली थी। 'कुमार सम्भव' नामक कृति कालिदास ने यहीं पर ही लिखा थी। उस वृक्ष के नीचे जटाधारी साधु वहाँ एकत्रित थे, जोकि उस वृक्ष के नीचे रखे हुये शिवलिंग पर जल पुष्प आदि नैवेद्य चढ़ाकर स्तुति कर रहे थे। उस तपस्वी में से एक ने कहा– ''यह जो शिवलिंग देख रहे है, उसे गधैया ताल से निकालकर यहाँ रखा गया है। प्रसिद्ध है, कि कालिदास इसी की पूजा किया करते थे। यहाँ लोग 'कुमार सम्भव' के पांचवे सर्ग का पाठ भी करते हैं। कहते हैं, कालिदास ने पार्वती की तपश्चर्या के रूप में अपनी प्रिया विद्योत्तमा की तपश्चर्या को ही मूर्त रूप दिया है।लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि पार्वती ने ही विद्योत्तमा के रूप में अवतार ग्रहण किया था। कालिदास को भी लोग स्वयं शिव का ही रूप मानते हैं।.................यह निश्चित है कि 'कुमार सम्भव' का पाठ करने से यहाँ सिद्धि प्राप्त होती है। उस शिवलिंग पर गधैया ताल का जल ही चढ़ाया जाता है। कहा जाता है , कि यह महादेव गधैया ताल के जल से ही अभीष्ट दिया करते हैं।''[1]

'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में यत्र तत्र सभी पात्रों की वेशभूषा, फूलफलादि, भोजन सामग्री, तंत्र साधना में माँस मदिरा का प्रयोग, साधकों द्वारा प्रयुक्त सामग्री, मंगोलों के आचार विचार, चीनी मिट्टी के बर्तनों, मेखलाओं आदि के द्वारा लौकिक जीवन को भी संकेतित किया है। मैनसिंह मैना की वेशभूषा का चित्रण करते हुये द्विवेदी जी ने लिखा है –'' आगुल्फ लम्बित कंचुक, कसा हुआ कटित्राण गुलाबी याग, कन्धे पर टिका हुआ विशाल कुन्त, वक्षस्थल पर चिपका हुआ कठोर कवच, कमर में झूलती हुई कोशबद्ध तलवार, पीठपर झूलता हुआ ढाल।''[2]

राजा सातवाहन नाटी माता की कुटिया में पहुँचा था। वहाँ एक ग्रामीण युवक (नट) आया। द्विवेदी जी ने कारूनट की जाति के विशद् विवेचन द्वारा निम्न जातियों के जीवन को चित्रित किया है। नट युवक कारूनट के सन्दर्भ में बताते हुए कहते हैं –''हम लोगों का गाँव–गिराँव तो कुछ होता नहीं। घूमते फिरते है। हम पुरुष लोग मल्ल विद्या और व्यायाम–कौशल से लोगों का मनोरंजन करते हैं, और हमारी स्त्रियाँ नाच–गाकर बड़े लोगों की सेवा करती है। आज यहाँ हैं तो कल और कहीं। और नटों से हम अलग हैं। वे छोटी जात के होते हैं, हम लोग राजपूत हैं।............वीर तो और नट भी होते हैं, पर हम लोग केवल वीरता का ही काम नहीं करते, कलावन्त भी हैं। मेरे प्रपितामह जोधासिंह इक्कीस नगाड़ों को पैरों के ताल से बजा लेते थे। उनकी क्षिप्रता और नृत्यकुशलता से मुग्ध होकर परम भट्टारक अनंगपाल ने उन्हें कारूनट की उपाधि दी थी। एकबार होली के अवसर पर गुलाल पर नृत्य करते हुए उन्होंने अपने पैरों से महाराजाधिराज की मनोवांछिता प्रिया की मूर्ति बना दी

---

1. ह0प्र0द्वि0, चारू0, ग्रन्था0–1 राज0प्रकाशन पृ0सं0 33
2 " " " 4

थी।..........उन्होंने यह भूमि हमें दी थी पुरस्कार में, परन्तु यह राज्य की अन्तिम सीमा पर थी, जो एक प्रकार का निर्वासन भी था। तब से हम लोगों पर अनेक विपत्तियाँ आयी। हम कंगाल हो गये, लेकिन जैसे–तैसे अपनी विद्या बचाये हुये है।''[1]

रानी का भारी भरकस पशु भुजा रूप में अवतार, भैरव बाबा का मानव रूप आदि प्रसंगों में तत्कालीन लोक मानस उभरकर सामने आते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास में लौकिक के अतिरिक्त अलौकिक अवधारणा को भी वर्णित किया गया है। चन्द्रलेखा जब कोटिबेधी रस सिद्धि प्राप्त करने हेतु तत्पर हो जाती है। राजा सातवाहन विभिन्न स्थलों का अनुभव बताना चाहते थे, लेकिन रानी अपने में ही खोयी थी। वह आविष्ट अवस्था में थी। द्विवेदी जी आविष्ट अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं –'' धीरे–धीरे चन्द्रलेखा की चेतना लुप्त होने लगी। पूर्वी आकाश में एक छोटा–सा मेघ खण्ड दिखाई दिया जो देखते–देखते दिगन्त के इस छोर से उस छोर तक व्याप्त हो गया। धूसर बादलों का यह विचित्र जमाव क्रमशः गाढ़ा होता गया। यमराज के भैंसे की भांति उसके रंग और ढंग दोनों भीतिजनक थे। एकाएक वज्र निनाद से दिशाएँ काँप उठीं और विद्युत स्फोट के भयावने पिंगल प्रकाश से दिगन्तराल तड़तडा उठे। एक वक्रज्योति रेखा पूर्वी दिगन्त को चीरकर निकल गयी। ऐसा मालूम हुआ कि उस ज्योति के भीतर से ही एक जटिल तपस्वी पृथ्वी पर चू पड़े। उनके प्रशस्त ललाट पर श्वेत भस्म की त्रिपुण्ड रेखा सिद्धि सोपान के समान दिखायी दे रही थी।..........वे उड़ते से जान पड़ते थे।''[2]

अशोक चल्ल एक गुफा में अक्षोभ्य भैरव के पास पहुँचे। अक्षोभ्य भैरव ने देवी के सम्मुख उग्र नृत्य किया। अशोक चल्ल मूर्च्छित हो गये। अक्षोभ्य भैरव भी संज्ञा शून्य हो गये। बोधा ने बताया कि –''उन्होंने प्रत्यक्ष देवी को मूर्ति में से निकलते देखा। उनके चार हाथों में से एक में खड़ग था, एक में नीलकमल था, एक में कैंची थी, और एक में खर्पट था। देवी नीले रंग की थी, उनकी ललाट की आँख से ज्वाला निकल रही थी, उनके केश पिंगल वर्ण के थे। आकृति उनकी छोटी ही थी, उसमे चारों ओर नाग लिपटे हुये थे, कटिदेश में व्याघ्रचर्म जैसे–तैसे झूल रहा था। वे प्रत्यालीढ़ मुद्रा में खड़ी थी।..........................देवि के निकट अट्टाहास किया और अक्षोभ्य भैरव के ललाट को स्पर्श किया। उन्होंने थोड़ा आगे बढ़कर अशोक चल्ल के ललाट को भी स्पर्श किया।..................उनके नील कपोल पर स्मित की वक्ररेखा इस प्रकार छा गयी मानों घन मसृण मेघमाला पर बिजली की रेखा कौंध गयी हो। उन्होंने दाहिने हाथ के खड़ग से अशोक चल्ल के ललाट का स्पर्श किया और तुरन्त बोधा की ओर

---

1. ह0प्र0द्वि0, चारू0, ग्रन्था0–1, राजकमल, प्रकाशन पृ0सं0 498
2. " " 348

झुककर उनके सिर पर खड़ग की धार मृदु भाव से रख दी।"[1] क्षणभर बाद अशोक चल्ल, बोधा सामान्य हो गये। देवी भी अन्तर्ध्यान हो गयी।

तापस बाला चन्द्रलेखा को सिद्ध तान्त्रिक कुलगुरू उमाकान्दपाद के विषय में बताती हैं, कि – उन्होंने एक बार नेपाल राज पर कोप कर उस ओर जाने वाले समस्त मेघों को साल भर तक दबा रखा था। एकबार महाचीन को जाते समय कुछ वज्रयानी साधकों ने उनका अपमान किया था, तो वे इतने क्रुद्ध हुये कि समस्त उत्तरापथ के वज्रयानियों की वाक्शक्ति एकदम लुप्त हो गयी थी। एकबार एक चैतिक सिद्ध सिंह पर सवार होकर उनसे मिलने आया था। आर्य उमाकान्त पाद ने पहाड़ ही हाँक दिया था और पहाड़ की सवारी पर बैठकर ही उन्होंने चैतिक सिद्ध की आगवानी की थी।"[2]

इस प्रकार आचार्य द्विवेदी जी ने 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में ज्वालादेवी मन्दिर के महात्म्य को वर्णित किया है, तथा गधैया ताल के प्रति लोगों की क्या धारणायें हैं उनकों भी उल्लखित किया है, कालिदास की 'कुमार सम्भव' रचना, जिस वटवृक्ष के नीचे लिखी, उसका तथा शिवलिंग के प्रति लोगों की धारणा को भी प्रस्तुत किया हैं द्विवेदी जी ने लौकिक अवधारणा के साथ ही अलौकिकता को भी विवेचित किया है।

---

1. ह०प्र०द्वि०, चारू०, ग्रन्था०–1, राजकमल, प्रकाशन पृ०सं० 536
2. " " 370

चतुर्थ अध्याय

'अनामदास का पोथा' के अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन

'अनामदास का पोथा' के अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन :—

'अनामदास का पोथा' हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की औपन्यासिक कृतियों में अन्तिम चतुर्थ उपन्यास है। आचार्य द्विवेजी जी ने रैक्व, आश्वलायन, महर्षि औषस्ति, ऋृतम्भरा एवं जटिल मुनि आदि के माध्यम से योग क्रियाओं एवं उन क्रियाओं से प्राप्त होने वाली उपलब्धियों का प्रभावपूर्ण वर्णन किया है। 'अनामदास का पोथा' लिखते समय आचार्य द्विवेदी जी ने इस उपन्यास की परिकल्पना दो खण्डों में की थी। पहला खण्ड "रैक्व आख्यान" शीर्षक से प्रकाशित हुआ, और दूसरा खण्ड उन्होंने लिखना शुरू किया ही था कि काल के क्रूर हाथों ने उन्हें सदा–सदा के लिए हमसे छीन लिया।

प्रस्तुत उपन्यास में एक विरक्त तत्व जिज्ञासु ऋृषिकुमार की जनता के दुःख दैन्य को देखकर प्रवृत्ति मार्ग की ओर उन्मुख होने की कथा है। द्विवेदी जी ने छान्दोग्य उपनिषद के एक छोटे से रैक्व आख्यान की अस्फुट रेखाओं को मनोहर कल्पनाओं का रंग देकर उपन्यास की कलात्मक कथा का निर्माण किया है।

भूमिका भाग में ही लेखक ने आख्यान के विरल कथासूत्र की चर्चा करते हुए अपनी सर्जन प्रेरणा का संकेत दिया है। किसी रथ की छाया में बैठकर शरीर खुजलाते रहने वाले परम तत्व ज्ञानी रैक्व मुनि के पास तत्व जिज्ञासु राजा जनश्रुति का पहुँचना, मुनि के द्वारा राजप्रदत्त उपहारों का लौटाना तथा दुबारा अपनी सुन्दरी पुत्री के साथ राजा के पहुँचने पर कन्या के मुख का उपोद्ग्रहण करते हुये मुनि के द्वारा प्राणब्रह्म का उपदेश देना – कुछ अपूर्ण या कथासूत्र प्रस्तुत करता है।

प्रस्तुत उपन्यास में एक ऐसे सहजभाव सम्पन्न असाधारण किशोर के क्रमिक मानस विकास की गाथा प्रस्तुत की गई है, जो बचपन में ही माता–पिता के सान्ध्यि से वंचित हो जाने के कारण सामाजिक जीवन से अनभिज्ञ एकान्तवासी बनने को विवश हो गया था, किन्तु वह तत्व जिज्ञासा के प्रबल संस्कार जिसे सचमुच अनन्त सम्भावनाओं का भण्डार बनाये हुये थे।

करुणामूर्ति भगवती ऋृतम्भरा का वात्सल्यपूर्ण संरक्षण तथा पितृकल्प महर्षि औषस्ति का तत्वोपदेश लोक व्यवहार से अनभिज्ञ इस किशोर ऋृषिकुमार को पूर्ण विकसित मानव बनाने में योग देता है। राजबाला जाबाला और ऋृषिकुमार रैक्व की आकस्मिक भेंट दोनों के हृदय में प्रेम का उद्रेक करती है। अपनी मातृविहीन कन्या की मनोव्यथा का सही कारण न समझने के कारण

राजा जानश्रुति कोहलीय नृत्यनाट्य तथा गन्धर्वपूजा आदि के उपचारात्मक आयोजन करते हैं।

आचार्य औदुम्बरायण राजकन्या के लिए योग्य वर आश्वलायन की तलाश करते हैं। अरुन्धती के द्वारा जाबाला के मनोवृत्त वर की बात सुनकर वे असमंजस्य में पड़ जाते हैं। तभी रैक्व से जाबाला के प्रति अनुराग की बात सुनकर, उसका मित्र और आचार्य औदुम्बरायण का शिष्य आश्वालायन जाबाला से विवाह के लिए अपनी अस्वीकृति भेज देता है। राजा और जाबाला महर्षि औषस्ति के आश्रम में पहुँचते हैं। वहाँ राजकन्या व रैक्व के पारस्परिक प्रेम की बात जानकर दोनों के विवाह हेतु ज्ञानयज्ञ का आयोजन करते हैं। जटिल मुनि से प्रेम, काम विवाह और उद्वाह आदि का विश्लेषण सुनकर तथा अपने अन्तरतर में प्रतिष्ठित देवता का स्वरूप समझकर तत्व अन्वेषी ऋषि कुमार राजकुमारी जाबाला से उद्वाह कर लेता है।

प्रस्तुत उपन्यास में रैक्व के व्यक्तित्व में सहज मुग्धता एवं विलक्षण प्रतिभा का अद्भुत समन्वय है। विधिवत् लोक व्यवहार के ज्ञान से वंचित रह जाने के बावजूद उसकी तत्व जिज्ञासा, स्वयं परीक्षित सत्य पर आस्था एवं अद्वितीय ग्राहिका शक्ति उसे असाधारण व्यक्तित्व प्रदान करती है। माता ऋतम्भरा का वात्सल्य उसे लोक व्यवहार का ज्ञान कराने के साथ–साथ जन सेवा में प्रवृत्त करता है। वह महर्षि औषस्ति की सहायता से स्वभाव को पहचान कर प्रेम के माध्यम से परम सत्य का सन्धान पाने के लिए प्रवृत्ति मार्ग की ओर बढ़ जाता है।

जाबाला भी बौद्धिक प्रकर्ष, सेवाभावना, निश्छल प्रेम की प्रतिमा है। वह जनसेवा के माध्यम से भगवान वैश्वानर की उपासना करने वाले प्रबुध मुनि रैक्व की आध्यात्म.साधना में सहधर्मिणी बन जाती है।

ममतामयी, वात्सल्यमयी, करुणामयी, भक्ति की प्रतिमूर्ति माता ऋतम्भरा का वात्सल्य पूर्ण मातृत्व रैक्व जैसे वयस्क शिशु के व्यक्तित्व निर्माण में जाबाला जैसी मातृहीन कन्या के व्यथानिवारण में ऋजुका जैसी अनाथ विधवा को सहारा देने में तथा अःकालग्रस्त दीन दुःखियों की सेवा में तृप्ति पाता है। सबको अपना मानने वाले महान तपस्वी मामा का सेवाव्रती व विनोदप्रिय व्यक्ति 'पुनर्नवा' के सुमेर काका की याद दिलाता है। दिव्य चक्षु गुरु की भूमिका का निर्वाह करने वाले महर्षि औषस्ति अपने व्यक्तित्व की गंभीरता के बावजूद मानवीय, संवेदनशील तथा तर्करसंगत एवं मनोवैज्ञानिक ढंग से तत्वबोध कराने वाले आदर्श मार्गदर्शक सिद्ध होते हैं।

'अनामदास का पोथा' उपन्यास की कथावस्तु का मुख्य आधार छान्दोग्य

उपनिषद का चतुर्थ अध्याय है। इसकी सम्पूर्ण कथा और मुख्य पात्र छान्दोग्य उपनिषद से लिये गये हैं। उपनिषद काल को आधार बनाकर लिखी गई कथा में संस्कृति एवं दर्शन का युगपत् निदर्शन तो स्वाभाविक है ही साथ ही में लेखक ने अपनी कल्पना से इन विषयों के साथ–साथ अन्य विषयों का सामंजस्य किया।

इस उपन्यास में ज्ञान व पाण्डित्य का विलयन, रागात्मक हृदय की अन्तर्धारा में प्रवाहित होता है, उसमें ज्योतिष, धर्म, दर्शन, कला, समाजशास्त्र, इतिहास आदि का संवेदनात्मक मंथन प्राप्त होता है।

ज्योतिष गणित :–

ज्योतिष के द्वारा व्यक्ति भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं को भी ज्ञात कर सकता है। ज्योतिष के द्वारा व्यक्ति के राशि नाम या लोक नाम के आधार पर भविष्य ज्ञात किया जाता है। इसी का उल्लेख करते हुये 'अनामदास का पोथा' उपन्यास की भूमिका में लिखा – "मैं एक बार विकट ज्योतिषी के पास गया था। मैंने पूछा कि राशि नाम बताऊँ, या लोक नाम। नाम से ही सब बता देता था।"[1] आगे आचार्य द्विवेदी जी ने भारतीय वर्णमाला एवं यावनी वर्णमाला के सन्दर्भ में भी विचार दिये–

"भारतीय वर्णमाला की विन्यास परम्परा से भिन्न यावनी वर्णमाला से राशि नाम की पद्धति विकसित हुई। किसी समय यहाँ कृतिका नक्षत्र से सत्ताईस नक्षत्रों की गणना होती थी, अब अश्विनी से होती है। पर बहुत सी ज्योतिष गणनाएँ अब भी कृतिका से ही होती है। सत्ताईस नक्षत्रों के 108 चरण होते हैं। यावनी वर्णमाला में इतने अक्षर नहीं थे जो थे उनके पाँच स्वरों समेत 108 बनाना सम्भव नहीं था। क्रम उनका अ, ब, स, जैसा था, बहुत कुछ अंग्रेजी के ए, बी, सी की भाँति। यवन भाषा के पाँच स्वरों के साथ आ, ई, ऊ, ए, ओ, बा, बी, बू, बे, बो होते थे। इन्हीं को नक्षत्रों के चरण का प्रतीक माना जाता था।...............इसे कहते भी अब कहरा चक्र ही है। ....संस्कृत वर्णमाला के घ, ङ, छ आदि कुछ अक्षर जोड़कर 108 की संख्या पूरी की गयी।"[2]

रैक्व जटिल मुनि के पास पहुँचने पर वह रैक्व की हथेली की रेखा देखकर कहते हैं –"ये रेखायें बताती है, कि इस प्रकार के हाथ वालों को न माता का सुख मिलता है,

---

1, 2. ह0प्र0द्वि0, अनामदास का पोथा, ग्रन्थावती–2 राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 306

न पिता का, न भाई का, न बहिन का। वे जन्म से ही अनिकेत होते हैं।"[1] आगे जटिल मुनि रैक्व से कहते हैं –"यह जो बाहुमूल से अनामिका तक गयी हुई तुम्हारी रेखा है, जो जरा सा मध्यमा की ओर झुक गयी है। वह तुम्हें मेरी तरह नहीं रहने देगी। वह परम सौभाग्य की सूचना देती है – बड़ी भारी सिद्धि की।"[2]

कर्म के अनुसार विधाता अनुसार बनी रेखा में परिवर्तन आ सकता है। आचार्य द्विवेदी जी ने संकल्प शक्ति को महत्व देते हुए लिखा है –"तुम्हारी भाग्यरेखा अनामिका मूल से थोड़ा तिरछी होकर मध्यमा की ओर बढ़ गयी है, संकल्प से उसे सीधी कर सकते हो अर्थात् भटकने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगा सकते हो। विधाता की दी हुई सभी रेखाओं को संकल्प शक्ति से जिधर चाहे मोड़ सकते हो।"[3]

ज्योतिष द्वारा शुभ अशुभ का ध्यान रखते हुये कार्य सम्पन्न किया जाता है। रंगमंच के निर्माण के लिए बहुत बातों का ध्यान रखा गया है –"सम, स्थिर और कठिन भूमि तथा काली या गौर वर्ण की मिट्टी शुभ मानी जाती थी। ....प्रेक्षागृह का नापना बहुत महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता था। माप के समय सूत्र का टूट जाना बहुत अमंगलजनक समझा जाता था।...............ऐसा विश्वास किया जाता था कि यदि सूत्र आधे से टूट जाये तो स्वामी की मृत्यु होती है, तिहाई से टूट जाये तो राजकोष की आशंका होती है, चौथाई से टूटे तो प्रयोक्ता का नाश होता है। हाथ भर से टूटे तो कुछ सामग्री घट जाती है। तिथि, नक्षत्र, करण आदि की शुद्धि पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था और इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि कोई काषाय वस्त्रधारी, हीन–वपु या विकलांग पुरुष मण्डप स्थापना के समय अचानक अशुभ फल न उत्पन्न कर दे।"[4]

आध्यात्म :–

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने 'अनामदास का पोथा' उपन्यास में उपनिषद युगीन शुष्क ज्ञान साधना की विडम्बनाओं को अनावृत्त करते हुये मानव को लोक सेवाओं का संदेश दिया है। आचार्य द्विवेदी जी ने 'अनामदास का पोथा' उपन्यास के नायक ऋषिकुमार रैक्व का आख्यान "छान्दोग्य उपनिषद" से उठाकर जिस रूप में विकसित किया है, उससे न केवल तत्कालीन

---

1. ह0प्र0द्वि0, अनामदास का पोथा, ग्रन्थावली–2, राजकमल प्रका0 पृ0सं0 457
2. " " " 460
3. " " " 460
4. " " " 403

विशुद्ध ज्ञानकाण्ड की विडम्बनाओं को ही अनावृत्त किया गया, वरन् आज के परिवर्तित सन्दर्भों में अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बलबूते पर उसे लोक ग्राह्य रूप भी दे दिया गया है। प्रस्तुत उपन्यास में एकान्त अरण्य में लोक परिचित से शून्य किशोर तापस ऋषि कुमार रैक्व ज्ञान समाधि को छोड़कर लोक सेवा के लिए जीवन संग्राम में कूद पड़ते हैं।

द्विवेदी जी के अन्य उपन्यासों के सदृश इसमें भी मानव में मानवीयता की भावना के समावेश पर बल दिया गया है। यदि जनता कष्टमय, दुःखमय रहेगी व मानव ध्यान, साधना में लगा रहेगा, तो वह एक प्रकार का वैयक्तिक सुख ही है। मानव को समाज कल्याणकारी होना चाहिए। प्रत्येक मानव के अन्दर परमात्मा का वास है। यदि मानव के दुःख दर्द को समझना, एक दूसरे के कष्टों के निवारण करना, सहयोग करना ही परमात्मा की सेवा ही है, क्योंकि परम वैश्वानर जन–जन में व्याप्त है, अतः जनसेवा, पर दुःख–कातरता द्वारा उस परम ब्रह्म तक पहुँचते हैं।

कोई भी तप, साधना, ज्ञान दुःखी मनुष्य समाज की उपेक्षा करे केवल वैयक्तिक स्वार्थ सिद्धि का साधन बनकर उसका (मानव समाज का) वरेण्य कदापि नही हो सकता है। दीनदुखियों की वेदना से व्याकुल ऋषिकुमार रैक्व से भगवती ऋतम्भरा कहती है –"अकेले में आत्माराम, प्राणायाम होना ही एक प्रकार का स्वार्थ ही है। इन दुःखियों के प्रति तेरी दृष्टि गई है, तो अन्तरतर के देवता की ओर भी दृष्टि जायेगी।"[1]

वस्तुतः द्विवेदी जी ने अपने औपन्यासिक कृतित्व में जिस धर्म दर्शन भक्ति साधना को अपनाया है, वह मनुष्य के सामाजिक जीवन में बाधक नहीं वरन् सुसाधक है। क्योंकि यह परम ध्यानेय है, मनुष्य की कोई भी भक्ति साधना यदि मनुष्य के सहज सामाजिक जीवन का प्रवाह अथवा मनुष्यता सामाजिक सिद्धि में अवरोधक सिद्धि होती है तो वह मनुष्य की हित कहलाने की अधिकारिणी नहीं है। इन सबका लक्ष्य समष्टि मनुष्यता की हित साधना ही सर्वोपरि है। सामाजिकता की भावना पृथक करने पर तप ढ़ोंग है, साधन सिद्धियाँ व्यर्थ है। यदि मानवीयता मानव में होगी तभी ज्ञानवाणी सार्थवती होगी, तभी ध्यान, समाधियाँ परमतत्व अनुभूति में सफल काम होगी। वस्तुतः मनुष्य की सारी तपश्चर्याएँ धार्मिक साधनायें द्विविधा एवं भ्रांति की तमिस्रा से व्याप्त उसके जीवन मार्ग में आलोक स्तम्भ सदृश है। द्विवेदी जी के अनुसार दूसरों के सुख हेतु अपने आपको निछावर कर देना, सबसे बड़ा तप है। यही हमारी समष्टि साधना होगी। चारूचन्द्रलेख के नागनाथ की भाँति आचार्य

1. ह0प्र0द्वि0, अनामदास का पोथा, ग्रन्था0–2, राज0प्रका0, पृ0सं0 349

औषस्ति कहते हैं –''एकान्त का तप बड़ा तप नहीं है, बेटा! देखो संसार में कितना कष्ट है, रोग है, शोक है, दरिद्रता है, कुसंस्कार है। लोग दुःख से व्याकुल है। उनमें जाना चाहिए। उनके दुःख का भागी बनकर उनका कष्ट दूर करने का प्रयत्न करो।''

द्विवेदी जी ने अपने चतुर्थ उपन्यास 'अनामदास का पोथा' उपन्यास में मानव जीवन (प्राण) के उस आर्थिक (अन्नयन) पहलू को लिया है, जिसे सामाजिक चेतना की आधारभूमि माना जाता है। इस उपन्यास में द्विवेदी जी को अन्नमयी कथा भूमि प्राप्त कर पूर्ण संतोष मिला है। कृतिकार को उपन्यास की आधार कथा भूमि छान्दोग्योपनिषद के चतुर्थ प्रपाठक के रैक्व आख्यान के रूप में अन्नमयी सृष्टि भी मिल गई है। कथा नायक ऋषि रैक्व अन्नमयी सृष्टि में प्राण साधना करते हुए अन्नादी ब्रह्म को परम सत्य के रूप में अनुभव करते हैं, जिसका अभिप्राय है, कि इस अन्नरूपा सृष्टि में प्राणी (मनुष्य) अन्नभोग द्वारा अपनी प्राण साधना करते जीवन जीते हुये समस्त प्राणियों की प्राण साधना (जीने दो) में सहायक बनकर विश्व प्राण चेतना (ब्रह्म या वैश्वानर) की अनुभूति करे।

लेखक ने इस कथा को अन्नमयी सृष्टि के आध्यात्मिक रूपक द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया कि यह आध्यात्मिकता के साथ लोक (समाज) से भी जुड़ जाती है, बल्कि आध्यात्मिकता की दिशा ही लोकोन्मुखी हो गई है, जो ठीक भी है, क्योंकि जान (प्राण) है, तो जहान (समाज) है और जहान है, तो महान (ब्रह्म) है। लोक में मानव का प्राथमिक प्रत्यक्ष सत्य प्राण (जान) ही तो है, जो जीवन जिजीविषा का पर्याय है, अतः इसकी अन्न औषधि द्वारा समग्र साधना (वैयक्तिक खण्ड नहीं) ही लौकिक सिद्धि का सोपान है। आध्यात्मिक साधना का साधन भी यह जीवन ही है। (ये शरीर खलु धर्म साधनम्) इतना ही नहीं आध्यात्मिक साधना के परम सत्य–आत्मा– का यह (प्राण) शरीर में प्रत्यक्ष चैतन्य प्रतिनिधि होने से आत्मा अनुभूति का प्रत्यक्ष एवं प्राथमिक सोपान भी है, फिर लोक (समाज) में अतृप्त एवं दुःखी प्राणी की उपेक्षा करके कोई आध्यात्मिक साधना कैसे सफल हो सकती है, इसीलिए कथानायक रैक्व जब भूख प्यास एवं रोग ग्रस्त मनुष्यों से भरे लोक की उपेक्षा करके अरण्य में प्राण साधना करते हैं, तो वे इसके द्वारा डण्डे को सीधा खड़ा कर देने, समाधि में धरती से ऊँचा उठ जाने इत्यादि के रूप में बाजीगर चमत्कार की सिद्धियाँ तो प्राप्त करते हैं, किन्तु समष्टि नहीं होते, अतः वह भगवती ऋतम्भरा महर्षि औषस्ति मित्र आश्वलायन आदि के संसर्ग में आध्यात्म क्षेत्र के संकीर्ण सत्य प्राण से वृहत्तर सत्य क्रमशः मन, बुद्धि तथा परम सत्य ब्रह्म स्वरूप आत्मा के बारे में जानते हैं, किन्तु जीवनगत स्वानुभूति के अभाव में यह ज्ञान का बोझ भी भार स्वरूप लगता है। जब यह जटिल मुनि के

सान्निध्य में आते हैं और वे उन्हें आध्यात्म क्षेत्र में भी स्वानुभूति सत्य पर ही विश्वास करने की सलाह देते हैं, जिसकी स्वानुभूति के आध्यात्म क्षेत्र के साथ–साथ लोक में शुभा प्रेम, ऋजुका तथा उसके पुत्र तथा दीन दुःखी ग्राम्य जनों की पीड़ित प्राण चेतना में कर चुके थे।

समस्त लोक में जिजीविषा के रूप में प्राण साधना ही तो चल रही है, जिसकी स्वानुभूत सत्य प्राण ही है, इसी प्रकार रैक्व प्राण सत्य पर लौटकर लोक से जुड़ते हैं। जटिल मुनि के संग द्वारा वह अपने लौकिक जीवन को टटोलते हैं, तो उन्हें अपने शुभा प्रेम का सम्बन्ध भी प्राणों के प्रिय स्वभाव से ही ज्ञात होता है, प्राणों का स्वभाव प्रेमी है, अतः इसके द्वारा वह स्वयं तथा अन्यों को प्रेम करते हैं, अतः सभी प्राणी अपने प्रिय प्राणों की रक्षा रोग, भूख, प्यास या अन्य किसी संकट से प्राणपण लगाकर भी करते हैं, एवं इसी प्रकार अपने प्राणों के दृष्टान्त से दूसरों के प्राणों की भी करते हैं। यही प्राणियों का मूल स्वभाव है। इसका विरोधी अतः स्वार्थी मानव तो क्या, जीवित प्राणी भी कहलाने का अधिकारी नहीं है। इसके अनुसार रैक्व को अनुभूत होता है, कि अपनी प्रिया शुभा की रक्षा प्राणपण से कर उन्होंने अपने प्राणों का प्रिय धर्म ही निभाया था, इसी प्रकार उन्हें आध्यात्मिक प्राण तत्व की शुभा प्रेम के रूप में लौकिक स्वानुभूति का संकेत मिलता है, किन्तु अब शुभा प्रेम तक ही सीमित प्राणतत्व की यह संकुचित या खण्डित अतः स्वार्थी स्वानुभूति उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर पाती, क्योंकि प्राण एक प्राणी (व्यक्ति) तक सीमित नहीं, अपितु समस्त प्राणियों के प्राणों के रूप में झंकृति पैदा करेगा। किसी को भी प्राण पीड़ा होगी तो सभी के दर्द जगेगे, किन्तु यदि कोई अपने प्राणों को समस्त प्राणियों में फैले एक अखण्ड प्राणतत्व से पृथक मानकर उसके प्रति उदासीन होकर अपने ही प्राणों की रक्षा पुष्टि में लग जाये तो उसे स्वार्थी भी नहीं, अपितु प्राणघाती पापी माना जायेगा, इसलिए अपने एवं अपने परिजनों के प्राणों की रक्षा पुष्टि करते समय हमें अपने आसपास के प्राणियों के रुग्ण एवं दुःखी प्राणों को भी अनुभूति होनी चाहिए तभी एक अखण्ड प्राणतत्व की सत्यानुभूति हो सकती है।

स्वयं को मुक्त भाव से दान करके आत्यंतिक कल्याणकारी सत्य को पाया जा सकता है। उस महाभाव के समक्ष निःशेषभाव से स्वयं को समर्पित करने की भावना इस सत्य के निकट पहुँचाती है। व्यक्ति की आत्मा केवल व्यक्ति तक सीमित नहीं, वह व्यापक है। अपने आपको दलितद्राक्षा की भाँति निचोड़कर जब तक 'सर्व' के लिए निछावर नहीं कर दिया जाता तब तक स्वार्थ खण्ड सत्य है। अपने आपकों उलीचकर उस वैश्वानर के सम्मुख निर्लिप्त भाव से अर्पित कर देने की भावना व्यक्ति को परम सत्य से साक्षात्कार कराती है। लोकताप से अनुतप्त हुये बिना सत्य की प्राप्ति

कठिन है। महाभाव के समक्ष दान देने वाले सत्य का व्यवहार ही उसकी वास्तविक स्वीकृति है। रैक्व प्रजा के कष्ट की उपेक्षा करने वाले राज्य के ज्ञान का उपहास करता है। वह अपनी कुरूपता शुभा को भी जन सेवा का परामर्श देना चाहता है। भगवती ऋतम्भरा के शब्दों मे –"ऐसा तप वास्तविक तप नहीं, जिसमें समस्त प्राणियों के सुख–दुःख से अलग रहकर केवल अपने आप की मुक्ति का सपना देखा जाता है।"[1]

मोक्ष में वह अवस्था होती है, जिसमें मनुष्य सुख–दुःख भोग रहित हो जाता है, परन्तु भोग की दृष्टि से मोक्ष की अवस्था में मनुष्य ईश्वर की प्राप्ति करता है। आनन्द की प्राप्ति करता है। उस स्थिति में उसे परमानन्द की अनुभूति होती है। वेदान्त दर्शन के अनुसार मोक्ष की स्थिति में मानव संसार की असत्यता से परिचित होकर विरक्त हो जाता है और सांसारिक सुख–दुःख का अनुभव नहीं करता तो उसे जीवन मुक्ति कहते हैं, लेकिन द्विवेदी जी समस्त जगत के दुःखों को दूर करना ही वास्तविक साधना मानते हैं। 'अनामदास का पोथा' उपन्यास में आचार्य औदुम्वरायण रैक्व के पास जाते हैं, लेकिन वह स्त्री और उस बच्चे की तलाश में गये और कहा कि –"दुःखियों का दुःख दूर करना ही सच्ची आध्यात्मिक साधना है, यही तप है, यही मोक्ष है।"[2]

मानव परमतत्व तक पहुँचना चाहता है। जब तक हम कर्म एवं भक्ति के द्वारा अच्छे जीवन की आकांक्षा करते रहेंगे, तब तक हमें वही प्राप्त होता रहेगा, आत्मा ब्रह्म के अभेद को हम को प्राप्त नहीं हो सकेंगे। इस अभेद को जानने के लिए उन्होंने ज्ञान प्राप्ति पर बल दिया है। व्यवहारिक जीवन के लिए व्यवहारिक कर्म, चित्त शुद्धि के लिए निष्काम कर्म और ज्ञान प्राप्ति के लिए अध्ययन, मनन, निदिध्यासन और साधन चतुष्टय पर बल दिया जाता है। प्रस्तुत उपन्यास में परमतत्व की प्राप्ति हेतु महर्षि औषस्ति रैक्व से कहते हैं –"तप और स्वाध्याय से मनन और निदिध्यासन से, ध्यान और समाधि से वह परमतत्व अनुभव का विषय बनता है।"[3]

द्विवेदी जी ने अपने औपन्यासिक कृतित्व में जिस साधना को अपनाया है, वह मनुष्य के सामाजिक जीवन में बाधक नहीं वरन् सुसाधक है, क्योंकि वह परम ध्यानेय है, मनुष्य का कोई भी तप लोक के दुःखों की अनुभूति नहीं करता तब तक सही तप नहीं है। इस उपन्यास में महर्षि औषस्ति रैक्व को द्वैपायन व्यास का विचार बताते हैं, "लोकताप से तप्त होना सबसे बड़ा तप है,

---

1.	ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा, ग्रन्था0–2, राज0प्रका0, पृ0सं0		421
2.	"	"	362
3.	"	"	349

क्योंकि वह अखिलात्मा परम पुरुष की परमाराधना है।''[1]

मैत्रेयी द्वारा याज्ञवल्क्य से अमरता का उपाय पूछने पर बताते हैं —''जिस आत्मा के लिए यह सब कुछ प्रिय होता है, वह आत्मा ही तो दृष्टव्य है, श्रोतव्य है, मन्तव्य है, निदिध्यासितव्य है — इसी को देख, उसी को सुन, उसी को जान, उसी का ध्यान करो।''[2]

प्राणब्रह्म क्या है? औषस्ति ऋषि रैक्व को बताते हैं —''प्राणब्रह्म की उपासना का अर्थ है, निरन्तर आगे बढ़ते रहना। किसी भी बात को अन्तिम सत्य न समझकर और भी, और भी आगे बढ़ने की ओर धावमान गति।''[3] आगे द्विवेदी जी बताते हैं कि —सत्य को पाने के लिए भी किसी निश्चित दृढ़ अवलम्ब की जरूरत होती है, वही दृढ़ अवलम्ब सच्चिदानन्द स्वरूप परमब्रह्म है। ....प्रयत्न वैराग्य की सिद्धि का नहीं, बल्कि सच्चिदानन्द स्वरूप परमब्रह्म की पकड़ के लिए होना चाहिए।''[4]

द्विवेदी जी के अनुसार परम सत्य के साक्षात्कार के लिए, आत्मविद के लिए बुद्धि की नहीं, बोध की आवश्यकता है। अशिक्षित एवं शास्त्रज्ञान से वंचित रहने पर भी सबको अपना बनाने वाला सेवामूर्ति मामा आत्मज्ञ सिद्ध होता है। प्रज्ञा ही हमें अनुभव कराती है, परमतत्व ज्ञान का नहीं अनुभव का विषय है।

मानव परमात्मा की प्राप्ति हेतु इधर उधर भटकता है, ध्यान लगाता है। मन्दिरों में जाकर देवताओं के लिए भटकता है। देवता कहीं अन्यत्र नहीं है, मानव के अन्दर ही है। आचार्य द्विवेदी जी जटिल मुनि रैक्व से माता जी ऋतम्भरा का विचार बताते हैं —''तेरा गुरू तो तेरे भीतर बैठा है। तेरे भीतर तो अनन्त सम्भावनायें भरी पड़ी हैं। तू बाहर क्यों देखता है, तेरा देवता तेरे भीतर ही है।''[5]

द्विवेदी जी ने आगे लिखा है —''एक ही विषय का ध्यान, उसी की धारणा और उसी की समाधि इसी का नाम एकाग्रता है।.....................ध्यान, धारणा और समाधि एकाग्र हो जाये तो योग हो जाता है।''[6]

---

1. ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा, ग्रन्था0–2, राज0प्रका0, पृ0सं0 365
2. '' '' 386
3. '' '' 436
4. '' '' 438
5. '' '' 458
6. '' '' 360

हृदय में स्थित आत्मा पर किसी बाह्य वस्तु का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता है। न ही अग्नि उसे जला सकती है, न ही पानी उसे गीला कर सकता, न ही कोई शस्त्र उसे छेद सकते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में महर्षि औषस्ति ने रैक्व को प्रजापति की घोषणा बतायी थी कि हृदयाकाश में जिस आत्मा का निवास है, वह पापों से अलग है, जरा और मृत्यु से छूटा हुआ है, भूख और प्यास से परे है, सत्य काम और सत्य संकल्प है – उसी की खोज करना चाहिए। उसी को जानना चाहिए। जो उस आत्मा को ढूंढ़कर जान लेता है, वह सब लोगों को, सब कामनाओं को पा लेता है।"[1]

मानव अलौकिक सत्ता, परब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहता है। उसके लिये साधना करना होती है। उस कठोर साधना के पश्चात् परब्रह्म के दर्शन होते हैं। परब्रह्म दर्शन के बाद मानव को असीम, अव्यक्त आनन्द की प्राप्ति होती है। मानव अपार सुख का अनुभव करता है। द्विवेदी जी ने भी प्रस्तुत उपन्यास में परब्रह्म के दर्शन के बारे में वर्णन किया है, कि उपासक समाधि द्वारा परब्रह्म के स्वरूप को देखता है। आश्वलायन ने रैक्व को अजात शत्रु द्वारा बताये गये ब्रह्म स्वरूप को बताया था। अजात शत्रु ने कहा था कि –"समाधि अवस्था में उपासक को ब्रह्म का जो रूप दीख पड़ता है, वह ऐसा है, जैसे केसर के रंग से रंगा महावस्त्र हो, पाण्डुवर्ण की ऊन हो, वीरवहूटी की लालिमा की तरह, अग्नि की ज्वाला की लपट की तरह! जो इस रहस्य को जानता है, उसकी शोभा विद्युत के एक सकृत प्रकाश की भाँति हो जाती है।"[2]

लेखक ज्ञान के पीछे अन्धे पागलपन को नगण्य मानकर आचरण की पवित्रता पर बल देता है। प्रस्तुत उपन्यास में राजा जनश्रुति तत्व ज्ञान के पीछे पागल रहने वाले एक ऐसे ही कल्पना विहारी जीव हैं, जिनके शुष्क तत्व ज्ञान का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। उपन्यासकार द्विवेदी जी जनसेवा को ही जीवन साधना का मूलमंत्र मानता है। महर्षि औषस्ति रैक्व को दीनजनों की सेवा उपदेश देते हुए कहते हैं –"पर दुःख कातरता सबसे बड़ा मानवीय गुण है।"[3]

जाबाला भी सिद्ध महात्मा से ऐसा ही उपदेश सुनकर कातर एवं द्रवित हो जाती है, और कहती है –" मेरा अन्तरतर आज चिल्लाकर कह रहा है, कि शरीर, मन, प्राण सभी विनश्वर साधन तभी सार्थक होंगे, जब उन्हें दुःखियों का दुःख दूर करने में लगा दिया जायेगा।"[4]

लेखक की दृष्टि में सेवा में भी निरहंकार वृत्ति आवश्यक है। अपने को

1.	ह0प्र0द्वि0, अना0का पोथा, ग्रन्था0–2, राज0प्रका0, पृ0सं0	345–346
2.	" "	423
3.	" "	349
4.	" "	362

समर्थ तथा विपन्न लोगों को दयनीय समझकर किया सेवा कार्य साधना का रूप नहीं ले पाता है। अहंकार छोड़कर दुःखी प्राणियों को भगवान वैश्वानर का रूप मानकर की गई सेवा परम प्रेमिक की आराधना बन जाती है। लेखक शुष्क ज्ञान साधना की विडम्बनाओं को अनावृत्त करते हुए लोकसेवा की साधना में ही जीवन की सार्थकता मानता है। एकान्त का तप तप नहीं है। लेखक की दृष्टि में तत्व ज्ञान की अपेक्षा आचरण अधिक महत्वपूर्ण हैं। निःस्वार्थ भाव से जनसेवा ही वैश्वानरोपसना है।

उपन्यासकार द्विवेदी जी प्रेम को आत्मिक साधना का प्रमुख अंग मानते हैं। ऋषिकुमार रैक्व और जाबाला का पवित्र प्रेम उन्हें उर्ध्वगमन की प्रेरणा देता है। व्यक्तिगत प्रेम परम वैश्वानर के प्रेम का प्रथम सोपान है। दाम्पत्य सम्बन्ध प्रेमसाधना का प्रारम्भिक चरण है। इसी का उच्चतर रूप उद्वाह है, जो दम्पत्ति की पारस्परिक चेतना के परिष्कार का माध्यम बनता है।

दर्शन :–

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने छान्दोग्योपनिषद वृहद अरण्यकोपनिषद तथा तैत्तरीयोपनिषद में वर्णित विविध विद्याओं का सारांश प्रसंगानुसार महर्षि औषस्ति, ऋतम्भरा तथा आश्वलायन के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। 'अनामदास का पोथा' उपन्यास का मूल आधार रैक्व आख्यान छान्दोग्योपनिषद का ही अंश है। इसमें चर्चित प्रमुख विद्यायें इस प्रकार हैं – संवर्ग विद्या, भार्गवी विद्या, गुरू महत्वोदाहरण दहर ब्रह्मेपासना, वैश्वानरोपसना, मधु विद्या, नारद सनत्कुमार संवाद, याज्ञवल्कय मैत्रेयी संवाद आदि।

हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा कृत 'अनामदास का पोथा' भारतीय शास्त्र चिन्तन और पुराण दर्शन से सर्वाधिक प्रभावित हैं। द्विवेदी जी ने उपन्यासों के भीतर विशुद्ध तत्व चिन्तन पर विचार दिया है। तत्व चिन्तन से तात्पर्य उस दार्शनिक चर्चा से हैं जो प्रत्येक देश और समाज में आदिकाल से जीवन तथा जगत के प्रयोजन, पिण्ड और ब्राह्मण्ड के सम्बन्ध, जीवतत्व और ईश्वर तत्व की प्रतीति को लेकर उठती रहती है।

तत्व चिन्तन के सिलसिले में पिण्ड और ब्राह्मण्ड की एकता का विशद् रूपक इस उपन्यास में आया है, रैक्व को इस महासत्य की प्रतीति बुद्धि से नहीं, बोध से हुई थी, स्वयं अनुभव करने से हुई थी। इसमें निहितार्थ यह है कि विशद् तत्व ज्ञान बुद्धि का विषय नहीं, प्रज्ञा का विषय है। प्रज्ञा से बोध जाग्रत होता है– अर्थात् अनुभव के स्तर पर तत्व ज्ञान अर्जित किया जाता है। तापस कुमार रैक्व कैसे इस सत्य तक पहुँचे, इसका उत्तर माता जी के उस उदबोधन में खोजा जा

सकता है, जो वे रैक्व को सम्बोधित करके देती हैं – "यह कभी मत भूलना कि ऐसा तप वास्तविक तप नहीं है जिसमें समस्त प्राणियों को सुख दुःख से अलग रहकर केवल अपने आपकी मुक्ति का ही सपना देखा जाता है। सारा चराचर जगत उसी परम वैश्वानर का प्रत्यक्ष विग्रह है, जिसका एक अंश तुम्हारे अन्तरतर में प्रकाशित हो रहा है, सत्य से च्युत न होना धर्म से च्युत न होना, निखिल चराचर रूप पर वैश्वानर को न भूलना।"[1]

द्विवेदी जी ने उपनिषद कालीन ब्रह्म, आत्मा, जगत के मूल कारणों के अन्वेषण की जिज्ञासा का दार्शनिक विवेचन किया। ऋतम्भरा के शब्दों में –"आजकल लोग मूल तत्व की खोज में पागल से हो रहे हैं।"[2]

आचार्य द्विवेदी जी ने राजा जनश्रुति की स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है –" संसार का मूल तत्व क्या है, अगर वह ब्रह्म है तो निमित्त कारण है या उपादान कारण है, वह कौन सी चीज है, जिसमें समस्त चराचर जगत उत्पन्न होता है, जीवित रहता है और फिर सबको अपने आप में समेट लेता है? मृत्यु के बाद आत्मा नाम की कोई चीज बनी रहती है या सब कुछ खत्म हो जाता है। जागरण, स्वप्न और निद्रा से भिन्न कोई चतुर्थ अवस्था है या नहीं? इन्हीं बातों की उधेड़बुन में लगे रहते थे।"[3]

भारतीय दर्शन के अनुसार मानव नियति नटी की क्रिया कन्दुक है, किन्तु मानव अपनी संकल्प शक्ति के द्वारा विधि के विधान को परिवर्तित कर सकता है। यह आवश्यक नहीं है, कि नियति के द्वारा मानव के लिए जो लिख दिया है, वही होकर रहेगा। उसके लिए मानव को कर्म करना पड़ेगा। कर्म करने से पूर्व मानव को उस कर्म को करने के लिए संकल्प करना होगा। रैक्व को समझाते हुए जटिल मुनि के कथन में इसी तथ्य की पुष्टि हुई है –"विधाता की दी हुयी सभी रेखाओं को संकल्प शक्ति से जिधर चाहो मोड़ सकते हो।"[4]

सत्य क्या है? इस सन्दर्भ में रैक्व ने जो ऋषि की बात सुनी हुई थी, उसी बात को सोचता है –"सत्य के तीन अक्षर है। इक 'स' है, एक 'ति' है और एक 'अ' है। पहला और तीसरा अक्षर सत्य है, और बीच वाला मिथ्या है।................इसका मतलब यह हुआ कि जो कुछ

---

1. ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा, ग्रन्था0–2, राज0प्रका0 पृ0सं0 421
2. ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा, ग्रन्था0–2, राज़0प्रका0 पृ0सं0 355
3. " " 357
4. " " 460

दिखायी दे रहा है, वह बीच का है, और सब असत्य हैं।"[1]

लौकिक जगत को असत्य माना जाता है, ब्रह्म जगत ही मात्र सत्य है। वास्तविक रूप से सत्य उसे माना जाता है, जिसे मानव सुन नहीं सकता, देख नहीं सकता है, जो कि निर्विकार, निराकार है, वही सत्य है, जिसे केवल अनुभव किया जा सकता है। कोई मन को सत्य मानता है, कोई प्राण को सत्य मानता है, लेकिन सत्य वह माना जाता है, जो वाणी को अभिव्यक्ति प्रदान करता है, जिसके द्वारा हम नेत्रों से देख सकते हैं। द्विवेदी जी ने इस उपन्यास में परम सत्य के सन्दर्भ में जाबाला के पिता द्वारा बताये गये विचार को प्रस्तुत किया है। 'अनामदास का पोथा' उपन्यास में जनक का विचार सत्य के सन्दर्भ में दिया गया है –"जिसकी कल्पना करने में मन असमर्थ है, किन्तु जो मन की कल्पना करती है, उसी को परम सत्य समझो, जिसे देखने में नेत्र असमर्थ हैं,.................जिसे श्रवण सुन नहीं सकते, जो श्रवण ज्ञान की शक्ति प्रदान करती है, वहीं परम सत्य है।"[2]

उपनिषदों का एक तत्व के माध्यम से परम तत्व तक पहुँचने का सिद्धान्त ही एकैकतत्ववाद के नाम से अभिहित किया गया है। वायु सूर्य, अग्नि आदि देवताओं के मध्य से परमतत्व की आराधना ही वैदिक ऋषियों का लक्ष्य था। महर्षि औषस्ति कहते हैं –"वैदिक विचारक एकैकतत्ववादी थे। वे जिस समय जिस देवता की स्तुति कर रहे थे, उस समय उसी को एकमात्र परम शक्ति के रूप में अनुभव करते थे।"[3]

रैक्व के अन्तर्मन में प्रश्न उठता है, कि क्या प्राणतत्व से भी आगे मन तथा आत्मा है, तो भार्गव: विद्या का सार समझाती हुई ऋतम्भरा कहती है –"इस शरीर में अन्न का बना अंश भी है, प्राण भी है, मन भी है, विज्ञान भी है, आत्मा भी है, इसमें सत्य सभी हैं, पर उत्तरोत्तर बलवान है।"[4]

ब्राह्मण्ड ब्रह्म द्वारा निर्मित है, लेकिन ब्रह्म का भी स्वरूप होता है। इस जगत की समस्त घटित होने वाली घटनायें ब्रह्म की ही सृष्टि हैं। ऋषियों के मस्तिष्क में ब्रह्म के दो स्वरूप थे, एक गुण, विश्लेषण, आकार और उपाधि से परे– निर्गुण निर्विशेष, निराकार और निरूपाधि और दूसरा इन सब बातों से युक्त अर्थात् सगुण, सविशेष, साकार और सोपाधि। पहले परमब्रह्म है और दूसरा अपरब्रह्म । आपात दृष्टि से ऐसा जान पड़ता है, कि यह बात एक दम असंगत है, कि एक ही

1. ह0प्र0द्वि0, अनामदास का पोथा, ग्रन्थावली–2, राज0प्रकाशन पृ0सं0 316
2. " " " 328
3. " " " 349
4. " " " 342

वस्तु एक ही साथ सगुण भी हो और निर्गुण भी, साकार भी हो और निराकार भी, सविशेष भी हो और निर्विशेष भी, सोपाधि भी हो, निरूपाधि भी। इसके उत्तर में वेदान्ती लोग कहते हैं, कि ब्रह्म अपने आप में तो निर्गुण, निराकार, निर्विशेष और निरूपाधि ही है, परन्तु अविद्या या गलत फहमी के कारण या उपासना के लिए हम उसमें उपाधियों या सीमाओं का आरोप करते हैं। वस्तुतः सोपाधिक ब्रह्म भ्रममात्र है, ठीक उसी तरह तो नहीं जिस तरह सीपी को चाँदी समझना, यह समझने वाले का भ्रम मात्र है, असल में वह आर्य भ्रम है, फिर भी गलती से यदि कोई सीपी को, कोई चाँदी समझ ले तो सीपी सीपी ही रहेगी चाँदी नहीं हो जायेगी। इसी प्रकार निर्गुण और निरूपाधि ब्रह्म को जब हम गलती से सगुण और सोपाधि मान लेते हैं, तो ब्रह्म निर्गुण का निर्गुण और निरूपाधि का निरूपाधि ही बना रहता है। इसलिए जो परं निर्गुण ब्रह्म है उसे श्रुतियाँ बार–बार इस प्रकार प्रकट करती हैं वह मोटा भी नही, पतला भी नहीं, छोटा भी नहीं, बड़ा भी नहीं, लोहित भी नहीं स्नेह भी नहीं, छायायुक्त भी नहीं, अन्धकार भी नहीं, वायु भी नहीं, आकाश भी नहीं, इत्यादि। (वृहदारण्यक) 3–8–8 यह भी नहीं, वह भी नहीं – नेति नेति (वृहदारण्य 2–3–6) या शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित, गन्धरहित है। (कठोपनिषद 3–15) इत्यादि किन्तु ये सभी बातें अतद् व्यावृत्ति रूप से कही गयी हैं अर्थात् इस प्रकार के कथन का अर्थ यह है, कि परब्रह्म समस्त ज्ञात वस्तुओं गुणों और विशेषणों से विलक्षण हैं।

भावरूप से कहने के लिए वेदान्ती लोग दो तीन शब्दों का व्यवहार करते हैं। सर्वाधिक प्रचलित शब्द है सत् और चित। इन दो शब्दों से वेदान्ती यह बताना चाहते हैं, कि ब्रह्म सत और चैतन्यस्वरूप चित है। जिस प्रकार नमक ढेले से बाहर से भीतर तक सर्वत्र नमकीन ही नमकीन है, इसी प्रकार ब्रह्म भी शुरू से आखिर तक केवल चैतन्य ही चैतन्य है। इन दो भाव रूपों के अतिरिक्त एक और भाव रूप भी परवर्ती वेदान्ती ग्रन्थों में महत्वपूर्ण स्थान अधिकार कर सका है, वह है आनन्द अर्थात् ब्रह्म आनन्दस्वरूप है।

श्रुति में ब्रह्म को और भी दो प्रकार से कहा गया है। (1) सब कुछ करने वाला है, सब कामनाओं से भरापूरा है, सब रसों का आश्रय है, सर्वगन्धमय है..............इत्यादि (छान्दोग्योपनिषद 3–14) फिर ''अग्नि इसका सिर है, सूर्य चन्द्र आँखें हैं, दिशायें कान हैं............इत्यादि (मुण्डक 2–1–4) इन वाक्यों में स्पष्ट भी ब्रह्म में सीमाओं का गुणों का आरोप किया गया है। (2) कभी–कभी ब्रह्म को श्रुति में छोटा से छोटा अंगुष्ठ मात्र पुरुष, हृदयकमल वासी और वामन आदि भी कहा गया है।

यह जो गुणमय अपरं ब्रह्म है, उसी पर से वेदान्तशास्त्र का ईश्वर सम्बन्धी विचार विकसित हुआ है। इस गुणमय ईश्वर से संसार का कारवार चलता है।

ब्रह्म सर्वव्यापक एवं सर्वस्रष्टा है। सारी सृष्टि उसी के द्वारा निर्मित है। इस विचित्र सृष्टि को परम शक्तिमान ब्रह्म ने शून्य से निर्मित किया है। ब्रह्म सबका स्वामी है, सबमें निवास करता है, सबकी गति को भरपूर जानता है। ऐसी कोई वस्तु या बात नहीं है जो उससे अज्ञात हो। महाभक्तकवि तुलसीदास जी ने भी लिखा है–"सबको प्रभु, सबमें बसे, सब की गति जानै।"

'अनामदास का पोथा' नामक उपन्यास में आश्वलायन रैक्व से कहते हैं –"मैंने सुना है कि कविराज अजातशुत्र ने गार्ग्य को बताया था कि ब्रह्म के दो रूप हैं मूर्त और अमूर्त। अमूर्त तो वायु और अन्तरिक्ष है, और मूर्त है यह सारा प्रपंच जो आँखों को दिखायी देता है।"[1]

आत्मा नामक एक स्थायी वस्तु है, जो बाहरी दृश्यमान जगत के विविध परिवर्तनों के भीतर से गुजरता हुआ सदा एक रस रहता है। आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में संक्रमित होता है। गीता में भगवान ने कहा है –जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र को छोड़कर नया धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीर को त्यागकर नवीन शरीर धारण करता है। वृहदारण्यक उपनिषद में बताया गया है कि जोंक जिस प्रकार एक तृण से दूसरे तृण से दूसरे पर जाते समय पहले अपने शरीर का अगला हिस्सा रखती है, और फिर बाकी हिस्से को खींच लेती है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर में प्रवेश करता है। वृहदारण्यक में कहा गया है– यह आत्मा विज्ञान, मन, प्राण, श्रोत्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस, अतितेजस, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म और अधर्म, इत्यादि सब कुछ लेकर निर्गत होता है।

बदलने वाली वस्तु नाम और रूप है और स्थिर, शाश्वत वस्तु आत्मा है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हार, अँगूठी, कंकण आदि में बदलने वाली वस्तु नाम और रूप है, पर स्थिर वस्तु सोना है। आत्मा के दो आवरण हैं पहला आवरण तो शुक्र शोणित निर्मित शरीर है, इसी को उपनिषदों में अन्नमय कोष कहा गया है। दूसरा आवरण अधिक सूक्ष्म है। उसमें क्रमशः मन, प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय और आनन्दमय कोष है लेकिन आत्मा अजर अमर है।

'अनामदास का पोथा' उपन्यास में जाबाला राजा जनश्रुति की पुत्री दुखियों का दुःख दूर करने के लिए उत्सुक होती है। वह भी शरीर को नष्टप्राय मानती है। आत्मा को

---

1. ह०प्र०द्वि०, अनामदास का पोथा, ग्रन्था०–2, राज०प्रका०, पृ०सं० 423

अजर अमर मानती है। द्विवेदी जी ने जाबाला के माध्यम से आत्मा के सन्दर्भ में विचार दिया है कि –"आत्मा अजर है, अमर है, उसका अधिष्ठान यह शरीर विनाशमान है।"[1]

प्रत्येक मानव में किसी न किसी रूप में प्रेमभाव किसी वस्तु व्यक्ति के प्रति होता है, तो प्रेम के वशीभूत होकर कुछ भी कर सकता है। जगत में रहकर प्राणी कुछ इच्छायें, अभिलाषायें रखता है। इच्छाओं का समुद्र अतृप्त है, जितनी इसकी पूर्ति करो उतनी ही बढ़ती जाती है। प्राणियों को मानव भाव अत्यधिक प्रिय होते हैं। उस भाव में निहित पुरुष ही ब्राह्माण्ड की आत्मा कही जाती है। आचार्य द्विवेदी जी के उपन्यास 'अनामदास का पोथा' में मानव हृदय में अकस्मात् उदित होकर सारे जगत को मधुमय बना देने वाले प्रेम को अनुपक्षणीय मानने वाला ऋषिकुमार आश्वलायन अपने मित्र रैक्व को प्रिय वस्तुओं में आत्मा का वास बताता है। इसी प्रसंग में दधीचि प्रोक्त मधु विद्या का सार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं –"यह जो मनुष्य भाव है, प्रेम है, मैत्री है, चाह है, अभिलाषा है, तड़प है, व्याकुलता है – यह मनुष्य भाव भी सब प्राणियों को मधु के समान प्रिय है। इस मानुष भाव में जो तेजोमय पुरुष है, वह समष्टि रूप ब्राह्मण्ड की आत्मा है।"[2]

जाबाला से भेंट होने पर ऋतम्भरा रैक्व के प्रति अपने वात्सल्य स्नेह की चर्चा करती हुई याज्ञवल्क्य मैत्रेयी का संवाद सुनाती है। भगवती ऋतम्भरा कहती है –"कोई भी वस्तु या प्राणी इसलिए प्रिय नहीं है, कि वह अपने आप में प्रियता रखता है, वस्तुतः सचराचर रूप राशि भगवन्त अर्थात् परम वैश्वानर ... रूप में अपने को अभिव्यक्त कर रहे हैं।.....................वे ही आत्मा रूप में हर व्यक्ति में विराजमान है। प्रत्येक का अपना अलग स्वभाव है। उसी अलग स्वभाव से वे मनुष्य में प्रियता उत्पन्न करते हैं।"[3]

मानव सामाजिक तथा कुछ और ज्ञान भी प्राप्त कर लेता है, वह अहंकारी हो जाता है। ज्ञान भी दो प्रकार का होता है (1) परा ज्ञान (2) अपरा ज्ञान। लौकिक ज्ञान समाज द्वारा ज्ञात हो सकता है, लेकिन अलौकिक ज्ञान परमतत्व का ज्ञान केवल बुद्धि द्वारा नहीं ज्ञात किया जा सकता है। मानव की अन्तरात्मा में विधाता ने प्रज्ञा नामक एक और शक्ति दी है, वह अनुभव कराती है। परमतत्व का ज्ञान बोध का विषय है, स्वयं अनुभव करने का विषय है। यदि शान्त निश्छल भाव से, स्थिर चित्त से बैठकर ध्यान करेगा तो उस अलौकिक परमतत्व के दर्शन होंगे। उस परम सत्य

---

1. ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा, ग्रन्था–2, राज0प्रका0 पृ0सं0 362
2. " " 425
3. " " 387

की झलक पाने के लिए हमें अपनी कुण्ठाओं को छोड़कर ह्रदय का द्वार खोलना पड़ेगा, क्योंकि प्रज्ञा ही हमें अनुभव कराती है, परमतत्व ज्ञान का नहीं अनुभव का विषय है। प्रस्तुत उपन्यास में महर्षि औषस्तिपाद परमतत्व के पास पहुँचने के सन्दर्भ में कहते हैं –"एक बार प्रयत्न करो कि तुम उसे अपने ह्रदय देश में बैठा सको, उसका स्वागत कर सको, उसके चरणों में अपने आपको निछावर कर सको।"[1]

आत्म अजर अमर है। अशरीरी है। एक शरीर से दूसरे शरीर में चली जाती है। जिस प्रकार रथ के साथ घोड़ा जुता रहता है, वैसे ही उसका प्राण, उसकी आत्मा इस शरीर रूपी रथ के साथ जुता रहता है, वह स्वयं शरीर नहीं है, न शरीर तथा आत्मा का मूलगत कोई सम्बन्ध है। आकाश में जहाँ भी आँख जुड़ी हुई है, वह चाक्षुष पुरुष वह आत्मा बैठा। इस उपन्यास में औषस्ति ऋषि ने रैक्व को आत्मा के सन्दर्भ में बताया, जिसमें प्रजापति द्वारा इन्द्र को आत्मा के स्वरूप के सन्दर्भ में बताये गये विचार को बताया –"जो देख रहा है, वही आत्मा है। नासिका गन्ध ग्रहण करने के लिए है – यह साधन है, जो गन्ध ग्रहण करता है, वही आत्मा है, कान सुनने के लिए है, यह साधन है, जो सुनता है वही आत्मा है।"[2]

प्रस्तुत उपन्यास में प्राण या वायु तत्व को ही समस्त पदार्थों का आश्रय मानने वाले रैक्व मुनि का यह तत्व ज्ञान 'संवर्ग विद्या' के नाम से प्रसिद्ध था। इस उपन्यास में प्राणोपासना द्वारा रैक्व की विशिष्ट सिद्धि प्राप्ति को स्वीकार करते हुए भी इसे खण्ड सत्य का साक्षात्कार ही माना गया है। 'अनामदास का पोथा' उपन्यास में लेखक ने पुरातन चिंतन की नूतन व्याख्या प्रस्तुत की है। भगवती ऋतम्भरा द्वारा दीन दुःखियों की सेवा को ही वैश्वानर की उपासना बताया गया है।

भाषा विज्ञान :–

द्विवेदी जी ने अन्य उपन्यासों के सदृश 'अनामदास का पोथा' उपन्यास में भी भाषा विज्ञान विषय से सम्बन्धित उल्लेख किया है। कौन सा शब्द किस भाषा से उत्पन्न हुआ तथा कौन शब्द में कौन सी भाषा का मिश्रण है।

इसमें वैदिक कालीन आश्रम व्यवस्था का वर्णन किया गया है। आश्रम में ऋषियों के अतिरिक्त बकरी, गाय आदि रहती थी। आचार्य जी ने लिखा –"बकरियों को अजा कहा जाता था। उनके दूध से जो घी बनता था उसे आज्य कहा जाता था। ....बाद में गाय के घी को भी आज्य ही कहा जाने लगा।"[3]

---

1. ह0प्र0द्वि, अना0 का पोथा, ग्रन्थावली–2, राज0प्रका0 पृ0सं0 439
2. " " " 348
3. " " " 315

कन्या शब्द को स्पष्ट करते हुए रैक्व शुभा से पूछने पर कहते –"स्त्रीलिंग" शब्द भाषा में व्यवहार किये जाते हैं।............कन्या शब्द स्त्रीलिंग है। इसलिए मैं आपको कन्या शब्द से सम्बोधित कर सकता हूँ। मुझे यह मालूम है कि आर्ये, भवति, शुभे इत्यादि शब्द स्त्रीलिंग के सम्बोधन है।"[1]

आचार्य औदुम्बरायण आश्वलायन से मुलाकात का वर्णन करते हुये रास्ते में मिलें हंसों के 'रयि क्व' चिल्लाने की बात को बताते है। आगे लिखा –'रयि' सम्पत्ति को कहते हैं। तुझे तो बताया था, याद नहीं है? वेदों की ऋचाओं में भी यह शब्द आता है।"[2]

आचार्य औदुम्बरायण ने जाबाला को वीरवाला कहते हुये कहा –"प्रातृद ने अपने पिता से वीर शब्द की व्याख्या की थी? उन्होंने बताया था कि 'वीर' शब्द के 'वी' अक्षर का अर्थ है विष्ट अर्थात् अन्न। और 'र' अक्षर का अर्थ है रमण–प्राण। अन्न में ही सब प्राणी प्रविष्टि है और प्राण में ही सब रमण करते हैं।"[3]

मामा के माध्यम से भ्रुंकुश शब्द को स्पष्ट करते हुए लिखा –"स्त्रियों में भ्रू विलास, भ्रू बर्जना और आँखों का अभिनय सहज स्वाभाविक होता है।................बहुत शिक्षा लेने के बाद पुरुषों में आँखों और भ्रुओं के अभिनय की योग्यता आती इन लोगों को भ्रुओं का अभिनय बड़े परिश्रम से सीखना पड़ता। इसीलिए उनको भ्रुंकुश कहते हैं।"[4]

रैक्व जिसे दीदी कहते थे, वह अपना नाम उजुआ बताती थी। द्विवेदी जी ने लिखा –" यह संस्कृत शब्द ऋजुका का प्राकृत रूप था। माता जी ने उसके संस्कृत रूप ऋजुका को ही अपना लिया है।"[5]

आश्वलायन रैक्व को वाचक्कनु का मत बताते हैं–"कपिश–गन्धार के लोग कोमल वर्णों के स्थान पर परुष वर्णों का प्रयोग करते हैं। वे गगनम को ककनम कहते हैं।"[6] आश्वलायन एवं रैक्व शास्त्रार्थ करते फिर गन्धर्व का उच्चारण के सन्दर्भ में कहते –"गन्धर्व को लोग कन्दर्प कहेंगे।..................क्वचित, कद्चित् मध्यवर्ती कोमल महाप्राण वर्ग को कोमल अल्पप्राण ही रहने देते हैं। जैसे गंध को वे लोग कन्द कहते हैं।" गन्धर्व और कन्दर्प वस्तुतः एक ही शब्द के दो उच्चारण

1	ह0प्र0,द्वि0, अनामदास का पोथा, ग्रन्था–2, राज0प्रका0, पृ0सं0		322
2.	"	"	330
3.	"	"	362
4.	"	"	395
5, 6	"	"	411, 429

है।..........गन्धर्व एक देवजाति है, उसी का प्रधान सेनानायक कन्दर्व है।..................निघण्टु में जिसे कुसुमसायक, कामदेव, पुष्पधन्वा आदि कहा जाता है।''[1]

पौराणिक वृत्ति :–

'अनामदास का पोथा' में आचार्य द्विवेदी जी ने पुराणों से सम्बन्धित विषयों को प्रस्तुत किया गया है। 'अनामदास का पोथा' उपन्यास की भूमिका में उम्र के सन्दर्भ में विचार दिया गया है।'' महाभारत में कहीं लिखा है कि जो आदमी सतहत्तर वर्ष, सात महीने, सात दिन जी जाता है, वह देवता बन जाता है, सो उनके विचार से मैं इतनीं उमर पार कर गया था।''[2]

रैक्व के पास जाबाला के पिता जनश्रुति भी उपहार ले कर जब जाते हैं, तो रैक्व अस्वीकार करते है। यही बात उपनिषद से गवाही प्राप्त होती है –''उपनिषद की गवाही से इतना ही पता चलता है, कि रैक्व मुनि ने शूद्र राजा को उपदेश देना अस्वीकार कर दिया। अन्न और सोने का उपहार भी लौटा दिया।............उन्होंने कहा कि उन्हें राजा के गोवंश, हार और रथ से कोई मतलब नहीं है। बेचारे जग्नश्रुति लौट आये।''[3]

जाबाला ने पिता से सुना था, कि पुराकाल में सत्यबाग ने याज्ञवलक्य को मन ही सत्य बताया है लेकिन जनक ने कहा है –''जिसे वाणी व्यक्त नहीं कर सकती, किन्तु जो वाणी को अभिव्यक्ति प्रदान करती है, उसी को परम सत्य समझो।''[4]

पिण्ड में प्राण में वायु ब्राह्मण्ड में दो एक ही तत्व हैं। पुराण ऋषियों ने अनुभव किया था –''पिण्ड में जो आत्मा है, वही ब्राह्मण्ड में ब्रह्म है – सदा विद्यमान अखण्ड चैतन्य, अनाविल आनन्द रूप।''[5]

वैश्वानर उपासना के सन्दर्भ में द्वैपायन व्यास ने कहा है –''लोकताप से तप्त होना सबसे बड़ा तप है, क्योंकि वह अखिलात्मा पुरुष की परमाराधना है।''[6]

महर्षि गुरू औषरितपाद के शब्द रैक्व पर अमृत की धारा के समान सिर पर बरस रहे हैं –''तुम्हारे भीतर जो देवता स्तब्ध होकर बैठें हैं, वे तुम्हारा ठीक मार्गदर्शन करेंगे। वही प्रज्ञा रूप है, पुराण ऋषियों ने कहा है –''प्रज्ञानं ब्रह्म।''[7]

---

1. ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा, ग्रन्थावली–2, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 430
2. " " " 302
3. " " " 313
4. " " " 328
5, 6 " " " 365
7. " " " 452

विधाता ने मनुष्य को शरीर, मन, प्राण के अतिरिक्त बुद्धि भी दी है। देवकी पुत्र कृष्ण ने कहा है कि –"सेवा भी समझ–बूझकर करनी चाहिए।"[1]

इतिहास :–

'अनामदास का पोथा नामक उपन्यास में आचार्य द्विवेदी जी ने उपनिषत्कालीन भारत का चित्र प्रस्तुत किया है। प्रागैतिहासिक एवं वैदिक युगीन पृष्ठभूमि पर हिन्दी के कुछ अन्य लेखकों ने भी उपन्यास लिखे, परन्तु औपनिषदिक तत्व चिन्तन को कथाकृति के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास द्विवेदी जी ने किया है।

वैदिक कालीन शिक्षा से तात्पर्य यह रहा है – शिक्षा वह स्रोत है, जो जीवन के विभिन्न स्रोतों में हमारा सच्चा पथ प्रदर्शन करती है। वैदिक शिक्षा का सम्बन्ध अन्तर्ज्योति और शक्ति से था, जिससे मानव की पूर्णता का विकास हो सकता है। वैदिक कालीन शिक्षा का उद्देश्य ईश्वर भक्ति तथा धार्मिकता की भावना, चरित्र निर्माण व्यक्तित्व का विकास, नागरिक तथा सामाजिक कर्तव्यों का पालन, सामाजिक कुशलता की उन्नति आदि था।

वेदों से ज्ञात होता है, कि सुदूर अतीत में भी भारत में संगठित रूप से गुरुओं द्वारा शिक्षा दी जाती थी। 'छन्दोग्य उपनिषद' से ज्ञात होता है, कि बालक गुरू गृह में रहकर अध्ययन करते थे। उस युग में संघ, परिषद, चरण, मठों, गुरुकुल, तथा आश्रम में गुरू वैयक्तिक रूप से स्वयमेव शिष्यों को शिक्षा प्रदान करते थे। उस समय शिक्षण का, पठन का कार्य आचार्य की देख रेख में होता था। सम्भवतः शिक्षण का कार्य प्रातःकाल से मध्यान्ह तक और फिर कुछ विश्राम तथा भोजनादि के उपरान्त सायंकाल तक चलता था।

ऐतिहासिक उपन्यास लेखक के उत्तरदायित्व के अनुरूप आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने वैदिक शिष्टाचार, शिक्षा पद्धति, पाठ्य विषय, नाट्य प्रयोग, समाज व्यवस्था के चित्रण में तत्कालीन साहित्य से उपलभ्य ऐतिहासिक संगति का समुचित ध्यान रखा। द्विवेदी जी ने वैदिक शिक्षा व्यवस्था का विचार दिया –"कुछ तपस्वी तो केवल तपश्चर्या में ही सारा समय लगा देते थे, लेकिन कुछ ऐसे भी थे, जो अध्ययन अध्यापन किया करते थे। उनके यहाँ जिज्ञासु विद्यार्थियों की उपस्थिति बराबर बनी रहती थी। ये ऋषि कहलाते थे।"[2]

---

1. ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा, ग्रन्था0–2, राज0प्रका0, पृ0सं0 362
2. " " 421

वैदिक काल में छात्रों का जीवन शिष्टाचार, मर्यादा तथा आत्म संयम से पूर्ण होता था। उन्हें अपने जीवन को पवित्र रखने के लिए दोनों समय संध्या–वंदना एवं हवन करना पड़ता था। गुरुजनों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना होता था। छात्रों को अपने व्यवहार में सादगी तथा विचारों में श्रेष्ठता के सिद्धान्तों का अनुसरण करना पड़ता था। वैदिक काल में वेदों की शिक्षा के अतिरिक्त और भी अनेक विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती थी। 'छान्दोग्य उपनिषद' तथा 'वृहदारण्यक उपनिषद' में जिन विषयों की सूची मिलती है, वह इस प्रकार है – ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास अथवा पौराणिक कथाएँ, पुराण देवविद्या, उपनिषद, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान तथा आलोचना, राशि, दैव, निधि, वाको वाक्य, नैतिक शास्त्र, देव विद्या, ब्रह्म विद्या, भूत विद्या, शास्त्र विद्या, नक्षत्र विद्या, सर्प विद्या, व्याकरण, ज्योतिष, तथा कल्प। इसके अतिरिक्त बीजगणित तथा औषधि विज्ञान के शिक्षण के भी अवसर सुलभ थे।

आचार्य द्विवेदी जी ने भी प्रस्तुत उपन्यास में वैदिक कालीन साहित्य के अध्ययन की प्रमुखता, इतिहास पुराण के द्वारा वैदिक ज्ञान के उपवृहण तथा पाठ्य विषयों का उल्लेख किया है। द्विवेदी जी ने पाठ्य विषयों का उल्लेख करते हुए लिखा है –''उन दिनों वैदिक अध्ययन की धूम थी। ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद के अतिरिक्त चौथा अथर्ववेद, भी अध्ययन के आधारभूत ग्रन्थ माने जाते थे।............धीरे–धीरे पिच्य शास्त्र, गणित विज्ञान, दैव विद्या, विधिशास्त्र, वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीतिशास्त्र), विरूक्त, भूत विद्या, नक्षत्र विद्या, सर्प विद्या, देवजन विद्या, (ललित कला) आदि विविध शास्त्रों के ज्ञाता हुये। उन्हें माता जी की विशेष प्रेरणा से धनुर्वेद का भी अभ्यास कराया गया।''[1]

वैदिक काल में विद्या अध्ययन करने से पूर्व उपनयन संस्कार करना होता था। यह उपनयन संस्कार ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण के प्रत्येक बालक को (शिक्षार्थियों) कराना होता था। 'उपनयन' का शाब्दिक अर्थ होता है, पास ले आना अर्थात् शिक्षा के लिए गुरु के पास ले आना। उपनीति बालक को ही गुरु 'सावित्री मंत्र' (गुरुमंत्र) का उपदेश देकर शिक्षा देना प्रारम्भ करता था। जिस प्रकार बिना अपतिस्मा के कोई ईसाई नहीं होता और बिना कलमा के मुसलमान नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार वैदिक युग में उपनयन संस्कार को सम्पादित किये बिना कोई बालक ज्ञानार्जन नहीं कर सकता। इसी संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारम्भ होता है। डॉ0 पाण्डेय के अनुसार –''यह संस्कार एक प्रकार से हिन्दुओं के विशाल साहित्य भण्डार के ज्ञान का प्रवेश पत्र था।''

1. ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा, ग्रन्था0–2, राज0 प्रका0, पृ0सं0 421

आचार्य द्विवेदी जी ने भी इस उपन्यास में उपनयन संस्कार का उल्लेख रैक्व की शिक्षा प्राप्ति के समय किया था। द्विवेदी जी ने लिखा है – "माता जी ने लौटते ही रैक्व का विधिवत् उपनयन कराया। कई दिनों तक यज्ञ–याग चलते रहे।"[1]

माता जी रैक्व को पिता जी के सम्मुख ले जाने के लिए कुछ शिष्टाचार को समझाती हैं। वैदिक काल में गुरू की आज्ञा को शिष्य शिरोधार्य करते थे। गुरु की सेवा करना उनका धर्म था। शिष्य सहृदय सम्मान किया करते थे। माता जी भी रैक्व को सम्मान के साथ आचरण करने के लिए प्रेरित करती हैं। वह रैक्व को समझाती हुई कहती –"अभी तू ज्ञान की इच्छा से जा रहा है, 'भगवन' या भगवः कहना। तत्वज्ञानी आचार्य को जिज्ञासु जन ऐसा ही कहकर सम्बोधित करते हैं।"[2]

लेखक ने दीक्षा, हाथ में समिधा लेकर गुरू के सामने शिक्षार्थ उपस्थित होना वर्णित किया है। माता जी रैक्व को महर्षि औषस्ति के पास ले जाते समय कहती है –"तेरे पिता जी के पास जैसे जिज्ञासु ब्रह्मचारी हाथ में समिधा लेकर आया करते थे वैसे ही तू भी हाथ में समिधा ले ले। समिधा यज्ञ का उपकरण है। उसे हाथ में लेकर जाने का अर्थ है कि अभी यज्ञ पूरा नहीं हुआ। ब्रह्मचारी कुछ और ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से आया है। वह जिज्ञासु है।'[3]

अतिथि का अर्ध्यपाद्यादि से सत्कार तथा विशिष्ट सम्बोधनों के साथ अभिवादन, छोटे से छोटे आचार नियमों का यथावत् संकेत देने का ध्यान रखा है। कोहलियों के नाट्य प्रयोग में कौशिकी वृत्ति के अभाव, रंगपूजा, जर्जरोत्तोलन तथा रंगशाला के निर्माण में विविध लोक विश्वासों के अनुरूप विधि विधान आदि की चर्चा भरत नाट्य शास्त्र के आधार पर पुरायुगीन नाट्यप्रथा का संकेत करती है। द्विवेदी जी ने रंगशाला के निर्माण के समय का वर्णन इस प्रकार किया –"भूमि निर्वाचन से लेकर रंगमंच की क्रिया तक वह बहुत सावधानी से सँभाला जाता था। सम, स्थिर और कठिन भूमि तथा काली या गौर वर्ण की मिट्टी शुभ मानी जाती थी। भूमि को पहले हल से जोता जाता था। उसमें से अस्थि, कील, कपाल, तृण, गुल्मादि को साफ किया जाता था।"[4]

नगर सभ्यता के विकास के पूर्व छोटे–छोटे राज्यों का अस्तित्व, ग्रामवासी जनता का आर्थिक विपन्नता तथा आश्रमवासी तपस्वियों का सादा जीवन उपनिषद युग की ग्रामाधारित अर्थव्यवस्था का संकेत देते। इस प्रकार लेखक ने ऐतिहासिकता का पूर्ण निर्वाह किया।

1, ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा, ग्रन्था0–2, राज0प्रका0, पृ0सं0 420
2., 3. " " 344
4. " " 403

जनश्रुति को आश्रम यात्रा के प्रसंग में कुलपति की अनुमति के बिना आश्रमों में राजाओं के प्रवेश निषेध तथा राजवेश परित्याग के नियमों का संकेत किया गया। ''ऐसा माना जाता था कि तपस्या और स्वाध्याय के क्षेत्र में राजा का किसी प्रकार का दबाब धर्मसंगत नहीं है। इसीलिए राजा को आश्रम में प्रवेश के लिए कुलपति की अनुमति और राजवेश का परित्याग, ये दो बातें आवश्यक मानी जाती थीं।''[1]

अतः स्पष्ट है कि, द्विवेदी जी ने प्रस्तुत उपन्यास 'अनामदास का पोथा' में वैदिक कालीन शिक्षा का उल्लेख किया है। उस समय के आचार–विचार तथा रहन–सहन को भी वर्णित किया गया है। तद्युगीन खान–पान को भी अभिव्यक्त किया गया। प्रस्तुत उपन्यास में कोहलीयों के नाट्य प्रयोग में कौशिकी वृत्ति के अभाव में रंगपूजा, जर्जरोत्तोलन तथा रंगशाला के निर्माण में विविध लोक विश्वासों के अनुरूप विधि विधान आदि की चर्चा भरतनाट्यशास्त्र के आधार पर पुरायुगीन नाट्य प्रथा का संकेत करती है। नगर सभ्यता के विकास के पूर्व छोटे–छोटे राज्यों का अस्तित्व, ग्रामवासी जनता की आर्थिक विपन्नता तथा आश्रमवासी तपस्वियों का सादा जीवन उपनिषद युग की ग्रामाधारित अर्थव्यवस्था का संकेत करते हैं।

राजनीति :–

'अनामदास का पोथा' उपन्यास में आचार्य द्विवेदी जी ने वैदिक काल के शिथिल राजतंत्र को प्रस्तुत किया। अकाल ग्रस्त राज्य तथा जनता के कष्ट से अनभिज्ञ राजा जनश्रुति तद्कालीन राजनीतिक परिवेश को व्यक्त करते हैं।

राजा को प्राण के हित का ध्यान रखना चाहिए। प्रजा राजा के पुत्रवत सम्बन्ध होना चाहिए। सफल राजा के राज्य में प्रजा कष्ट में नहीं होती है। यदि प्रजा दुःखी है, तो स्पष्ट है राजा सही कर्तव्य का निर्वाह नहीं करता है। राज्य के कर्मचारी को भी प्रजा की स्थिति से अवगत कराना होता है, क्योंकि राजा तो सब जगह पहुँच नहीं सकता, अतः कर्मचारी को जानकारी जनता के सुख–दुःख की देनी पड़ती है। प्रस्तुत उपन्यास में राजा जनश्रुति भी कहते हैं –''मुझे प्रजा के कष्ट की बात किसी ने नहीं बतायी। राज कर्मचारी क्या सो रहे थे? अन्न उगाहने के समय क्या उन्होंने यह नहीं देखा कि अकाल पड़ा हुआ है? क्या उनका कर्तव्य नहीं था, कि वे मुझे सूचना देते? राजा तो कर्मचारी की आँख से देखता है।''[2]

---

1. ह0प्र0द्वि0, अनाम0 का पोथा, ग्रन्था–2, राज0प्रकाशन, प0सं0 444
2. " " 380

राजा जनश्रुति आचार्य के द्वारा बताये गये रैक्व के विचार को ध्यान में रखते हुए अकाल से पीड़ित लोगों की सहायता करने हेतु कहते हैं, क्योंकि औषस्ति के अनुसार भी संसार के कष्ट, रोग, शोक, दरिद्रता, कुसंस्कार, दुःख को दूर करना आवश्यक है, मात्र ज्ञान की बातों से कुछ नहीं होता है।

राज्य के नियंत्रण हेतु कर्मचारी को भी नियंत्रित करना होता है। द्विवेदी जी तद्कालीन राज्य की अव्यवस्था के दोष को भी प्रकट करते हुए लिखते हैं –" राजा जब तक स्वयं जागरूक न हो तो राज कर्मचारी शिथिल हो जाते हैं, मुस्तैदी से काम नहीं करते। राजा को चिन्ता में न डालने की आड़ में वे स्वयं निश्चिन्त हो जाते हैं। राजकर्मचारियों को निरन्तर कसते रहना पड़ता है। वह हमने नहीं किया।"[1]

इस प्रकार यह कथन आधुनिक राजतंत्र के परिप्रेक्ष्य में सटीक बैठता है। इस प्रकार द्विवेदी जी ने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में वर्तमान राजनीतिक परिवेश का चित्रांकन किया है।

राजा प्रजा के लिए होता है, राजा को प्रजा के साथ सन्तान सदृश भाव रखना होता है। राजा के लिए राज्य की बहू बेटियाँ अपनी ही बहू बेटी के सदृश होती है। राजा को राज्य की बहू बेटियों के प्रति सम्मानीय प्रेम की भावना, अपनाना चाहिए, उनके प्रति दया, सहानुभूति रखना चाहिए, क्योंकि स्त्री देवी का ही रूप होती है। आचार्य औदुम्बरायण ने जाबाला को महात्मा के विचार बताये –"जब तक आप केवल जनश्रुति की बेटी को ही बेटी समझें और प्रजा की बहू बेटियों को भी उसी प्रकार बेटी न समझें। आज राजा जनश्रुति के पुरोहित हैं। प्रजा शब्द का अर्थ ही सन्तान है। राजा के लिए प्रजा की सारी बेटियाँ उसकी अपनी बेटी है। सबका समान ध्यान रखना चाहिए..........राजा जनश्रुति और उनके पुरोहित इस ओर से बिल्कुल अनवहित हैं।"[2]

राजा जनश्रुति केवल ब्रह्मतत्व को जानने हेतु व्याकुल है, जब कि प्रजा में त्राहि–त्राहि हो रही है, अतः राजा का कर्तव्य है कि उसकी समस्याओं का समाधान करे द्विवेदी जी ने राजा जनश्रुति के राज्य में फैली अव्यवस्था के सन्दर्भ में लिखा है –"जिस राजा के राज्य में बच्चे और स्त्रियाँ भूख प्यास से व्याकुल होती हैं, उसका सत्यानाश हो जाता है– और राजा नरक का अधिकारी होता है। राजा जनश्रुति के राज्य में एक नहीं अनेक स्त्री पुरुष, वृद्ध बालक, भूख से, प्यास से, रोग से व्याकुल है।"[3]

---

1. ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा, ग्रन्था–2, राज0प्रका0 , पृ0सं0 380
2. " " " 360
3. " " " 361

राजा जनश्रुति को जब राज्य की स्थिति ज्ञात होती है, तो वह प्रजा के दुःख से दुखित होते हैं तथा राजा ने कोहलीयों का गन्धर्व पूजन नाटक की योजना बनायी थी। मामा ने रैक्व को बताया कि –"राजा ने घोषणा की है कि कोहलीयों का गन्धर्व पूजन नाटक होगा। उसके लिए जो लोग रंगभूमि का निर्माण करेंगे उन्हें अन्न दिया जायेगा।"[1]

प्रस्तुत उपन्यास में द्विवेदी जी ने वैदिक कालीन राजतंत्रीय शासन व्यवस्था का वर्णन किया है। द्विवेदी जी के अनुसार राजा को मानवीयता के कारण प्रजा हित का ध्यान रखना आवश्यक है। जब कि उस समय राज्य बहुत छोटे–छोटे होते थे, राजा और प्रजा में बहुत अधिक दूरी थी, फिर भी राजा के द्वारा प्रमादवश जनता की उपेक्षा हो ही जाती थी। जिसका उल्लेख द्विवेदी जी ने प्रस्तुत उपन्यास में किया है। इस उपन्यास में अकालग्रस्त लोगों की सहायता के लिए आकुल एवं प्रयत्नशील पात्रों को चित्रित किया गया है। माता ऋतम्भरा लोगों को सान्त्वना देती हैं तथा राजा से प्रजा को सहयोग दिलाने का प्रयास करती है। लेखक के अनुसार समता एवं सहयोग ही प्रगति का मूलमंत्र है।

धर्म :–

धर्म का अर्थ माना जाता है –जो धारण किया जाये। कुछ विद्वान आत्मा परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान (दर्शन) को धर्म मानता है और कुछ आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति हेतु की जाने वाली क्रियाओं को मानते हैं। धर्म के सन्दर्भ में आचार्य द्विवेदी जी औषस्ति के माध्यम से विचार इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं –"जानी हुई बात को ठीक–ठीक आचरणों में ले आना वास्तविक धर्म है।"[2]

जीवन में बहुत उपलब्धियाँ विश्वास पर ही आधारित है, विश्वास होने पर ही प्राणी जीवन में सफल हो पाता है, लेकिन पूर्णरूपेण विश्वास करना भी उचित नहीं है। न ही बिना विचार किये हुये किसी पर भी विश्वास करना चाहिए। सदा स्वयं परीक्षित सत्य पर विश्वास करने वाला ऋषिकुमार रैक्व आचार्य औदुम्वरायण से कहते हैं –"आप बिना परीक्षा किये ही कोई बात मान लेते हैं. ....यह नेयता हुई। यही शूद्र धर्म है।"[3]

व्यक्ति जैसे व्यक्तियों की संगति में रहता है, उसके सोचने समझने की शक्ति भी उसी अनुसार हो जाती है। अतः कहा जाता है कि जीवन के पवित्र उज्जवल भविष्य के लिए

1. ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा, ग्रन्था0–2, राज0प्रका0, पृ0सं0 393
2. " " " 437
3. " " " 338

सत्संग आवश्यक है। कलुषित विचारों वाले व्यक्तियों के साथ रहने पर व्यक्ति का मन भी कलुषित हो जाता है। संगति के अतिरिक्त सदाचारी व्यक्ति को एक दूसरे के दुःखों की अनुभूति करना चाहिए। एक दूसरे के कष्टों के निवारण हेतु सोचना चाहिए। द्विवेदी जी ने भी सत्संग, सद्ग्रन्थों का अध्ययन, दूसरों की सेवा हेतु विचार प्रस्तुत किया है। महर्षि औषस्ति रैक्व से कहते हैं–"सज्जनों का सत्संग, सद्ग्रन्थों का अध्ययन सत्य पर दृढ़ आस्था और दुःखीजनों की सेवा ही परम धर्म है।"[1] ....जो अपने आपकी सुख सुविधा का ध्यान न रखकर दूसरों के दुःख दूर करने का प्रयत्न करता है, सत्य से च्युत नहीं होता, दूसरों का कष्ट दूर करने के लिए अपना प्राण तक त्याग सकता है, वहीं धार्मिक है।"[2]

मूल्य का अर्थ है–उपयोगिता, वांछनीयता, महत्व। सामान्यतः किसी समाज के जिन आदर्शों को महत्व दिया जाता है, जिनसे उस समाज के व्यक्तियों का व्यवहार निर्देशित एवं नियंत्रित होता है, उन्हें उस समाज के मूल्य कहते हैं। दर्शनशास्त्र में मनुष्य के जीवन के प्रतिदृष्टि कोण को मूल्य की संज्ञा दी जाती है। धर्मशास्त्र में नैतिक नियमों को मूल्य माना जाता है। नैतिक नियमों का पालन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में करना होता है। मानव शास्त्री मूल्यों को सांस्कृतिक लक्षणों के रूप में स्वीकारते हैं या यह कह सकते हैं, कि मूल्य मानक रूपी मानदण्ड है, जिनके आधार पर मनुष्य अपने सामने उपस्थित क्रिया विकल्पों में से चयन करने में प्रभावित होते हैं। धर्म में भी नियमों, आदर्शों, मूल्यों का पालन करना होता है। द्विवेदी जी ने लिखा है –"धर्म कुछ मूल्यों से बनता है, और मूल्यों का निर्णय परम तत्व की अपेक्षा में ही होता है।"[3]

प्रत्येक धर्म या धार्मिक भावना को मानव कल्याणकारी रूप में प्रतिष्ठित करना ही द्विवेदी जी की मूल संवेदना है, अतः द्विवेदी जी ने वैदिक युगीन कर्तव्य विमुख करने वाले तत्व चिंतन को वैश्वानर की आराधना समस्त विश्व में व्याप्त परम पुरुष की सेवा में परिवर्तित किया।

वैदिक काल में सिद्धों एवं महात्माओं को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। सिद्धों को चमत्कारी शक्तियों पर जनता को अत्यधिक विश्वास था। द्विवेदी जी ने सिद्ध महात्माओं का वर्णन किया है। जाबाला को रोगग्रस्त समझकर औदुम्बरायण उसकी रोगमुक्ति के प्रयत्न में लगे थे। आचार्य औदुम्बरायण चिन्तित थे। उनके (सिद्ध) आर्शीर्वाद से अनेक दुःखी लोग अपनी कठिनाइयों से मुक्त हो चुके हैं। अतः औदुम्बरायण भी जाबाला को रोगमुक्त करने के लिए जाते हैं।"[4]

1. ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा, ग्रन्थावली–2, राज0प्रकाशन, पृ0सं0 349
2. " " " 354
3. " " " 355
4. " " " 358

धार्मिक अन्धविश्वास के दर्शन उपन्यास में उपलब्ध है। ओझाओं को बुलाने तथा गन्धर्व पूजा कराने का उपक्रम प्रस्तुत किया गया है। आचार्य औदुम्बरायण द्वारा राजा जनश्रुति को दिया गया विवरण प्रस्तुत है –"दासियों ने ओझा बुलाने को कहा था, सो मैंने किया। वह जो संकुला बुढ़िया है....................एक दिन उसने डरते–डरते कहा कि बिटिया को गन्धर्व का आवेश है।. ....गन्धर्व पूजन कराइये, उधर सिद्ध ने कहा था कि कोहलीय लोगों का नृत्य नाटक कराइये।"[1]

मानव का जीवन सदाचारी, पवित्र तथा आदर्शवादी होना चाहिए। कोई भी धर्म दुःखी मनुष्य समाज की उपेक्षा करके केवल वैयक्तिक स्वार्थ सिद्धि का साधन बनकर उसका (मानव, समाज का) वरेण्य कदापि नहीं हो सकता है। द्विवेदी जी मानवीयता पर अधिक बल देते है। जिस मानव में मानवीयता नहीं, वह पशु से भिन्न नहीं है। मानव में पर दुःख कातरता अपार करुणा, अनाविल सत्यनिष्ठा आदि मानवीय गुण होना अनिवार्य हैं। मानव को दुखित करके अपनाया गया धर्म दम्भ है। कोरा ज्ञान वाक्‌वितण्डा है।

आचार्य द्विवेदी जी ने ज्ञान के पीछे अन्धे पागलपन को नगण्य मानकर आचरण की पवित्रता पर बल दिया है। प्रस्तुत उपन्यास के राजा जनश्रुति तत्व ज्ञान के पीछे पागल रहने वाले ऐसे ही कल्पना बिहारी जीव है, जिन के शुष्क तत्व ज्ञान का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। भगवती ऋतम्भरा के शब्दों में –"वह परमतत्व या चरमतत्व के बारे में क्या मानता है, यह बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है, कि वह कैसा आचरण करता है, औरों के साथ कैसा व्यवहार करता है, उनके लिए कितना त्याग कर सकता, यह तय करेगा कि वह धर्म परायण है या नहीं।"[2]

मानव को एक दूसरे के प्रति सहयोग, सौहार्द्रता अपनाना होता है। दुःखी जनों की सेवा भी करना होता है। केवल स्वयं तक सीमित नहीं रहना होता है। द्विवेदी जी प्रस्तुत उपन्यास में धर्म के रहस्य के सन्दर्भ में विचार देते हैं कि – धर्म का मूल रहस्यज्ञ महर्षि वादरायण व्यास इसके साक्षी है।"

मानव को परोपकारी प्रवृत्ति अपनानी चाहिए। दूसरों की समस्या का समाधान भी करना चाहिए। देश में न जाने कितने ही दुःखी एवं पीड़ित मनुष्य रहते हैं। उसकी समस्याओं के समाधान का प्रयास तन मन धन से करना चाहिए। मनुष्य समाज को पीठ देकर किया

1. ह0प्र0द्वि0, अनामदास का पोथा, ग्रन्थावली–2, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 381
2. " " " 354

जाने वाला तप ढोंग है, कर्म पाखण्ड है, साधन सिद्धियाँ महज बाजीगर के करतवों के सदृश है। सम्पूर्ण सत्य की सिद्धि के लिए मानव को अपने आपको टटोलना होगा। उसे विकासवाद तथा मनोविज्ञान से यह सिद्ध तथा धर्म दर्शन से पुष्ट अपने सहज निस्वार्थ प्रेमी स्वभाव को पहचानकर उसके अनुसार पारस्परिक छल छद्म छोड़कर निस्वार्थ प्रेम भाव द्वारा मनुष्य–मनुष्य अर्थात् मनुष्यता प्राणिमात्र के सम्पूर्ण सत्य की आराधना के लिए अपने आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर देना होगा, तभी वास्तविक धर्म साधना सफलवती होगी, तभी ज्ञानवाणी सार्थवती होगी।

लोक कल्याण, मानव सेवा सबसे बड़ा धर्म माना गया है। महर्षि औषस्ति रैक्व की दीनजनों की सेवा का उपदेश देते हुये कहते हैं–"पर दुःखकातरता सबसे बड़ा मानवीय गुण है। सर्वत्र आत्मानुभूति का प्रत्यक्ष प्रमाण है, दूसरों के सुख के लिए अपने आपको दलितद्राक्षा की तरह निचोड़कर दे देना।"[1]

इस उपन्यास के नायक रैक्व, सेवामूर्ति, मामा, करुणामयी ऋतम्भरा, राजबाला, जाबाला इसी मूल मंत्र को हृदयंगम करके अकालपीड़ित लोगों की सेवा में जुट जाते हैं। धर्म में मैं और तुम का भाव लुप्त हो जाना चाहिए। सेवा में निरंहार वृत्ति हो।

इस प्रकार द्विवेदी जी ने 'अनामदास का पोथा' उपन्यास में वैदिक युगीन वेदों तथा ध्यान की शिक्षा पद्धति वेदज्ञों तथा तत्वज्ञानियों की महत्ता, ऋषियों के अलावा राजा तथा उनकी पुत्री, मंत्री आदि का तत्व जिज्ञासु होना तथा जनता का सिद्ध महात्माओं और ओझाओं के प्रति श्रद्धा भाव तद्युगीन धार्मिक परिवेश को वर्णित किया गया है। द्विवेदी जी ने किसी धर्म विशेष के नाम से उसकी विशेषताओं तथा क्रियाकलापों का विवरण प्रस्तुत नहीं किया है, उपन्यास की कथा उच्चकोटि की दार्शनिकता से परिपूर्ण वातावरण में अग्रसर होती है। उसी वातावरण के उपांग के रूप में कहीं–कहीं धार्मिक वातावरण की झलक मिल जाती है। आचार्य द्विवेदी जी ने धर्म को सज्जनों की सत्संगति, सद्ग्रन्थों का अध्ययन, सत्य पर दृढ़ आस्था तथा दुःखीजनों की सेवा करना बताया है। द्विवेदी जी के अनुसार धर्म मूल्य से बनता है। द्विवेदी जी ने भी सिद्ध महात्माओं का वर्णन किया है। 'अनामदास का पोथा' उपन्यास में औदुम्बरायण जाबाला की रोग मुक्ति हेतु सिद्धि के आशीर्वाद प्राप्ति के लिए जाते हैं। इस उपन्यास में अन्धविश्वास के रूप में गन्धर्व पूजा का उल्लेख किया गया है, तथा निस्वार्थ भाव से दुःखीजनों की सेवा करने का विचार प्रस्तुत किया गया है। मनुष्यता प्राणिमात्र के सम्पूर्ण सत्य की

---

1. ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा, ग्रन्था0–2, राज0प्रका0, पृ0सं0 349

आराधना के लिए अपने आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर देना होगा, तभी वास्तविक साधना होगी।

संस्कृति :-

संस्कृति किसी समाज की पहचान होती है। वह उसके रहन–सहन एवं खान–पान की विधियों, व्यवहार प्रतिमानों, रीतिरिवाज, कला कौशल, संगीत नृत्य, भाषा साहित्य, धर्म दर्शन, आदर्श, विश्वास और मूल्यों में विशिष्ट रूप में जीवित रहती है। प्रत्येक धर्म दर्शन के समान है, परन्तु रहन–सहन, खान–पान, की विधियाँ, रीतिरिवाज, कला कौशल, संगीत नृत्य और भाषा साहित्य आदि भिन्न हैं, अतः संस्कृतियाँ भी भिन्न हैं। आदर्श तो प्रायः सभी समाजों के समान हैं, सभी सत्यता, ईमानदारी, सहयोग, दान, दया, सेवा आदि में विश्वास करते हैं, परन्तु किस समाज में इनमें से किसको कितना महत्व दिया जाता है, यह उसकी संस्कृति का अंग होता है।

या यह कह सकते हैं, कि संस्कृति वह जटिलपूर्णता है, जिसमें उन सबका ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, नियम, रीतिरिवाज, और इसी प्रकार की अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश होता है, जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के रूप में सीखता है।

आर्थिक व्यवस्था, राजनैतिक संगठन, नैतिक परम्परा, ज्ञान एवं कला का अनुशीलन यह चार स्तम्भ सभ्यता के माने गये हैं। इन चारों का यदि संयुक्त प्रयास सकारात्मक है, तो इसके सम्मिलित प्रयास में संस्कृति का निर्माण होगा। द्विवेदी जी संस्कृति को शाश्वत या एकदेशीय वस्तु नहीं मानते, उनके अनुसार "वह प्रगतिशील, परिवर्तनशील और परम्परा नैरन्तर्य से मुक्त है।"[1]

आचार्य द्विवेदी जी ने 'अनामदास का पोथा' उपन्यास में माता ऋतम्भरा के शब्दों में संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार दी है –"जिजीविषा है तो जीवन रहेगा, जीवन रहेगा तो अनन्त सम्भावनाएँ भी रहेंगी। सब चलता रहेगा। यही प्रकृति है। इसे सुनियंत्रित रूप से चलाने का प्रयास शुभ है।"[2]

इस परिभाषा के अनुसार मनुष्य द्वारा यावज्जीवन किये जाने वाले महत्वपूर्ण क्रिया कलाप संस्कृति के ही अंग है। इसी के प्रकाश में इसमें संस्कृति से सम्बन्धित प्रसंगों की व्याख्या दृष्टव्य है।

---

1. साहित्य संगम, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ0 रामकुमार गुप्त पृ0सं0 69
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी, अनामदास का पोथा, ग्रन्थावली–2, राज0प्रका0, पृ0सं0 377–378

'अनामदास का पोथा' उपन्यास में उपनिषद कालीन संस्कृति को अभिव्यक्त किया गया है, उस समय के रीतिरिवाज, मान–सम्मान, कला संस्कृति को अभिव्यक्त किया गया है। उस समय में सांस्कृतिक क्रिया कलापों के महत्वपूर्ण अंग के रूप में नृत्य नाट्यादि को आदरणीय स्थान प्राप्त था। जाबाला की मनः स्थिति के लिए महात्मा ने आचार्य औदुम्बरायण से कहा था– "उसके मनोविनोद के लिए और मनोदेवता की आराधना के लिए कोहलीयों के नृत्य नाट्य की व्यवस्था करो।"[1]............. पहले तो तुम्हारे ऋषि लोग इन बातों को महत्व नहीं देते थे। अब तो वे भी नृत्य को देवताओं का चाक्षुष यज्ञ और नाट्य को पांचवा वेद मानने लगे।

द्विवेदी जी ने रंगमंच निर्माण का आडम्बरपूर्ण वर्णन किया है। उस समय भी शुभ–अशुभ मूहूर्त का ध्यान रखा जाता था। भूमि निर्वाचन से लेकर रंगमंच की क्रिया तक बहुत सावधानी से सँभाला जाता था। सम स्थिर और कठिन भूमि तथा काली या गौरवर्ण की मिट्टी शुभ मानी जाती थी। भूमि में अस्थि, कील, कपाल, तृण, गुल्मादि को साफ किया जाता था। माप के समय सूत्र का टूटना बहुत अमंगलजनक समझा जाता था। द्विवेदी जी ने लिखा है –"ऐसा विश्वास किया जाता था, कि यदि सूत्र आधे से टूट जाये तो स्वामी की मृत्यु होगी, तिहाई से टूट जाये तो राजकोष की आशंका होती है। चौथाई से टूटे तो प्रयोक्ता का नाश होता है, हाथ पर से टूटे तो कुछ सामग्री घट जाती है...................तिथि, नक्षत्र, करण आदि की शुद्धि पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था और इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था, कि कोई काषाय वस्त्रधारी हीनवपु या विकलांग पुरुष मण्डप स्थापना के समय अचानक आकर अशुभ फल न उत्पन्न कर दे।"[2]

द्विवेदी जी के अनुसार उस समय पद–पद पर रंगशाला के निर्माण की सफलता हेतु प्रायश्चित, ब्राह्मण भोजन की आवश्यकता पड़ती थी। भित्तिकर्म, मापजोख, चूना, पोतना, चित्रकर्म, खम्भे गाड़ना, भूमि शोधन प्रभृति सभी क्रियाएँ बड़ी सावधानी से और आशंका के साथ की जाती थी। द्विवेदी जी ने अशोक वृक्ष के पूजन का भी वर्णन किया है –"एक भरत पुत्र ने ही उससे अशोक वृक्ष का पूजन कराया।.............धूप, दीप, नैवेद्य, माला, उपलेपन, आदि से अशोक तरू का पूजन हुआ।. ....पूजा समाप्ति के पूर्व उन्होंने अत्यन्त गम्भीर वाणी में निर्देश दिया –"शुभे, अपने मनोवांछित वर का ध्यान करें और भृंगार का जल अशोक के मूल में धीरे–धीरे डाल दें।"[3]

---

1. ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा, ग्रन्था0–2, राज0प्रका0, पृ0सं0 361
2, 3. " " " 402, 403

'अनामदास का पोथा' उपन्यास में उपनिषद कालीन संस्कृति को अभिव्यक्त किया गया है, उस समय के रीतिरिवाज, मान–सम्मान, कला संस्कृति को अभिव्यक्त किया गया है। उस समय में सांस्कृतिक क्रिया कलापों के महत्वपूर्ण अंग के रूप में नृत्य नाट्यादि को आदरणीय स्थान प्राप्त था। जाबाला की मनः स्थिति के लिए महात्मा ने आचार्य औदुम्बरायण से कहा था– "उसके मनोविनोद के लिए और मनोदेवता की आराधना के लिए कोहलीयों के नृत्य नाट्य की व्यवस्था करो।"[1]............. पहले तो तुम्हारे ऋषि लोग इन बातों को महत्व नहीं देते थे। अब तो वे भी नृत्य को देवताओं का चाक्षुष यज्ञ और नाट्य को पांचवा वेद मानने लगे।

द्विवेदी जी ने रंगमंच निर्माण का आडम्बरपूर्ण वर्णन किया है। उस समय भी शुभ–अशुभ मूहूर्त का ध्यान रखा जाता था। भूमि निर्वाचन से लेकर रंगमंच की क्रिया तक बहुत सावधानी से सँभाला जाता था। सम स्थिर और कठिन भूमि तथा काली या गौरवर्ण की मिट्टी शुभ मानी जाती थी। भूमि में अस्थि, कील, कपाल, तृण, गुल्मादि को साफ किया जाता था। माप के समय सूत्र का टूटना बहुत अमंगलजनक समझा जाता था। द्विवेदी जी ने लिखा है –"ऐसा विश्वास किया जाता था, कि यदि सूत्र आधे से टूट जाये तो स्वामी की मृत्यु होगी, तिहाई से टूट जाये तो राजकोष की आशंका होती है। चौथाई से टूटे तो प्रयोक्ता का नाश होता है, हाथ पर से टूटे तो कुछ सामग्री घट जाती है..................तिथि, नक्षत्र, करण आदि की शुद्धि पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था और इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था, कि कोई काषाय वस्त्रधारी हीनवपु या विकलांग पुरुष मण्डप स्थापना के समय अचानक आकर अशुभ फल न उत्पन्न कर दे।"[2]

द्विवेदी जी के अनुसार उस समय पद–पद पर रंगशाला के निर्माण की सफलता हेतु प्रायश्चित, ब्राह्मण भोजन की आवश्यकता पड़ती थी। भित्तिकर्म, मापजोख, चूना, पोतना, चित्रकर्म, खम्भे गाड़ना, भूमि शोधन प्रभृति सभी क्रियाएँ बड़ी सावधानी से और आशंका के साथ की जाती थी। द्विवेदी जी ने अशोक वृक्ष के पूजन का भी वर्णन किया है –"एक भरत पुत्र ने ही उससे अशोक वृक्ष का पूजन कराया।............धूप, दीप, नैवेद्य, माला, उपलेपन, आदि से अशोक तरू का पूजन हुआ।. ....पूजा समाप्ति के पूर्व उन्होंने अत्यन्त गम्भीर वाणी में निर्देश दिया –"शुभे, अपने मनोवांछित वर का ध्यान करें और भृंगार का जल अशोक के मूल में धीरे–धीरे डाल दें।"[3]

---

1. ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा, ग्रन्था0–2, राज0प्रका0, पृ0सं0 361
2, 3. " " " 402, 403

भारतीय संस्कृति में हिन्दू धर्म में आषाढ़ी पूर्णिमा का अत्यधिक महत्व है। यह गुरू पूर्णिमा के नाम से जानी जाती है। आज के दिन शिष्य गुरूओं के पास जाकर सत्संग करते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में भी गुरू पूर्णिमा या गुरू पूजा तथा श्रावणी पूर्णिमा के उपाकर्म के विषय में भी भगवती ऋतम्भरा द्वारा रैक्व को निर्देश देकर उस अवसर पर करणीय कार्यों का मार्ग निर्देश [1] भी किया गया है।

इस उपन्यास में तत्कालीन लोक जीवन का चित्रण किया गया है। रथ बैलगाड़ियों द्वारा यात्रा करना [2], खेती के उपकरण जुआ, हल, बीज का उल्लेख, इंगुदी तेल में जौ पीसकर उबटन करना आदि का उल्लेख किया है। द्विवेदी जी ने उपनिषद कालीन खान–पान का वर्णन किया है, उस समय भोजन में आकृष्ट पच्च नीवार के उबाले हुये दाने होते थे, साथ में उसी प्रकार के भुने हुये कुछ कन्दमूल और लवण मिलाकर व्यक्ति खा लेते थे। रैक्व को माता ऋतम्भरा ने बताया कि गृहस्थ लोग जमीन जोतकर चावल गेहूँ आदि उगाते हैं। तपस्वी लोग बिना जोती जमीन में जो पौधे अपने आप उगते हैं, और फिर स्वयं पक कर झड़ जाते हैं। ऐसे दानों से ही काम चलाते हैं इसी को अकृष्ट पच्च अन्न कहते हैं। यह अग्नि की सहायता से उबाले जाते हैं, फिर पत्ते के दोनों में मधु देने का भी उल्लेख किया है।

हिन्दू धर्म के अन्तर्गत व्यक्ति की मृत्यु उपरान्त श्राद्ध किया जाता है, वर्ष भर त्रयोदशी को मृत्यु स्थल पर दीपक जलाया जाता है। द्विवेदी जी ने भी इस सन्दर्भ में विचार प्रस्तुत किया कि मृतक के लिए श्राद्ध विधान तथा मृतक की शान्ति के लिए वर्षभर त्रयोदशी को मृत्युस्थल पर दीप जलाया जाता है। इस उपरान्त में आचार्य औदुम्वरायण ने ऋजुका दीदी को पति के निमित्त विधिवत श्राद्ध कर्म को कराया। आचार्य औदुम्वरायण ने साल भर तक उसी स्थान पर त्रयोदशी को दीप जलाने को कहा था।[3] जन सामान्य द्वारा अन्न के अभाव में महुआ, करवक, गूलर को खाने में प्रयोग करना [4] आदि का भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार तपस्वी जनों के भोजन का भी संकेत किया। स्त्रियों के लिए बेटी, बहिन, माता, शुभा, भवति, तथा पुरुषों के लिए आर्य, भगवन, सौम्य, वत्स, आदि सम्बोधन प्रस्तुत किये जाते थे।

पूज्य पूजा का प्राविधान हमारी संस्कृति का एक उज्जवल पहलू है।

---

1. ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा, ग्रन्था0, राज0प्रका0, पृ0सं0 400
2. ″ ″ 342
3 4. ″ ″ 399, 411

इसमें सम्मानीय व्यक्तियों का सम्मान करने की सीख माता ऋतम्भरा ने रैक्व को निम्नलिखित सम्वाद के रूप में प्रदान की थी–"आचार्य औदुम्वरायण तो मुझसे मिल भी चुके हैं।.............उनका उचित सम्मान नहीं किया था बेटा!................मुझे मालूम नहीं था, माँ! बड़ा दुष्कृत्य हो गया।..................नहीं, दुष्कृत्य नही हुआ। आचार्य ने भी बुरा नहीं माना। जानता है क्यों? क्यों माँ, बुरे को बुरा तो मानना चाहिए। नहीं, तेरा चित्त शुद्ध है, निर्मल है, इसलिए बुरा नहीं माना। पर तुझे बड़ों के सम्मान का ध्यान रखना चाहिए।"[1]

शिष्य के दिल में गुरू के प्रति सम्मान भाव होना चाहिए। प्राचीन काल में व्यक्ति ज्ञान प्राप्ति के लिए जाता था, तो अपने साथ समिधा लेकर जाता था। समिधा ज्ञान की चाह का प्रतीक थी। शिष्य गुरू के हर आदेश का हृदय से पालन करता था। शिष्य में गुरू के प्रति सम्मान तथा श्रद्धा एवं शास्त्र के प्रति जिज्ञासा होना चाहिए।

माता ऋतम्भरा रैक्व को महर्षि औषस्ति के पास ले जाना चाहती हैं। उसके पूर्व वह गुरू के समक्ष जाने के पश्चात् किस प्रकार का आचरण करना चाहिए वह समझाती है। क्योंकि गुरू, महर्षि का स्थान बहुत ही पूज्यनीय, सम्माननीय है। अतः वह रैक्व से कहती है–"उनके पास विनम्र होकर जाना, भूमि पर सिर रखकर प्रणाम करना और जब तक वे बैठने को न कहें, तब तक हाथ जोड़कर खड़े रहना।"[2] ....हर शिष्ट आचरण का कोई न कोई कारण तो होता ही है। उनका अवश्य पालन करना चाहिए।"[3]

भारतीय संस्कृति में संगीत कला का भी प्रमुख स्थान रहा है। संगीत, नृत्य, नाटक, गीत को गाना आदि आते है। द्विवेदी जी ने कोहलीयों द्वारा किये जाने वाले अभिनय को अभिव्यक्त किया है। कोहल मुनि भरत मुनि के प्रधान शिष्य थे। भारत के प्रमुख आचार्य भरतमुनि नाट्शास्त्र में केवल भारतीय वृत्ति का प्रवर्तन करते हैं। कौशिकी वृत्ति के सन्दर्भ में द्विवेदी जी का विचार द्रष्टव्य है –"कोहलीय लोग कहते हैं, कि अप्सराओं की भूमिका बालकों या किशोरों से करायी जानी चाहिए, स्त्रियों से नहीं। परन्तु जो लोग कौशिकी वृत्ति मानते हैं, वे अप्सराओं और देवियों की भूमिका में स्त्रियों से अभिनय कराते हैं। वे लोग कहते हैं कि स्त्रियों का अभिनय स्त्रियाँ ही करें, यही

---

1. ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा0, ग्रन्था0–2, राज0प्रका0 पृ0सं0 375
2. " " " 343
3. " " " 344

स्वाभाविक है, परन्तु कोहलीय लोग लड़कों को ही स्त्री की भूमिका में उतारते हैं। उनका कहना है कि रंगभूमि में स्त्रियों के अभिनय करने से अधर्म की वृद्धि होती है, और धर्म का ह्रास होता है।"[1]

भारतीय संस्कृति में विवाह संस्कार जीवन का आवश्यक संस्कार माना जाता है। विवाह के सन्दर्भ में मामा के माध्यम से द्विवेदी जी विचार प्रस्तुत करते है कि –"विवाह स्त्री पुरुष का होता है, दोनों देवताओं को साक्षी रखकर, अग्नि की प्रदक्षिणा करके यह शपथ लेते हैं, कि जीवन भर एक दूसरे के साथ रहेंगे। दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।"[2]

विवाह भी कई प्रकार के होते हैं। उनमें एक विवाह है। जो गन्धर्व विवाह के नाम से जाना जाता है। इस विवाह को लड़का एवं लड़की स्वेच्छा से करते हैं। द्विवेदी जी ने भी प्रस्तुत उपन्यास में गन्धर्व विवाह के सन्दर्भ में लिखा है कि –" जब लड़का भी सयाना हो और लड़की भी सयानी हो और दोनों में प्रेम हो जाये, तो वे माता–पिता की अनुमति मिले बिना भी विवाह कर लेते हैं, इसी को गन्धर्व विवाह कहते हैं।"[3]

लेखक विवाह सम्बन्ध को दाम्पत्य व्रत मानते है। प्रेमी युगल में आरोपित वामदेव्य साम्य का वैदिक रूपक विवांह को सामगान की तरह, पवित्र व्रत सूचित करता है। ये प्रेम साधना का प्रथम सोपान है, जब व्यक्ति अपने प्रिय सहचर के सुख के लिए अपने आप को निःशेष रूप से दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर देने के लिए उद्यत हो जाता है, तो उसकी प्रेम साधना सार्थक हो जाती है। ऐसे उदात्त प्रेमी रैक्व को जटिल मुनि विवाह के बजाय उद्वाह की सलाह देते हैं। इस उदात्तर आध्यात्मिक सम्बन्ध का स्वरूप समझाते हुये मुनि कहते हैं –"उदवाह में पति पत्नी को तथा पत्नी पति को ऊपर की ओर वहन करती है, अर्थात् परस्पर की आध्यात्मिक चेतना को परिष्कृत करती है।"[4]

द्विवेदी जी ने तद्युगीन रीति रिवाज, कोहलीयों की नृत्यकला, आचार विचार को वर्णित किया है। उस समय के संस्कार,नारी के प्रति सम्मान भावना आदि को भी प्रस्तुत किया है। द्विवेदी जी के अनुसार संस्कृति ही प्रकृति के सुनियंत्रित संचालन में योग दे सकती है।

---

1. ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा, ग्रन्था0–2, राज0प्रका0, पृ0सं0 394
2. " " " 395
3. " " " 496
4. " " " 463

अन्य लौकिक एवं अलौकिक अवधारणायें :-

'अनामदास का पोथा' उपन्यास में तत्कालीन लौकिक विषयों का वर्णन किया गया है। रथ बैलगाड़ियों द्वारा यात्रा करना, खेती के उपकरण जुआ, हल बीज का उल्लेख, इंगुदी के तेल में जौ पीसकर उबटन बनाना, मृत के लिए श्राद्ध विधान तथा मृतक की शान्ति हेतु वर्ष भर त्रयोदशी को मृत्यु स्थल पर दीपक जलाना तथा जन सामान्य द्वारा अन्न के अभाव में महुआ, करबक, गूलर को खाने में प्रयोग करना, तद्कालीन लौकिक जीवन के यथार्थ चित्र अंकित किये हैं। प्रस्तुत उपन्यास में माता ऋतम्भरा रैक्व से कहती हैं -"कल तिल के पत्ते लाकर तेरे केश साफ कर दूँगी। तेरे शरीर में मैल भी जम गया है। ईंगुदी के तेल में थोड़ा सा जौ पीसकर उबटन बनाऊँगी और तुझे खुद नहवाऊँगी। हाय, सोने जैसा चेहरा कैसा हो गया है!"[1]

वैदिक कालीन लौकिक शिष्टाचार को भी इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है। माता ऋतम्भरा रैक्व को तत्वज्ञानी महर्षि औषस्ति के पास ले जाने से पूर्व कुछ शिष्टाचार सिखाती हुई कहती है -"अभी मैंने उन्हीं को तेरा पिता कहा है। उनके पास विनम्र होकर जाना, भूमि पर सिर रखकर प्रणाम करना और जब तक वे बैठने को न कहें, तब तक हाथ जोड़कर खड़े रहना।"[2]

भोजन के सन्दर्भ में लिखा है "माता जी ने एक मिट्टी के घड़े में मधु का शरबत बना रखा था। मिट्टी के सकोरों में ढ़ाल-ढालकर सबको देने लगे।[3].............परसो छह कोस दूर के एक तालाब से करबक लता का एक बोझा ले आया था। कल वही उबालकर गाँव वालों ने पेट भरा है।[4]...........बहुत खोज खाज करके आज एक मधु का एक छत्ता ले आ सका हूँ।...........कुछ बरगद के गोदे (फल) ले आया था।......................हो सकता है दूर से गाड़ी पर लादकर महुआ ले जाना पड़े, गूलर ले आना पड़े, करबक साग का गट्ठर ले आना पड़े।"[5]

आचार्य द्विवेदी जी ने बेटी, बहिन, माता, शुभा, भवति तथा पुरुषों के लिए आर्य, भगवन, सौम्य, वत्स आदि सम्बोधन प्रयुक्त किये हैं।

1.	ह0प्र0द्वि0, अना0 का पोथा, ग्रन्था0-2, राज0प्रका0, पृ0सं0		342
2.	"	"	343
3, 4.	"	"	374, 375
5.	"	"	376

पंचम अध्याय

'पुनर्नवा' के अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन

पुनर्नवा के अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन

उपन्यास 'पुनर्नवा' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का तृतीय उपन्यास है। जिसका प्रणयन एवं प्रकाशन 1973 में सम्पन्न हुआ। इसमें लेखक ने गुप्तकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर मानव की चिरन्तन समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने का प्रयास किया है। इसमें अन्य उपन्यासों की तरह ऐतिहासिक तथ्यों के साथ कल्पना का मनोहर संयोग करके कथा का ताना बाना बुना गया है। सम्राट समुद्रगुप्त एवं चन्द्रमौलि (कालिदास) ही प्रथित ऐतिहासिक हैं।

कथा का प्रारम्भ हलद्वीप के पश्चिमी छोर पर महासरयू के तट पर अवस्थित आश्रम में रहने वाले भूतपूर्व कुलूत राजकुमार देवरात की चारित्रिक विशेषताओं के प्रख्यापन से होता है। देवरात के आश्रम में वृद्धगोप के पालित पुत्र श्यामरूप व आर्यक नर्तकी मंजुला की पुत्री मृणाल मंजरी रहती थी। श्यामरूप नटों की टोली के साथ हलद्वीप छोड़कर भाग गये थे। मृणाल मंजरी एवं आर्यक दाम्पत्य सूत्र में बंध गये थे।

नटों के मुखिया जम्भल ने श्यामरूप का नाम छबीला पण्डित रखा। जम्भल की पत्नी ने मदनिका (मांदी) को मथुरा की एक गणिका को बेच दिया। जिसे कि श्यामरूप स्नेह करता था। श्यामरूप ने मथुरा जाने पर राजा के पितृत्व चण्डसेन के पास आश्रय प्राप्त किया था। वहाँ उसका नाम शार्विलक रखा गया।

वीरक द्वारा मदनिका को कपोतक नामक व्यक्ति को विक्रय के निमित्त उज्जयिनी ले जाने की सूचना मिली। शार्विलक राजा पालक के पितृत्य चण्डसेन के परिवार के साथ उज्जयिनी गये। शार्विलक ने बौद्ध बिहार से दान सामग्री देकर लौटते समय राजा पालक के सैनिक द्वारा चारूदत्त के द्वार से एक स्त्री (मदनिका) का अपमान होते देखा था। कपोतक ने बसन्त सेना को पाँच सौ मुद्राओं में बेचा था। वीरक ने शार्विलक को समुद्रगुप्त की ओर से हलद्वीप के राजा को हराने एवं चन्द्रा के लज्जास्पद कृत्य के कारण हलद्वीप से भागने के बारे में बताया था। बीच मार्ग में चन्द्रमौलि एवं माढ़व्य शर्मा से आर्यक मिला था।

देवरात को उज्जयिनी में महाकाल के दर्शन हेतु जाने पर चन्द्रमौलि एवं माढ़व्य शर्मा की हुई बातचीत में माढ़व्य शर्मा ने आर्यक से हुई भेंट का वृतान्त बताया था।

मृणाल मंजरी चन्द्रा दोनों साथ में रहती थी। श्री चन्द्र ने विवाहिता पत्नी चन्द्रा को आर्यक द्वारा अपनाने के बाद को रखा। सुमेर काका ने अमात्यपुरन्दर तथा आचार्य पुरगोभिल के समक्ष चन्द्रा का ही पक्ष लिया। न्यायाधिकारी के सम्मुख श्री चन्द्र को नंपुसक बतलाकर उसके विरुद्ध ही वाद प्रस्तुत करने की धमकी दी।

पुनर्नवा के अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन

उपन्यास 'पुनर्नवा' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का तृतीय उपन्यास है। जिसका प्रणयन एवं प्रकाशन 1973 में सम्पन्न हुआ। इसमें लेखक ने गुप्तकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर मानव की चिरन्तन समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने का प्रयास किया है। इसमें अन्य उपन्यासों की तरह ऐतिहासिक तथ्यों के साथ कल्पना का मनोहर संयोग करके कथा का ताना बाना बुना गया है। सम्राट समुद्रगुप्त एवं चन्द्रमौलि (कालिदास) ही प्रथित ऐतिहासिक हैं।

कथा का प्रारम्भ हलद्वीप के पश्चिमी छोर पर महासरयू के तट पर अवस्थित आश्रम में रहने वाले भूतपूर्व कुलूत राजकुमार देवरात की चारित्रिक विशेषताओं के प्रख्यापन से होता है। देवरात के आश्रम में वृद्धगोप के पालित पुत्र श्यामरूप व आर्यक नर्तकी मंजुला की पुत्री मृणाल मंजरी रहती थी। श्यामरूप नटों की टोली के साथ हलद्वीप छोड़कर भाग गये थे। मृणाल मंजरी एवं आर्यक दाम्पत्य सूत्र में बंध गये थे।

नटों के मुखिया जम्भल ने श्यामरूप का नाग छबीला पण्डित रखा। जम्भल की पत्नी ने मदनिका (मांदी) को मथुरा की एक गणिका को बेच दिया। जिसे कि श्यामरूप स्नेह करता था। श्यामरूप ने मथुरा जाने पर राजा के पितृत्व चण्डसेन के पास आश्रय प्राप्त किया था। वहाँ उसका नाम शार्विलक रखा गया।

वीरक द्वारा मदनिका को कपोतक नामक व्यक्ति को विक्रय के निमित्त उज्जयिनी ले जाने की सूचना मिली। शार्विलक राजा पालक के पितृत्य चण्डसेन के परिवार के साथ उज्जयिनी गये। शार्विलक ने बौद्ध बिहार से दान सामग्री देकर लौटते समय राजा पालक के सैनिक द्वारा चारूदत्त के द्वार से एक स्त्री (मदनिका) का अपमान होते देखा था। कपोतक ने बसन्त सेना को पाँच सौ मुद्राओं में बेचा था। वीरक ने शार्विलक को समुद्रगुप्त की ओर से हलद्वीप के राजा को हराने एवं चन्द्रा के लज्जास्पद कृत्य के कारण हलद्वीप से भागने के बारे में बताया था। बीच मार्ग में चन्द्रमौलि एवं माढ़व्य शर्मा से आर्यक मिला था।

देवरात को उज्जयिनी में महाकाल के दर्शन हेतु जाने पर चन्द्रमौलि एवं माढ़व्य शर्मा की हुई बातचीत में माढ़व्य शर्मा ने आर्यक से हुई भेंट का वृतान्त बताया था।

मृणाल मंजरी चन्द्रा दोनों साथ में रहती थी। श्री चन्द्र ने विवाहिता पत्नी चन्द्रा को आर्यक द्वारा अपनाने के बाद को रखा। सुमेर काका ने अमात्यपुरन्दर तथा आचार्य पुरगोभिल के समक्ष चन्द्रा का ही पक्ष लिया। न्यायाधिकारी के सम्मुख श्री चन्द्र को नंपुसक बतलाकर उसके विरुद्ध ही वाद प्रस्तुत करने की धमकी दी।

समुद्रगुप्त सुमेर काका के साथ जा रही चन्द्रा मृणाल की देखरेख एवं आर्यक से मिलने का निश्चय करते हैं। भटार्क मथुरा पर आर्यक के नाम से विजय प्राप्त करता है। आर्यक को महाकाल के दर्शनार्थ जाने पर मंजुला के सूक्ष्म दर्शन में चारूदत्त, धूता से मिलने का आदेश मिला था।

आर्यक ने चारूदत्त धूता के साथ रहते हुये राजा पालक का सिर काट दिया। कुछ सैनिकों को अपने पक्ष में कर लिया। कुछ को भागने हेतु विवश कर दिया। चारूदत्त ने आर्यक को राजमहल में ले जाकर प्रमुख नागरिकों की उपस्थिति में राज्याभिषेक किया।

शार्विलक ने भानुदत्त के सैनिकों को मार गिराया। बसन्त सेना के घर के भीतर प्रवेश करके मृतप्राय बसन्तसेना एवं मदनिका को बन्धनों से मुक्त किया। श्रुतिधर की देखरेख में दोनों को छोड़कर आर्यक से मिलने राजभवन जाने पर युद्ध में उलझे... हुये थे ..। उसकी कुशलता देखकर देवरात मुग्ध हो जाते हैं। शार्विलक ने चण्डसेन को मुक्त कर लिया। भटार्क के सेनापतित्व में समुद्रगुप्त की सेना पहुँचने पर भटार्क का शार्विलक से परिचय हुआ था। भटार्क ने चण्डसेन को राज्यभार ग्रहण करने हेतु तैयार किया। देवरात के आर्यक के कारण मृणाल हेतु चिन्तित होने पर मंजुला के भाव शरीर ने मथुरा में निवास करने की प्रार्थना की। देवरात ने मंजुला की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। मथुरा में मृणाल, चन्द्रा, सुमेर काका से समुद्रगुप्त की मुलाकात हुई। आर्यक एवं समुद्रगुप्त का भी वहीं मिलन हुआ था। वटेश्वर आर्यक के आ जाने पर चन्द्रा, मृणाल एवं मृणाल आर्यक का पुत्र शोभन से भी मुलाकात हुई थी।

आचार्य द्विवेदी ने 'पुनर्नवा' उपन्यास में गुप्तयुग में धर्मसंहिताओं के पुनरीक्षण के प्रयास तथा शक, कुषाण, नागवंशी शासकों की न्याय व्यवस्था में विद्वत्सभाओं के आयोजन की प्रथा का संकेत किया है। गुप्तकालीन प्रचलित बौद्ध, शैव, शाक्त एवं वैष्णव उपासना परम्पराओं का भी परिचय दिया गया है। महाकाल के मन्दिर में बसन्त सेना के कलादिगुरू नृत्य का उल्लेख गुप्तयुगीन धर्म साधना में ललित कलाओं के उपयोग का परिचय देता है। उज्जयिनी की आध्यात्मिक व्याख्या तथा वटेश्वर आदि तीर्थों के प्रसंग गुप्तयुगीन पौराणिक साहित्य की तीर्थ प्रतिष्ठा प्रवृत्ति के अनुरूप ही है।

इस उपन्यास में आर्यक बचपन से ही शौर्य, साहस, पर दुःख कातरता नारी सम्मान एवं सेवा भावना से ओतप्रोत दिखाई देता है। मृणालमंजरी को लेखक ने शील, शोभा और पवित्रता की त्रिवेणी के रूप में चित्रित किया है। ईश्वर में दृढ़ आस्था और पतिव्रत धर्म की प्रतिमूर्ति मृणाल सचमुच भारतीय नारी का आदर्श रूप है। सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संघर्षरत व्यक्ति स्वातंत्र्य का प्रतीक चन्द्रा उफनते प्रेम एवं अतृप्त पिपासा की प्रतिमा है। स्पष्टवादी, पूतमना, विनोद प्रिय एवं सेवा परायण सुमेर काका एक आकर्षक पात्र हैं। शार्विलक की मर्यादाप्रियता, साहस, मस्ती, स्पष्ट चिंतन तथा

लोकसेवा भावना इसे विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। अपने हृदय में अतृप्त अभिलाषा की कसक लिये हुये जनसेवा एवं वैराग्य साधना में शांति की तलाश करता हुआ कला मर्मज्ञ शास्त्र विलक्षण देवरात मानवीय निर्बलता एंव सबलता का यथार्थ प्रतीक दृष्टिगोचर होते हैं।

इस उपन्यास में भी ज्योतिष, धर्म आध्यात्म, दर्शन, राजनीति, इतिहास आदि विषयों का उल्लेख किया गया है।

ज्योतिष विषय : –

ज्योतिष एक ऐसा विषय है, जिसमें भूत, वर्तमान के सन्दर्भ में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। कुछ व्यक्ति यहाँ तक कहते हैं, कि ज्योतिष के द्वारा खोयी हुई वस्तु प्राप्त की जा सकती है। प्रस्तुत उपन्यास में द्विवेदी जी ने यह विचार प्रस्तुत किया है। 'पुनर्नवा' उपन्यास में श्यामरूप को मल्ल विद्या के प्रति रूझान था, लेकिन वह वैदिक कर्मकाण्ड से अपरिचित था, अतः श्यामरूप को वैदिक कर्मकाण्ड की शिक्षा हेतु क्षिप्तेश्वर की पाठशाला में भेज दिया गया। श्यामरूप वहाँ से भाग गया थ। वृद्धगोप को ज्योतिष पर विश्वास था। वह श्यामरूप के भाग जाने के पश्चात् उसका पता लगाने के लिए ज्योतिषियों एवं तांत्रिकों के पास जाते हैं।''[1]

ज्योतिष द्वारा ज्योतिषी अतीत में घटित होने वाली घटनाओं के बारे में बता सकता है, लेकिन भविष्य के सन्दर्भ में पूर्णरूपेण सत्य बताना असम्भव होता हे। कुछ लोगों की धारण होती है कि, भविष्य के बारे में बताने वाले ढ़ोंगी होते हैं। व्यक्ति झूठ बोलकर पैसा कमाने का साधन बनाये रहते हैं। 'पुनर्नवा' उपन्यास में मृणाल द्वारा सिद्ध के पास जाने हेतु सुमेर काका से देवरात एवं आर्यक के सन्दर्भ में पूछने के लिए कहा जाता है तो सुमेर काका कहते हैं –''मुझे इन सिद्धों पर रंचमात्र भी विश्वास नहीं है।.............भूतकाल कोई बता दे, यह तो मेरी समझ में आ रहा है, पर भविष्य कैसे बतायेगा? जो दावा करता है, कि भविष्य बता देगा। वह ढोंगी है।''[2]

शारीरिक लक्षणों को देखकर ज्योतिषी शुभ अशुभ बताते हैं। 'पुनर्नवा' उपन्यास में चन्द्रा को सिद्ध बाबा शारीरिक लक्षणों के आधार पर उसके भविष्य के बारे में बताते हैं –''सब उसकी रचना है। तू अपनेको निमित्त क्यों नहीं मानती मेरी अबोधमाता।...............जरा पैर तो दिखा, माँ! हाँ ठीक है, तो तू जिसे पति मानती है, वह संकट में पड़ गया है, और तेरी सखी उसकी पत्नी होगी– तेरी स्वयंवृता सौत है। है न यही बात?...............तेरे केश घन कुंचित है। ये तो अखण्ड सौभाग्य की सूचना देते है, परन्तु इतना भटकी कैसे?................ऐसा लगता है कि सर्वेश्वरी, कि तेरी स्वयंवृता सौत तुझसे भी अधिक शक्ति सम्पन्न लक्षणों की रानी है।''[3]

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्थावजी –2 राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 37
2. " " " 120
3. " " " 183

आध्यात्म :-

'पुनर्नवा' उपन्यास में अन्य विषयों के अतिरिक्त आध्यात्मिक विचारों का वर्णन किया गया है। लेखक की दृष्टि में आत्मसाधना के लिए व्यक्ति को स्वभाव का ज्ञान होना आवश्यक है। स्वभाव को न जानने से भटकना पड़ता है सन्यासिनी माता के शब्दों में –"स्वभाव अपने आपको प्रयत्नपूर्वक पहचानने से समझने में आता है। अपने वास्तविक भाव को जानना कठिन साधना का विषय है।"[1]

जो भाव परमात्मा को न दिया जा सके वह व्यर्थ है। स्वभाव को न पहचानने से देवरात एवं परलोकांतरित मंजुला को भटकना पड़ता है। सिद्धबाबा के अनुग्रह से चन्द्रा अपने मातृभाव को पहचान लेती है। प्रारम्भ में उसकी इच्छा व क्रिया में तालमेल नहीं रहता। सिद्ध बाबा कहते हैं –"तेरी इच्छा शक्ति प्रबल है, उतनी ही प्रबल है, तेरी क्रियाशक्ति दोनों को तूने दो कोठों में डालकर बन्दकर दिया है। ऐसा कर कि दोनों साथ–साथ ताल मिलाकर चल सकें।"[2]

अन्ततः अपने मातृभाव की पहचान होने पर चन्द्रा अपनी लालसा एवं अभिमान को तथा अपने अस्तित्व को विश्वात्मा के चरणों में समर्पित करती है जीवन सार्थक होता है।

आचार्य द्विवेदी जी आप निश्छल सेवा भाव को ही सचराचर विश्व रूप भगवान के साक्षात्कार का साधन मानते है। सिद्धबाबा कहते हैं –"विकार बुरी बात थोड़े ही है? इन्हें उलीचकर महाप्रेमिक को दे देना था।"[3]

भक्त तथा भगवान का तो प्रेम तथा भाव का नाता है जिसे दोनों को अपनी –अपनी ओर से निभाना है। भक्त का काम अनन्य भाव से भगवान के प्रति प्रेम करना है। भगवद् प्रेम के अन्तर्गत आत्मसमर्पण भी आता है। भक्त को भगवान के प्रति पूर्ण रूपेण समर्पित होना पड़ता हे। व्यक्ति सब प्रकार की विषय वासनाओं से मन विरक्त करेगा तभी परमात्मा का अनुग्रह होता है। अतः परमात्मा की प्राप्ति हेतु आत्मसमर्पण आवश्यक है, जैसा कि आर्यक को सन्यासिनी माता बताती है –"राग–विराग, मान अभिमान, शरीर–मन सबको खींच लेता है। पूर्ण समर्पण माँगता है जरा भी रियायत नहीं है, कृष्ण है न! खींचने वाला। प्रिया बनो, सखी बनो, मनावन करती रहो।..........सब दे दिया, पर उसका अभी सन्देह नहीं गया।"[4]

सिद्धबाबा चन्द्रा से सचराचर विश्व रूप भगवन्त की प्राप्ति के साधन के सन्दर्भ में कहते हैं –"सचराचर विश्व रूप भगवन्त को पाने का यही एक साधन है, और साधनायें व्यक्तिपरक है या निर्वैक्तिक। सेवा ही ऐसी साधना है, जो व्यक्ति के माध्यम से अगजग व्यापी विश्वात्मा की प्राप्ति कराती है।"[5]

---

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्थावली–2, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 192
2, 3 " " " 293
4. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्थावली–1, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 191
5. " " " 293

दर्शन :–

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने अपने उपन्यासों में बड़ी कुशलता, सूझबूझ एवं विदग्धता के साथ अलौकिक में लौकिक, दिव्य में पार्थिव एवं चिन्मय में मृण्मय की छटा दर्शायी है। आचार्य द्विवेदी जी उपन्यास में अधिकांश पात्र दार्शनिकता के गहरे समुद्र से दर्शन के चमकते मोती चुनकर लाते हैं। द्विवेदी जी ने मनुष्य के विचार भौतिक पहचान के भीतर विद्यमान अधिभौतिकता के मर्म को 'पुनर्नवा' में इस प्रकार विवेचित किया है –''देवता न छोटा होता है, न बड़ा होता, न शक्तिशाली होता, न अशक्त। वह उतना ही बड़ा होता है, जितना बड़ा उसे उपासक बनाना चाहता है। तुम्हारा देवता भी तुम्हारे मन की विशालता और उज्जवलता के अनुपात में विशाल एवं उज्जवल होगा।''[1]

व्यक्ति से मिलकर ही समाज का निर्माण होता है। समस्त समष्टि मानव का एकचित्त है। व्यक्ति समष्टि का अंग होने के कारण एक दूसरे के सुख–दुःख की अनुभूति करता है। व्यक्ति कहीं अन्यत्र हो लेकिन वहाँ से किसी व्यक्ति को गाढ़ अनुभूति से स्मरण करेंगे, ध्यान से उसे पुकारेंगे या अपने दुःख को संवेदित करेंगे तो समष्टि चित्त के माध्यम से वह उस व्यक्ति विशेष के चित्त में उसी प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकता है। व्यक्तियों का मन, समिष्टि चित्त का अंग होने के कारण प्रत्येक मनुष्य लाल रंग को लाल रंग ही देखता है। किसी व्यक्ति को कष्ट में देखकर व्यक्ति उद्विग्न होता है। व्यक्ति एक दूसरे की भावनाओं को, संवेदनाओं को समझता है, उसी के अनुकूल मानव प्रतिक्रिया करता है।

प्रस्तुत उपन्यास 'पुनर्नवा' में मृणाल सुमेर काका से आर्यक के पास जाने हेतु विचार रखती है। आर्यक मृणाल को छोड़कर चले जाने पर वह उसकी परेशानी की अनुभूति करती हुई व्याकुल है। मृणाल सुमेर काका से पिता देवरात के विचार प्रस्तुत करती हुई कहती है –''हर व्यक्ति का मन होता है, वैसे ही समष्टि चित्त भी है। व्यक्तियों का मन, समष्टि चित्त का एक अंग ही होता है।''[2]

व्यक्ति चित्त और समष्टि चित्त के विषय में आचार्य पुरगोभिल के विचार भी उदाहरणीय है –''लोकचित्त के समष्टि रूप में अन्तर्यामी जिस सत्य को ग्रहण करते हैं, वह अपना भाव अवश्य विस्तार करता है।''[3]

चन्द्रमौलि माढ़व्य शर्मा से शिव और शक्ति की अनादि लीला के सन्दर्भ में कहते हैं –''इस विराट विश्व में व्याप्त शिव और शक्ति की जो अनादिलीला चल रही है, वह उसे अलग नहीं होना चाहिए, वह विराट लीला तो दादा कणकण में, रूप रूप में स्फुरित हो रही है।''[4]

उज्जयिनी शब्द का अर्थ माढ़व्य शर्मा चन्द्रमौलि से स्पष्ट करते हैं, तथा

---

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्थावली–2, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 28
2. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्थावली–1 राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 118
3. " " " 166
4. " " " 102

आर्यवर्त के विध्वंस की स्थिति को भी वर्णित किया है। आर्यावर्त की धरती मदमत्त पौरुष से कसमसा उठी है। उद्धत सैन्य शक्ति के पदचाप से शेषनाग का फण मण्डल व्याकुल हो उठा है। सर्वत्र केवल मारकाट, लूटपाट, नोच, खचोट का बवण्डर आसमान को रजोलिप्त बना रहा है। प्रकाश की कहीं क्षीण रेखा भी दृष्टिगोचर नहीं हो रही है, जबकि पुराण मुनियों के अनुसार शिव भी पार्वती देवी का हृदय जय करने हेतु उतने ही उत्सुक थे, जितनी देवी शिव का। त्रिपुर नामक महाअसुर के द्वारा ब्रह्म के वरदान प्राप्त करने पर देवता त्राहि–त्राहि कर उठे थे। केवल देवी में उस शक्ति से मुकाबला करने का तपोबल था, अतः शिव तपस्या से देवी को प्रसन्न करके पाशुपत अस्त्र प्राप्त करके त्रिपुर को तीन खण्डों में विध्वस्त करने में सफल हुये थे। 'पुनर्नवा' उपन्यास में चन्द्रमौलि सोचते हैं, कि आज पुरुष उद्धत पौरूष बल पर भरोसा करता है, मोहन आनन्ददायिनी शोभा और चारूता का तिरस्कार करता है। वह उसे भोग की सामग्री समझता है। मनोरंजन का साधन मानता है, अपना आश्रित समझकर उसके साथ अवाञ्छनीय व्यवहार करता है, जब कि नारी शक्ति है, उसके प्रति पुरुष की सोच सकारात्मक होनी चाहिए। शास्त्रों तथा देवताओं को सम्मानित करने हेतु पुरुष को भी तपस्या द्वारा नारी को प्रसन्न करना होगा। द्विवेदी जी ने प्रस्तुत उपन्यास में लिखा है –''पिण्ड रूप में द्विधा विभाजित शिव और शक्ति, पुरुष और नारी के रूप में विद्यमान है।''[1]

पंचतत्व (क्षिति, जल, पावन, गगन, समीरा) तथा त्रिगुण (रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण) से निर्मित यह शरीर नष्ट प्राय है। पानी के बुलबुले के सदृश है, जो कि एक दिन समाप्त हो जाता है, जलकर राख हो जाता है। कहा जाता है, कि बहुत ही पुण्य कर्मो के फल से ही मानवयोनि प्राप्त होती है। मानव दो प्रकार के कर्म करता है, एक है सत्कर्म, दूसरा है दुष्कर्म। मानव कभी–कभी लोभ, मोह, क्रोध मद के वशीभूत होकर के दुष्कर्म करता है, जिसके परिणामस्वरूप झूठ तथा परेशानियों का सामना करना पड़ता है तथा जीवनपर्यन्त दुखित रहता है। कुछ व्यक्ति दुष्कर्मो के कारण पलायनवादी तथा कायर हो जाते हैं। सत्कर्मो को करने वाला आत्मविश्वासी तथ निर्भयी होता है। मानव सुकर्मो के द्वारा यश की प्राप्ति करता है। यश मानव को नवीनतम कार्य करने की प्रेरणा देता है। कहा भी गया है – "Fame is the last infirmity of noble minds." यश एक ऐसा शरीर है, जो कि जब तक मानव इस जगत में रहता है, तब तक वह रहता ही है, मानव शरीर नष्ट हो जाने के पश्चात् भी यश रूपी सुगन्धि फैलती रहती है। यश के शरीर में रूग्णावस्था नहीं आती है। यह शरीर जिसको प्राणी सुन्दर व आकर्षण बनने हेतु, सुख देने हेतु न जाने कितने प्रकार के कर्म करता है, फिर एक दिन नष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत उपन्यास में आर्यक विजयी सेनापति के रूप में ख्याति प्राप्त कर

---

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्थावली–2, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 103

चुका था। वह विरक्त होकर सेनापति का काम छोड़कर भाग गया था। आर्यक को अत्यन्त दुःख तथा आत्मग्लानि की अनुभूति होती है। वह क्यों कहीं व्यवस्थित नहीं हो पा रहा है। वह यश की प्राप्ति चाहता है, उसके मन में विचार था कि मनुष्य के जीवन का यह लक्ष्य हो कि लोग अनन्त काल तक यश गाते रहे। यह यशःकाय शरीर मनुष्य के पुरुषार्थ से प्राप्त होता है। द्विवेदी जी ने शरीर की नश्वरता तथा यश को अमिट, अमर बताते हुये आर्यक के माध्यम से कहा है कि –"यह शरीर नाशवान है, यह रूग्ण होता है, वृद्ध होता है, मर जाता है। पर एक यश का शरीर है –यशःकाय। उसमें न रोग होता है न जरा आती है, न मृत्यु का आक्रमण होता है।"[1]

द्विवेदी जी जैसे आस्थावान व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण अगजग, सारी चराचर सृष्टि प्रकृति की समस्त लीलाएं एक सुनिश्चित लक्ष्य की ओर निर्धारित गति और लक्ष्य से बंधी हुई है। 'पुनर्नवा' के ही पात्र कवि चन्द्रमौलि के स्वर में मानो लेखक जीवन के उद्देश्य सार्थकता को इस रूप में व्यक्त करता है –"प्रथम वर्षण के समय जब धरती के आँचल में छिपे हुये बीज अंकुर के रूप में फट पड़ते हैं, तो मेरा हृदय हाय–हाय कर उठता है। किस अज्ञात प्रियतम के लिए यह कसमसाहट है, कौन है वह जिसे पाने के लिए अगजग में व्याप्त प्राणशक्ति व्याकुल हो उठी है? मैं व्याकुल हो उठता हूँ, दादा जब देखता हूँ, कि इन पर्वतों पर फैली हुई विशाल धनराशि रूप से, रंग से, गन्ध से, न जाने किस अज्ञात प्रियतम के लिए आँख विछाये बैठी है। क्या यह सारा आयोजन केवल बात की बात है? क्या इसका कोई प्रयोजन नही है।"[2]

एक कविके दुःख से फूटे इन प्रश्नों में हमारी आस्थावादी प्रवृत्ति प्रकट होती है, जो कि भारतीय आस्तिक वृत्ति का एक सहज रूप कहा जा सकता है। द्विवेदी जी ने 'पुनर्नवा' में कवि चन्द्रमौलि के मुख से फूटे उद्गारों के बहाने हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने जीवन एवं जगत के सनातन प्रश्नों तथा देश एवं काल से सम्बन्धित मान्यताओं को क्रान्त द्रष्टा कवि मुख में रखकर भारतीय काल चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है।

मानव पाँच इन्द्रियों के द्वारा विभिन्न प्रकार के कार्य करता है, तथा विचारों का आदान प्रदान करता है। कुछ विचार मन को पसन्द आते हैं, कुछ विचार मनको पसन्द नहीं भी आते है। मानव को जो विषय मन के अनूकूल प्रतीत होते हैं उन्हें वह एकत्रित करते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में देवरात नैमिषारण्य, काशी, मथुरा, साधुसंग, शास्त्र चर्चा, देवदर्शन, व्रतोपवास करने पर भी शांति नहीं प्राप्त होने पर महाकाल के मन्दिर में पहुँचते हैं। वहाँ चन्द्रमौलि के विषय में विचार करते हुये देवरात के विचार–दार्शनिक पृष्ठभूमि का आश्रय ग्रहण करते फलतः उनके मुख से उद्गार प्रकट होते

---

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्थावली–2, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 106
2. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्थावली–2, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 98

हैं –"सहस्त्रों विषय इन्द्रियों से टकराते हैं। मन उन्हीं का संचय करता है, जो अच्छे लगते हैं। इसी का नाम धारणा है।"[1]

अपनी मृत्यु के उपरान्त सन्यासिनी के रूप में प्रयोजन विशेष की मूर्ति के निमित्त किंचित्काल के लिये शरीर धारण करके मंजुला ने आर्यक के सम्मुख जो दार्शनिक विचार प्रकट किये वह नीचे उदघृत है –" नाम रूप तो उपासक के भाव हैं। उपासक के भाव ही तो उपास्य को नाम और रूप देते हैं।"[2]

भगवान की यह माया बड़ी विषम, भयंकर, सबल एवं दुःखदाई है। यह त्रिगुणात्मक है। जीवों की तो शक्ति ही क्या है। ब्रह्म, शिव, देवता, राक्षस, सुर, नर, मुनि, सभी इसके वशीभूत होते हैं। संसार के समस्त जीवों को इसने अपने पाश में बाँध लिया है। बेचारा जीव हरि से अलग होता है, तुरन्त माया उसे दबोच लेती है, माया के फंदे में फंसकर साँसारिक पदार्थों – शरीर, घर, स्त्री, पुत्र इत्यादि को वह अपना समझने लगता है, एवं भगवान को भूल जाता है, जब भगवान की इच्छा होती है, तभी माया किसी को ग्रसती है या छोड़ती है। ब्रह्म, शिव, महेश, दिग्पाल, योगीश्वर, मुनीश्वर, भगवान द्वारा ही बाँधे जाते हैं और छुड़ाये जाते हैं। तुलसीदास जी ने भी लिखा है –"देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज सब, माया विवस विचारे।"

मनुष्य विधाता की माया में इस प्रकार ग्रसित है, कि उससे छुटकारा पाना कठिन है। देवरात भी प्रस्तुत उपन्यास में चन्द्रमौलि के द्वारा शर्मिष्ठा की बहिन सुनीता के पुत्र स्वयं को बताये जाने पर एकदम खो जाते हैं। माया की विचित्रता को स्वीकार करते हैं। सोचते हुये वे कुछ पराभूत से लगे, उन्होंने सब कुछ दुनिया के प्रपंच को छोड़ने का प्रयास किया लेकिन वह उससे पूर्णरूपेण मुक्त नहीं हो सके। द्विवेदी जी के अनुसार भी प्राणी के लिये माया के वशीभूत होकर उससे मुक्त होना असम्भव है, अतः प्रस्तुत उपन्यास 'पुनर्नवा' में देवरात कहते हैं –"दयानिधान! तुम्हारी माया क्या सचमुच ऐसी दुरत्यया है कि उससे पिण्ड छुड़ाया ही नहीं जा सकता।"[3]

यह संसार देखने में अत्यधिक सौन्दर्य पूर्ण है। पर इस जगत की वास्तविकता ज्ञात होती है, तो वहाँ कुछ नहीं मिलता है, जैसे कि स्निग्ध कदली को चीरा जाये तो हाथ में कुछ नहीं आता है। अद्वैतवादियों ने भी इस जगत को मिथ्या बताया है। यह संसार उसी प्रकार असत्य है, जैसे कि आकाश की वाटिका या धुयें के मकान जो भ्रमवश वाटिका या भवन रूप में देखे जा सकते हैं।

यह जगत त्रिकाल में सत्य नहीं है, किन्तु तब भी जीव इसे सत्य

---

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्थावली –2, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 126
2. " " 191
3. " " 217

मानकर इससे चिपका रहता है। यह भ्रम मात्र है, एक न एक दिन नष्ट प्राय हो जाना है। मानव मृगतृष्णा के सदृश इस जगत को सत्य माने रहता है। मरूस्थल का रेत सूर्य की किरणों के कारण जल जैसा दिखाई देता है। मृग समझता है, यह जल है, इस भ्रम के कारण वह जल पीने के लिए इधर उधर दौड़ता है। वह जल असत्य रहता है, किन्तु मृग उसे सत्य मान रहा है, केवल भ्रम के कारण।

या यह कह सकते है, कि संसार स्वप्न के समान मिथ्या है। स्वप्न में जो कुछ देखा जाता है, अनुभव किया जाता है। वह वास्तविक जगत नहीं होता है, किन्तु जीव भ्रमवश उसे सत्य मानकर दुःख भोगता है। माना कि मनुष्य स्वप्न में देखता है, कि समुद्र में मैं डूब रहा हूँ, अब वह विह्वल होकर चिल्लाता है, रोता है। असत्य होते हुये भी स्वप्न उसे कष्ट पहुँचा रहा है, फिर वह देखता है कि मुझे बड़े जोर का ज्वर आ गया है। शीत से अपने दांतों की कटकटाहट सुनता है। सारे शरीर में पीड़ा का अनुभव कर रहा है, वह जोर से हाय–हाय करता है। वास्तविक जगत से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सब स्वप्न जगत में हो रहा है, जो असत्य है। सारा जगत असत्य ही है, अतः नाते रिश्ते, धन– धाम, पुत्र–कलत्र सभी असत्य हैं। वह बादली बिजली के सदृश प्रकाशमय दिखलाई पड़ते हैं। वह प्रकाश नाशवान है, क्षण भंगुर है, क्योंकि असत्य है, अतः धूता भाभी 'पुनर्नवा' उपन्यास में आर्यक से संसार को क्षणिक माया लोक मानती हुई कहती है–"यह संसार ही क्षणिक माया लोक है, यह स्वप्न भी है।"[1]

भाषा विज्ञान :–

आचार्य द्विवेदी जी ने 'पुनर्नवा' उपन्यास में कुछ शब्द के अर्थ प्रस्तुत किये एवं कुछ शब्दों की उत्पत्ति के बारे में वर्णन किया है। देवरात मंजुला के नृत्य में भावानुप्रदेश का अभाव बताते। आगे उसका अर्थ स्पष्ट करते–"छलित' नृत्य में नर्तक और नर्तकी को उन भावों का स्वयं अनुभव करना चाहिए जो अभिनीत हो रहे हैं। इसी को भावानुप्रवेश कहते हैं।"[2] इसी सदृश उज्जयिनी शब्द को चन्द्रमौलि के माध्यम से स्पष्ट किया तथा लिखा है –"उज्जयिनी अर्थात ऊपर की ओर जीतने की अभिलाषा रखने वाली।"[3]

उज्जयिनी में शार्विलक को बसन्त सेना के आवास पर मांदी को छोड़कर आते वक्त पहचान लिया गया। लेकिन वह आगे बढ़ता गया। तभी द्विवेदी जी ने 'क्रोश' के सम्बन्ध में बताया –"क्रोश" चिल्लाकर आवाज देने को कहते थे, जितनी दूर तक आवाज स्पष्ट रूप से पहुँच जाती थी। उतनी दूरी को भी "क्रोश" ही कहा जाता था। प्राकृत जन में यह शब्द घिस–घिसकर कोस बन गया था। उज्जयिनी में प्रत्येक क्रोश (कोस) पर एक दण्डधर– वाहिनी का अड्डा था।"[4]

---

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्थावली–2, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 255
2. " " " 25
3. " " " 102
4. " " " 150

सन्यासिनी माता आर्यक से धीरोदात्त एवं धीर ललित का अर्थ स्पष्ट करती हुयी कहती है –''जो 'धी' या अन्तः करण से ही उदात्त होते हैं, धीरोदात्त कहते थे, और जो अन्तःकरण से ही ललित हों उन्हें धीरललित कहते थे।''[1]

आचार्य द्विवेदी जी ने राजपुरुषों के घोड़ों की विशिष्टाताओं को बताया है। फिर घोड़ों की दो प्रसिद्ध जातियाँ शालि एवं शब्द की उत्पत्ति के बारे में बताया। ''शालि'' शब्द की प्राकृत में साल साड़ आदि बन गया था, और प्राकृत से पुनः संस्कृत में आकर – 'सात' बन गया था। शुरू–शुरू में शालिवाहन और सातवाहन का अर्थ घुड़सवार ही था, पर दक्षिणापथ के पठारों में इस श्रेणी के घोड़े इतने उपयोगी और दुर्द्धर्ष सिद्ध हुये कि दक्षिणापथ के प्रसिद्ध राजवंश को सातवाहन ही कहा जाने लगा। दक्षिणापथ में घोड़े जितने उपयोगी सिद्ध हुये, उतने उत्तरापथ के मैदानों में नहीं। वहाँ होत्र अधिक उपयोगी सिद्ध हुये होत्र ही प्राकृत में घोट बन गया और आगे चलकर घोड़ा कहलाया।''[2]

चन्द्रमौलि के द्वारा कहे गये श्लोक आर्यक को समझ में नहीं आता है। आर्यक सोचते हैं कि –''कुछ मीमांसक दार्शनिक ऐसा कह गये हैं, कि शब्द की एक ही शक्ति होती है, वक्ता का तात्पर्य। शब्द का अन्तिम और निश्चित अर्थ वही होता है, जो कहने वाले के मन में होता है।''[3]

पौराणिक वृत्ति :–

द्विवेदी जी ने पुराणों से सम्बन्धित कुछ प्रसंगों को उदघृत किया है। वीरक ने श्यामरूप को मांदी के पता हेतु एक कपोतक नामक जुझाड़ी के बारे में बताया। जो कि युधिष्ठिर के जुआ खेलने के बारे में कहता है कि –''युधिष्ठिर का चेला तो हूँ ही। उन्होंने द्रोपदी को दांव पर रख दिया था।''[4] चन्द्रमौलि द्वारा माढ़व्य को हिमालय के लिये मना करने पर चन्द्रमौलि को उज्जयिनी चलने हेतु माढ़व्य कहते हैं। पुराण मुनियों के बताये अनुसार द्विवेदी जी ने त्रिपुर नामक महाअसुर के नाश के लिए शिव पशुपत अस्त्र प्राप्ति का वर्णन किया है।''[5]

भटार्क ने समुद्रगुप्त के बारे में बताया, कि वह कुमारिका भूमि में धर्म का राज्य स्थापित करना चाहते थे। आगे बताते हैं कि ''यह कुमारिका द्वीप (भारतवर्ष) है। तपोनिरता कुमारी पार्वती ने धर्म की रक्षा के लिए ही कैलाश से कुमारिका अन्तरीप तक जाने का कष्ट उठाया था। स्त्रियों के सम्मान की बात मनु के अनुसार बतायी है –''मनु की यह व्यवस्था कि जहाँ स्त्रियों का सम्मान होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं, उन्हें बहुत सम्मान योग्य मालूम होती थी।''[6]

---

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्था0–2, राज0प्रका0 पृ0सं0 195
2. " " " 224
3. " " " 113
4. " " " 93
5. " " " 103
6. " " " 243

सुमेर काका चन्द्रा को देवरात के बताये विचार को बताते हैं –"कृष्ण भगवान ने अर्जुन को होने वाली सारी घटनाओं को अपने भीतर दिखा दिया था।"[1]

इस उपन्यास में मूलकथा को पूर्णतः ऐतिहासिक सिद्ध करने हेतु काल्पनिक घटनाओं को भी इतिहास एवं धार्मिक ग्रन्थों के उद्धरणों से पुष्ट किया गया है। इसके लिए द्वैपायन व्यास के श्लोक, शिव एवं कृष्ण के स्वरूप उद्घाटन में शिवपुराण तथा भगवत् गीता के मतों चन्द्रा एवं श्री चन्द्र व्यवहार प्रसंग को मनुस्मृति, धर्मशास्त्रों एवं पुराणों को आधार बनाया है।

<u>इतिहास :–</u>

ऐतिहासिक उपन्यासकार आलोचक, सुप्रसिद्ध लेखक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने 'पुनर्नवा' नामक उपन्यास में गुप्तकालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक स्थिति का वर्णन किया है। द्विवेदी जी ने इस उपन्यास में गुप्त युगीन धर्मसंहिताओं के पुनरीक्षण के प्रयास तथा शक, कुषाण, नागवंशी शासकों की न्याय व्यवस्था में विद्वत्सभाओं की आयोजन की प्रथा का संकेत किया है। जैसा कि चन्द्रा एवं आर्यक के विवाद को लेकर होने वाले निर्णय के सम्बन्ध में पुरगोभिल एवं आर्यक के विवाद को लेकर होने वाले निर्णय के सम्बन्ध में पुरगोभिल विचार प्रस्तुत करते हुये कहते हैं –"मैने सुना है, कि शक और कुषाण नरपतियों ने अनेक विद्वत्सभाओं का आयोजन किया , था जिनमें धर्मज्ञ, अलूक्ष और सम्मर्शी धर्म वेत्ता उपस्थित हुये थे। विदेशी जातियों के आने के कारण समाज में नयी–नयी परिस्थितियों का प्रादुर्भाव हुआ है। उनके बारे में निर्णय देने में पुराने धर्म सूत्रों एवं स्मृतियों के वचन प्राप्त नहीं होते थे। इन अलूक्ष और सम्मर्शी विद्वानों ने नयी धर्म संहिताओं का निर्माण किया है।"[2]

राजदरबारों में कलापूर्ण नृत्य (मंजुला) आभीरादि के उद्दाम मनोहर लोकनृत्य तथा नगरों में मल्ल युद्धों के आयोजन गुप्तकालीन समाज की कला रुचि एवं मनोरंजन प्रियता सूचित करते हैं। द्विवेदी जी ने गुप्तकालीन प्रचलित बौद्ध, शैव, शाक्त एवं वैष्णव उपासक परम्पराओं का भी परिचय दिया है। कुषाणकाल में मथुरा बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था।

उज्जयिनी (आधुनिक कन्नौज) प्राचीन अवन्ति प्रदेश की राजधानी थी। मथुरा नगर के सदृश यह भी पुरातत्व काल से भारतीय संस्कृति का केन्द्र रही है। विक्रमादित्य ने शकों को परास्त करके उज्जयिनी पर पुनः हिन्दू सत्ता स्थापित की थी। लगभग 75 ई0 से फिर शकों का प्राबल्य हुआ और उनका अधिकार मालवा प्रदेश में प्रायः तीन शताब्दियों तक रहा। चौथी शताब्दी के अन्त में गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों का मूलोच्छेदन कर मालवा प्रान्त को विदेशी शासन से मुक्त कर दिया। इस समय से उज्जयिनी के विद्यालय की आश्चर्यजनक उन्नति हुई। कई शताब्दी तक उज्जयिनी ब्राह्मण बौद्ध तथा जैन तीनों धर्मों की शिक्षा का केन्द्र रही।

---

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्था0–2, राज0प्रका0 पृ0सं0 267
2. " " 164

उज्जयिनी में अनेक बौद्ध बिहार थे। बौद्ध धर्म ने जातिभेद एवं धर्मभेद को समाप्त करने हेतु प्रयास किया। उनके अनुसार कोई भी जाति के व्यक्ति को धर्म ग्रन्थ पढ़कर भिक्षु बनने तथा दूसरों को पढ़ाने का अधिकार मिल गया। शिक्षा इस युग में संस्थागत बनी एवं बड़ी–बड़ी शिक्षा संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्हें बिहार के नाम से सम्बोधित किया जाता था। उसमें हजारों की संख्या में विद्यार्थियों को बिना जाति, धर्म के बन्धन के प्रवेश मिलता था। बिहारों में व्यावसायिक शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों हेतु शिक्षा की सुविधा उपलब्ध थी। यहाँ बौद्ध शिक्षा का मानवतावादी दृष्टिकोण था, भारतीय संस्कृति, विश्वप्रेम, अहिंसा आदि का संदेश प्रसारित कर वसुधैव कुटुम्बकम, की भावना प्रसारित करने का कार्य भी शिक्षा के द्वारा बौद्ध बिहार के माध्यम से होता था। द्विवेदी जी ने बौद्ध बिहार (उज्जयिनी) का उल्लेख करते हुये लिखा है – ''उज्जयिनी में अनेक बौद्ध बिहार थे। सबसे प्रसिद्ध बिहार श्रेष्ठिचत्वर के निकट था नगर के बड़े–बड़े महाजन इस बिहार के अनुयायी थे।........बिहार के वरिष्ठ भिक्षु महानंद स्थविर थें उनकी विद्वत्ता और तपस्या की बड़ी ख्याति थी।''[1]

कुषाणों के पतन के बाद मथुरा साधना का केन्द्र बन गयी। वहाँ पंचध्यानी बुद्धों के स्थान पर साम्ब सहित चतुर्व्यूहों को मिलाकर पञ्चवृष्णि वीरों की उपासना प्रारम्भ हो गयी। श्यामरूप ने मथुरा पहुँचने पर मन्दिर के तोरण द्वार पर लिखा पाया –पंचवृष्णि वीराः। हलद्वीप के आभीरों में चतुर्व्यूहों की पूजा प्रचलित थी। एकवृद्ध ने श्यामरूप को बताया –''संकर्षण (बलराम), वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध ये ही चार प्रसिद्ध वृष्णिकुल के वीर हैं। इधर जब पद्मावती के आभीर सामन्त भद्रसेन ने मथुरा पर आक्रमण किया तो इन चार के अतिरिक्त एक अन्य लहुरा वीर भी उन चारों के साथ जोड़ दिये गये हैं। लाहुरा वीर साम्ब है।''[2]

इसी प्रकार उज्जयिनी में शैव साधना तथा विंध्यवन में त्रिभुवन सुन्दरी के विविध ललित, भैरव रूपों की उपासना का संकेत किया गया है। महाकाल के मन्दिर में बसन्त सेना के कलादि गुरू नृत्य का उल्लेख गुप्तकालीन धर्म साधना में ललित कलाओं के उपयोग का परिचय देता है। उज्जयिनी की आध्यात्मिक व्याख्या तथा वटेश्वर आदि तीर्थों के प्रसंग गुप्तकालीन पौराणिक साहित्य की तीर्थ प्रतिष्ठा प्रवृत्ति के अनुरूप ही है।

चन्द्रगुप्त के बारे में एक वृद्ध ने श्यामरूप को बताया था कि –''लिच्छवियों की कन्या पाटलिपुत्र के राजा चन्द्रगुप्त से व्याही है। लिच्छवियों से विवाह सम्बन्ध होने के बाद चन्द्रगुप्त बहुत शक्ति शाली हो उठा।''[3]

माढ़व्य शर्मा ने चन्द्रमौलि विदिशा के शास्त्रों की प्रशंसा करते हुये आगे कहा –''यवनराज आन्तलिकित ने अपने राजदूत हेलियोडोरस को गरूड़ध्वज के साथ प्रचुर उपहार

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पुनर्नवा, ग्रन्था–2, राज0 प्रका0, पृ0सं0 147
2. हजारीप्रसाद द्विवेदी, ग्रन्थावती – 2, पुनर्नवा, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 68
3. " " 76

भेजकर राजाधिराज भागभद्र के दरबार में भेजा था, विदिशा का यह गरुढ़ध्वज प्रचण्ड पौरूष का निदर्शक है। इस विदिशा के लोहे का ही प्रताप था कि शुंग सेनाओं की विराट जयध्वनि ने सिन्धु तट के उस पार की म्लेच्छवाहिनी को चकित कम्पित कर डाला था।"[1]

महाराजा, समुद्रगुप्त की नीति के सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने विचार प्रस्तुत किया–"महाराज समुद्रगुप्त 'उत्खात प्रतिरोपण' की नीति में विश्वास करते थे, जिसे उखाड़ा, उसी को फिर से रोप दिया। समुद्र गुप्त की यह नीति ही भावी साम्राज्य की सफलता की नींव थी।"[2]

गुप्तकालीन शिक्षाकेन्द्र 'ओझा उल' नाम से प्रसिद्ध पाठशाला[3] का उल्लेख किया गया है।

समाज की वास्तविक स्थिति ज्ञात करने हेतु समुद्रगुप्त रूप बदलकर जनता के बीच में जाते थे। चन्द्रा ने काका से कहा था –"काका मुझे एक क्षण के लिए जो झलक मिली उससे मुझे लगा कि ये सम्राट समुद्रगुप्त ही थे। भेष बदलकर प्रजा से बात करना उनका स्वभाव है।"[4]

प्रस्तुत उपन्यास 'पुनर्नवा' में कुषाणों का पतन, समुद्रगुप्त का विजयोत्कर्ष, आभीरों एवं भारशिवों का कुषाणों से संघर्ष आदि तथ्य इतिहास अनुमोदित है। पूर्ववर्ती शुंग शासकों के द्वारा यवन पराजय तथा विदिशा में यवन राजदूत हेलियोडोरस द्वारा संस्थापित गरुड़ध्वज का भारतीय विजय प्रतीक के रूप में उल्लेख भी इतिहास संगत है। उज्जयिनी की आध्यात्मिक व्याख्या तथा वटेश्वर आदि तीर्थों के प्रसंग गुप्तकालीन पौराणिक साहित्य की तीर्थ प्रतिष्ठा–प्रवृत्ति के अनुरूप ही है।

राजनीति :–

आचार्य द्विवेदी की दृष्टि में सारे देश को अत्याचार एवं शोषण से मुक्त करने का महान कार्य ही शासक को जन सम्मान का पात्र बनाता है। 'पुनर्नवा' उपन्यास में सम्राट समुद्रगुप्त के रूप में ऐसे ही जनकल्याणकारी शासक का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। व्यक्तिगत सुख सुविधा की आकांक्षा से दूर रहने वाले सम्राट समुद्रगुप्त धर्म सम्मत सुशासन की स्थापना तथा देश को ऐक्य सूत्र में आवद्ध करने के उद्देश्य से राजवंशों के उन्मूलन के बजाय उत्खात रोपण की नीति अपनाते है। भटार्क के शब्दों मे –" सम्राट उन लोगों को अपना समान धर्म मानते हैं, जिनका धर्म के प्रति, धर्म सम्मत आचरण के प्रति इस महान देश की जनता और भूमि की पवित्रता के प्रति उसी प्रकार भावना है, जिस प्रकार की उनके मन में है।"[5]

मानव द्वारा किये गये अपराधों का निर्णय सम्राट द्वारा निष्पक्ष होना चाहिए। उसमें भेदभाव, जातिवाद, क्षेत्रीयता, का नहीं करना चाहिए। अकेले में लिया गया निर्णय सही

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रन्थावली–2, पुनर्नवा, राजप्रकाशन पृ0सं0 104
2, 3 " " 107, 145
4. " " 264
5. " " 161

नहीं होता है। मानव को दण्डित करने से पूर्व उसके किये गये अपराध से सम्बन्धित पूर्ण जानकारी लेनी चाहिए, तभी सर्व सम्मति तथा विचारपूर्ण लिया गया निर्णय सर्वमान्य होता है।

'पुनर्नवा' उपन्यास में आर्यक के सम्बन्ध में निर्णय राजा ने अकेले ही लिया था, जिसको कि जनता ने गलत माना था। द्विवेदी जी ने न्याय के सन्दर्भ में भी विचार प्रस्तुत किये हैं। उचित न्याय के लिए मध्यदेश में प्राड्विवाक की राय ली जाती है। शक प्रभावित क्षेत्रों– मथुरा, उज्जयिनी आदि में परामर्शदाता को 'प्राश्निक' कहा जाता था। अकेले में निर्णय राजा का सर्वमान्य नहीं है। जैसा कि द्विवेदी जी ने लिखा हे –"धर्मतः राजा या महाराजाधिराज अकेले में बैठकर कोई निर्णय नहीं ले सकते। धर्मावतार, पितामह और शुक्राचार्य जैसे धर्मज्ञों ने यह कठोर निर्देश दिया कि राजा या न्यायाधीश या मंत्री किसी को भी अकेले में न तो विवाद सुनना चाहिए और न तो निर्णय लेना ही चाहिए। निर्णायक को पांच दोषों से बचना चाहिए – राग, लोभ, भय, द्वेष और एकान्त में वादियों की बातें सुनना।"[1]

राजा धर्म निरपेक्ष होता है। कहा जाता है कि "धरति धारयति वालोकम् इति धर्मः।" अर्थात जो लोक धारण करे वही धर्म है।

या ध्रियते यः स धर्मः' अर्थात जो दूसरों के द्वारा धारण किया जाये वह धर्म है। जिन आचरणों को धारण करके इस लोक में उन्नति एवं परलोक में कल्याण हो, वही धर्म है। धर्म के अन्तर्गत निम्न आचरण को आवश्यक माना है –सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित अनुचित का विचार मन का संयम, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शी, धीरे–धीरे सांसारिक भोगों की चेष्टा से निवृत्ति। राजा द्वारा इन आचरणों को अपनाने पर वह धर्म का अवतार माना जाता है।

द्विवेदी जी के 'पुनर्नवा' उपन्यास में राजा के सम्बन्ध में सुमेर काका चन्द्रा एवं मृणाल आर्यक के विवाद में लिये गये निर्णय को लेकर कहते हैं –"सम्राट तो सम्राट, मामूली राजा भी धर्म का अवतार माना जाता है।............राजा धर्मावतार होता है। उसे गहराई से देखना चाहिए।"[2]

भारत में भिन्न भिन्न क्षेत्रों, जाति, भाषा, संस्कृति और धर्म के लोग रहते हैं। भिन्नताओं के होते हुये भी देश में सभी समान हित की भावना से जुड़े होते हैं। देश के व्यक्ति को अपने वैयक्तिक तथा सामूहिक हितों से अधिक देशहित का ध्यान रखना होता है। देश की एकता किसी राष्ट्र के व्यक्तियों के बीच समान हित के आधार पर विकसित 'हम' की वह भावना है, जो उन्हें क्षेत्र, जाति, भाषा, संस्कृति और धर्म आदि की भिन्नता होते हुये भी अपने देश से बाँधती है और वे देशहित के आगे अपने वैयष्टिक तथा सामूहिक हितों का त्याग कर सकते हैं।

किसी भी देश का किसी प्रकार का विकास उसकी नीतियों रीतियों एवं

---

1. ह0प्र0द्वि0, ग्रन्थावली–2, राज0प्रका0 पृ0स0 162 –163
2. " " 263

जनसहयोग पर निर्भर करता है। उसका आर्थिक विकास भी जनसहयोग पर निर्भर है। देश की नीतियाँ एवं रीतियाँ लोकहित में तभी सहायक बन सकती है, जब शासन में बैठे लोग देशहित में सोचे अर्थात उनमें देश की एकता की भावना हो। यह नीतियाँ, रीतियाँ तभी सुचारू रूप से चल सकती है, जब उनके अनुपालन तथा क्रियान्वयन में जनसहयोग हो और जन सहयोग तभी सम्भव है, जब जन जन में राष्ट्रीय एकता की भावना हो। प्रस्तुत उपन्यास 'पुनर्नवा' में सम्राट समुद्रगुप्त भी देश में एकता स्थापित करना चाहते हैं तथा एक जुट होकर विदेशियों से भारतीयों को मुक्त कराना चाहते हैं, क्योंकि राजा को राज्य में एकता स्थापित करने हेतु प्रयासरत होना चाहिए, अतः समुद्रगुप्त प्रतिज्ञा करते हैं –"भारतवर्ष को एक अखण्ड शासन सूत्र में बाँधेंगे और विदेशियों को ध्वस्त कर देंगे या बाहर निकाल देंगे।"[1]

लेखक के मतानुसार एक आदर्श शासन में लोकहित की दृष्टि से विवेकपूर्ण निर्णय लेने की क्षमता का होना आवश्यक है। उत्तरदायित्वहीनता के साथ लिये गये निर्णय का दूरगामी दुष्परिणाम हो सकता है। द्विवेदी जी ने लिखा है –"अविमृश्यकारिता सबके लिये चारित्रिक दोष है, पर सम्राट के लिए तो वह अक्षम्य अपराध भी है। उसके बिना सोचे विचारे निर्णय से सहस्त्रों को कष्ट हो सकता है। सैंकड़ों की मानमर्यादा ध्वस्त हो सकती है, साम्राज्य ही लड़खड़ा सकता है। उसका प्रत्येक निर्णय बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय होना चाहिए।"[2]

यदि आपततः धर्म संगत दिखाई देने वाला भी कोई शासकीय निर्णय व्यक्ति स्वातंत्र्य में हस्तक्षेप करता है, तो वह अनुचित है। व्यक्ति स्वातंत्र्य की प्रतीक चन्द्रा पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न सत्ता को भी चुनौती देने में नहीं हिचकती। चन्द्रा कहती है –"मैं पतिव्रता .. हूँ तुम्हारे जैसे सम्राट भी मुझे उस व्रत से हटा नहीं सकते। मैं कुंचित भृकुटियों की उपेक्षा करना जानती हूँ।"[3]

मनुष्य जीवन के मुख्य रूप से तीन पक्ष होते हैं–प्राकृतिक, सामाजिक, एवं आध्यात्मिक। मानव के इन तीनों पक्षों के उन्नयन के लिए प्रत्येक समाज में कुछ नियम निश्चित किये हैं। इनमें से सामाजिक जीवन सम्बन्धी नियमों का पालन करना नैतिक कहलाता है, और आध्यात्मिक नियमों का पालन करना धर्म कहलाता है। आध्यात्मिक नियमों का पालन करने से मनुष्य के प्राकृतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक तीनों पक्षों का उन्नयन होता है। सामाजिक नियम देश काल से प्रभावित होते हैं, अतः नैतिकता देशकाल सापेक्ष होती है, इसके विपरीत आध्यात्मिक नियम सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक होते हैं, धर्म देश काल निरपेक्ष होता है।

हमारे भारतीय समाज में धर्म एवं नैतिकता के निकट का सम्बन्ध है,

---

1. ह०प्र०द्वि०, पुनर्नवा, ग्रन्थावली–2, राजकमल प्रकाशन, पृ०सं० 224
2. " " 268
3. " " 264

और इन दोनों का संयुक्त रूप हमारा आदर्श है, हमारी दृष्टि से आध्यात्मिक मान्यताओं एवं मूल्यों अर्थात धर्म पर आधारित नैतिकता केवल सामाजिक आदर्शों तथा मूल्यों पर आधारित नैतिकता से अधिक ठोस तथा स्थाई होती है, और वही सच्ची नैतिकता होती है।

राज्य को समुचित ढंग से संचालित करने हेतु सम्राट धार्मिक एवं नैतिक नियमों का पालन करता है। क्योंकि राज्य, धर्म तथा नैतिकता से उदासीन नहीं रह सकता। राजा अहिंसावादी, दयावान, परोपकारी, जनरक्षक तथा उच्चचरित्रवान होना चाहिए। राज्य धर्म, एवं नैतिकता से उदासीन नहीं रह सकता। नैतिक मूल्यों का पोषण राज्य का प्रथम कर्तव्य होता है। राज्य के विधि विधान सामूहिक सहमति और चिंतनशील मनीषियों की स्वीकृति पर आधारित होना चाहिए। 'पुनर्नवा' उपन्यास में प्रस्तुत सम्राट समुद्रगुप्त के बारे में लेखक का कथन है –"उन्हें युग विशेष में नैतिक मान्यताओं के पुनर्वीक्षण पर विश्वास तो था पर बिना सामूहिक स्वीकृति के किसी भी आचरण को घातक मानने का आग्रह भी था। उन्होंने शास्त्रीय मान्यताओं के पुनर्वीक्षण को प्रोत्साहन भी दिया, परन्तु सम्मर्शी और अलूक्ष विद्वानों की स्वीकृति पाये बिना कोई भी आचार उनकी दृष्टि से उच्छृंखल स्वैराचार मात्र था।"[1]

अत्याचार एवं स्वैराचरण में सलंग्न शासक जन विश्वास को खो देते हैं। हलद्वीप एवं उज्जैन के अत्याचारी शासक जाग्रत जनमत के सामने टिक नहीं पाते। जनता एक सीमा तक ही अन्याय सहन कर सकती है। 'पुनर्नवा' उपन्यास में आर्यक एवं शार्विलक का बलिदानी नेतृत्व जनजन में चेतना का संचार कर देता है।

आचार्य द्विवेदी जी सत्ता प्रतिमाओं में पनपने वाली विलासिता एवं चाटुकारिता जैसी दुष्प्रवृत्तियों का विरोध करते हैं। हलद्वीप के राजदरबार में नृत्य एवं कविता पाठ आदि आयोजनों के अवसर पर विडम्ब रसिकों की असभ्यतापूर्ण टिप्पणियाँ कला का गला घोंट देती है। लेखक अत्याचार एवं शोषण से मुक्ति को ही राजनीति का आदर्श मानते हैं। शासन सूत्रधारों के अविवेकपूर्ण आचरण को समाज एवं राष्ट्र के लिए घातक मानता है। वह राज्य के द्वारा व्यक्ति स्वातंत्र्य में हस्तक्षेप के विरोधी हैं। लेखक द्विवेदी जी के अनुसार नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में राज्य को भी योगदान करना चाहिए। जागृत जनमत ही स्वेच्छाचारी अत्याचारी शासन का उन्मूलन कर सकता है।

धर्म :-

द्विवेदी की दृष्टि में शुष्क आचरण मात्र धर्म नहीं हो सकता। द्विवेदी जी के अनुसार ह्वदयस्थ देवता के द्वारा अभ्यनुज्ञात आचरण ही वास्तविक धर्म होता है। बाह्य परम्पराओं एवं शास्त्र वाक्यों में सदैव धर्म का बोध नहीं हो पाता है। आचार्य द्विवेदी जी के अनुसार सत्य बोलना, दूसरों के लिए कष्ट सहन करना, जो कमजोर है, उसकी सहायता करना, भीतर और बाहर से पवित्र रहना,

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्थावली–2, राज0 प्रका0, पृ0सं0 225

दूसरों को पवित्र रहने को प्रोत्साहित करना सच्चा धर्म है। द्विवेदी जी तुलसीदास जी की परहित सहित धर्म नहीं भाई, पर पीड़ा पीड़ा सम नहीं अधमाई।।" पर विश्वास करते हैं। इसी विचार धारा की अनुकृति हैं, देवरात, आर्यक, सुमेर काका, मंजुला, मृणाल आदि पात्र।

मानव को आदर्श जीवन व्यतीत करने के लिए सदाचरण को अपनाना होता है। मानव को अहिंसावादी, सत्यवादी, ईमानदार होना चाहिए। व्यक्ति एक झूठ बोलने के पश्चात् अनेक झूठ बोलने के लिए विवश हो जाता है। व्यक्ति को अपने कर्मों का फल मिलता ही है। गलत कर्मों के कारण व्यक्ति को दण्डित किया जाता है। यदि व्यक्ति अनैतिक कार्य करता है तो उस अपराध के लिए सामाजिक रूप से अपमानित भी होना पड़ता है। भारतीय संस्कृति में कुछ आदर्शों नियमों को निर्धारित किया गया है। उन नियमों के विरुद्ध कार्य करने पर सामाजिक एवं कानूनी तौर पर दण्डित किया जाता है। कुछ व्यक्ति अपमान तथा दण्ड के भय से बचने के लिए पलायन कर जाते हैं, जिसके पश्चात् अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

प्रस्तुत उपन्यास में आर्यक असत्य की ओर झुकाव के कारण अपने आपको मृणाल से छिपाता है, सम्राट से छिपाता है। लोक अपवाद का भाव और अपराध संचेतना उसे त्रस्त करते हैं। उसका अन्तर्मन कहता है –"व्यक्ति को अपने प्रति ईमानदार बनना होगा। हर बड़ी वस्तु के लिए कर चुकाना होता है। सत्य से बड़ा धन क्या हो सकता है।"[1]

मनुष्य को मनुष्य के प्रति कर्तव्यों का निर्वाह करना ही धर्म है। एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के प्रति प्रेम, सहानुभूति, दया भाव, अपनाना चाहिए। मानव में मानवीयता होना आवश्यक है। प्रत्येक धर्म मानवीयता की प्रेरणा देता है। किसी को दुःखद परिस्थिति में देखने पर उसके दुःख को दूर करने का प्रयास करना ही धर्म होता है। कोई भी धर्म अमानवीय अत्याचार करने को नहीं कहता है। लेखक की दृष्टि में शुष्क आचार मांत्र धर्म नहीं है।"[2]

लेखक की दृष्टि में सत्य और निर्भयता, धर्म के अनिवार्य तत्व है। निर्भय व्यक्ति ही ईश्वर का सच्चा उपासक बन सकता है। सुमेर काका प्रस्तुत उपन्यास में कहते हैं –"तेरे भीतर जो अभय है, वही देवी है। पिशाची क्या है, जानती है, तेरे भीतर जो भय है वही पिशाची है।"[3]

आचार्य द्विवेदी जी धर्म में वैयक्तिक स्वतंत्रता को स्वीकार करते हैं। व्यक्ति स्वतंत्र है, अपनी इच्छा अनुसार आचरण करने के लिए, अपनी इच्छा अनुसार ईश्वर को मानने के लिए स्वतंत्र है, जिस प्रकार परम्परा में निरन्तर विकास की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार धर्म भी बहती हुई नदी का नीर है, बहती हुई नदी का नीर जैसे साफ एवं कीटाणु रहित होता है, उसी प्रकार

---

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्था0–2, राज0 प्रका0 पृ0सं0179
2, 3 " " 106, 56

धर्म है, धर्म में बुराइयों का अन्त स्वतः ही होता रहता है। जब–जब कोई बुराइयाँ आती है उनका निस्तारण धर्म में ही हो जाता है। कुछ भिन्न प्रकार से द्विवेदी जी इसी बात को अपने उपन्यास में 'पुनर्नवा' में इस प्रकार रखते हैं –

"अगर निरन्तर व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा तो एक दिन व्यवस्थाएँ तो टूटेंगी ही अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी।"[1]

अतः व्यवस्थाओं का परिमार्जन या आवश्यकतानुसार सुधार किया जाना अति आवश्यक है। धर्म के मूल में भी परिमार्जन या आवश्कयतानुसार सुधार की आवश्यता है।

आचार्य द्विवेदी जी द्वारा गुप्त कालीन धर्म के रूपों एवं विशेषताओं को उजागर करते हुये कथानक विस्तार किया गया है। तत्कालीन लोकधर्म एवं राजधर्म से सम्बन्धित अनेक विवरण प्रस्तुत उपन्यास में प्राप्त है। सिंहवाहिनी दुर्गा की विशेष प्रकार से व्याख्या करते हुये देवरात मृणाल मंजरी को समझाते हुये कहते हैं –"जो पुरुष शूर हैं, धर्म के अनुकूल हैं, पापी से डरना नहीं जानते, अन्यायी का रक्त पान करते हैं, वे सिंह हैं। मैं उन्हीं को वाहन बनाकर धर्म स्थापना करती हूँ।"[2]

श्यामरूप ने भी प्रथम बार मथुरा पहुँचने पर वहाँ के एक जीर्ण मन्दिर में पाँच वृष्णि वीरों की मूर्तियों के दर्शन किये थे।"[3] उसी जीर्ण मन्दिर के वृद्ध पुजारी ने बौद्ध धर्म, शैव और वैष्णव पूजा पद्धति में पाँच देवताओं की पूजा का विधान वर्णित करते हुये तीनों की उपासना पद्धतियों के साम्य की ओर श्यामरूप का ध्यान आकृष्ट किया था। मथुरा में विभिन्न राजाओं को विभिन्न धर्मों में विश्वास था। द्विवेदी जी ने वृद्ध के द्वारा यह विचार प्रस्तुत किया है –"कुषाण राजाओं ने यहाँ पंचध्यानी बुद्धों की उपासना चलायी। उन्हें धकेलकर भारशिव नाग राजा बन गये तो उन्होंने पंचमुखी शिव की उपासना चला दी।"[4]

तत्कालीन समाज में श्रीकृष्ण की पूजा प्रचलित थी। इस उपन्यास में मृणाल मंजरी द्वारा गोवर्धन धारी श्रीकृष्ण की पूजा का उल्लेख है। हिन्दू धर्म के साथ बौद्ध धर्म में मथुरा एवं उज्जयिनी के निवासियों की आस्था थी। चण्डसेन की पुत्री का बौद्ध उपासना पद्धति में दीक्षित करना तथा बौद्ध विहारों में शार्विलक द्वारा दान देने[5] का उल्लेख किया गया है।

जिस राज्य में धर्म की प्रधानता होती है, वह राज्य उन्नतिशील होता है। भारतवर्ष को धर्म प्रधान माना जाता रहा है। कुषाण राजाओं की धर्म सम्बन्धी प्रवृत्ति के स्थान पर समुद्रगुप्त की धर्म सम्बन्धी प्रवृत्ति पर दृष्टिपात करते है, तो वह पहले का ठीक उल्टा तथ्य सामने आता

1.	ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्थावली–2, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0	167
2.	"	44
3.	"	67
4.	"	117
5.	"	146

है। समुद्रगुप्त का शासन तथा राजनीति दोनों ही एक विश्वसनीय धर्म पर आश्रित है। भटार्क चण्डसेन को भी समुद्रगुप्त से, मैत्री करने हेतु प्रेरित करते हैं। चण्डसेन द्वारा अपने को निःसम्बल कहने पर भटार्क ने समुद्रगुप्त के सन्दर्भ में बताया कि समुद्रगुप्त इन लोगों को अपना समान धर्मा मानते हैं, जिनकी धर्म के प्रति, धर्म सम्मत आचरण के प्रति, इस महान देश की जनता तथा भूमि की पवित्रता के प्रति उसी प्रकार की भावना है, जिस प्रकार की उनके मन में है, क्या चण्डसेन की मित्रता समुद्रगुप्त से सम्भव है। भटार्क ने समुद्रगुप्त के सन्दर्भ में प्रस्तुत उपन्यास में विचार प्रस्तुत किये –"सम्राट अपने को भी धर्मपरायण राजकुल को उतना ही स्वाधीन मानते हैं, जितना अपने को। सभी धर्म के बन्धन में है। पूर्ण अतन्त्र कोई नहीं इस नवीन धर्म नीति का प्रवर्तन करने के कारण ही हम उन्हें अपना नेता मानते।..................अब तक जहाँ उनकी सेना गयी है, वहाँ वहाँ यथासम्भव किसी राजवंश का उच्छेद नहीं किया गया। केवल एक शर्त पर सबकी स्वाधीनता लौटा दी गयी है, वह शर्त है, धर्म सम्मत आचरण।"[1]

लेखक की दृष्टि में सत्य एवं निर्भयता धर्म के अनिवार्य तत्व है। दूसरों की रक्षा करना मानव का धर्म है। शार्विलक के अन्तर्यामी कहते हैं –"मांदी की रक्षा करना पाप नहीं, बिना करनी के सोचते रहना पाप है।"

द्विवेदी जी के मतानुसार ईश्वर किसी जाति, विशेष का नहीं होता है, वह प्रत्येक जाति के लिए है, सभी अपने–अपने ढंग से ईश्वर के प्रति भाव रखते हैं। ईश्वर तो प्रत्येक पवित्र हृदय में वास करता है, जिसका मन स्वच्छ, निश्छल होता है। यदि किसी के अन्तर्मन में कपट रहेगा, ईर्ष्या भाव रहेगा, तो ईश्वर भी उसके प्रति दयालु नहीं होता है। मानव का श्रद्धा भाव ही ईश्वर को महान बनाता है। द्विवेदी जी ने धार्मिक संकीर्णता के प्रति विचाराक्रोश को चन्द्रमौलि के विचारों से प्रकट किया है–"विधाता ने मनुष्य मात्र को समान भाव से श्रद्धालु बनाया है, समान भाव से सहानुभूति और सौजन्य का आश्रय बनाया है।................देवता क्या ईंट पत्थरों के जड़ आवरण में बंदी है? क्या मनुष्य का भाव ही देवता को महान नहीं बनाता? क्या इन लोगों की भक्ति इस प्रकार उपेक्षणीय है।[2]

धर्म देवताओं की मात्र पूजा अर्चना ही नहीं है, न ही मस्जिद, चर्च, गुरूद्वारे तथा मन्दिरों में जाकर पूजा करना ही धर्म है। न ही मात्र धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन ही धर्म है, वास्तविक धर्म के लक्षण धैर्य, क्षमा, शान्ति, लोभ न करना, शुद्धता, इन्द्रिय, निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध आदि है। व्यक्ति का एक दूसरे की रक्षा करना ही धर्म है। व्यक्ति को परोपकार, सहृदयता की भावना अपनाना चाहिए। किसी भी व्यक्ति को विपत्ति में देखकर उसे उस विपत्ति से मुक्ति दिलाने का प्रयास करना चाहिए।

'पुनर्नवा' उपन्यास में चन्द्रमौलि, देवरात, माढ़व्य शर्मा को दस बारह

---

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्था0–2, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 243–244
2. " " 248

दैत्याकार सशस्त्र सैनिकों ने धर दबोचा, एक घर में तीनों को बंदकर दिया। किसी प्रकार तीनों लोग बाहर निकलकर महाकाल के मन्दिर के पास आये, देवरात ने चन्द्रमौलि को माढ़व्य शर्मा के पास छोड़ा, क्योंकि उसके बाद आग कमरे के पास लगने पर देवरात बुझाने के लिए तथा लोगों की सहायता करने के लिए पहुँचते है। द्विवेदी जी मानव में मानवीयता होने के पक्षधर थे। दूसरों की रक्षा करना ही धर्म मानते हैं। द्विवेदी जी ने देवरात के द्वारा धर्म के सम्बन्ध में कहलवाया–"विपत्ति के समय विषदग्रस्त लोगों की सेवा करना मनुष्य का परम धर्म है।"[1]

आचार्य द्विवेदी जी रुढ़ परम्पराओं एवं आप्तवाक्यों के बजाय अपने अन्तर्यामी को ही धर्म का निर्णायक मानते है। अपने प्रति ईमानदारी ही व्यक्ति को निर्भयता प्रदान करती है। सत्य और निर्भयता धर्म के प्रधान गुण हैं।

संस्कृति :–

पुनर्नवा उपन्यास में आचार्य द्विवेदी जी ने प्रारम्भ में भारत की एक प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा आश्रम व्यवस्था को वर्णित किया है। अभिभावक अपने बच्चों को आश्रमों एवं गुरूकुलों के विद्याध्ययन के निमित्त भेजते थे। जो कि नगरों के कोलाहल से दूर जंगल में स्थित हुआ करते थे। वृद्धगोप ने अपने पुत्रों, आर्यक एवं श्यामरूप को देवरात के आश्रम में विद्याध्ययन के लिए भेजा था।

नृत्य नाट्यादि को तत्कालीन समाज में विशेष सांस्कृतिक दर्जा प्राप्त था। नगर श्री मंजुला के नृत्य को देखने हेतु पूरा नगर लालायित रहता था। हलद्वीप के राज्याधिपति की भी नृत्यादि में विशेष रुचि थी। हलद्वीप के पश्चिमी किनारे पर एक ऊँचे टीले रूप में स्थित द्वीपखण्ड के दक्षिणी पूर्वी छोर पर सरस्वती बिहार में बसन्तारम्भ के दिन काव्य, नृत्य, संगीत, आदि का बड़ा आयोजन हुआ था। राजा स्वयं उत्सवों का नेतृत्व करते थे। कई दिन तक नृत्यगीत के साथ–साथ अक्षरच्युतक, बिन्दुमती, प्रहेलिका आदि की प्रतियोगिता चलती थी, न्याय व्याकरण के शास्त्रार्थ हुआ करते थे, कवियों की समस्या पूर्ति की प्रतिद्वन्द्विता भी चलती थी। देशविदेश से आये प्रख्यात मल्लों की कुश्तियाँ भी।"[2]

हिन्दू समाज में वर्णव्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यह इस समाज की विशेषतायें हो या बुराई, फिर भी आज किसी न किसी रूप में अनवरत रूप से चली आ रही है। वैदिक काल से ही वर्ण व्यवस्था का कोई न कोई रूप अवश्य मिलता है।

जन्म के आधार पर प्राचीन काल से ही जाति या वर्ण माना जा रहा है। व्यक्ति की पहचान जन्मगत आधार पर हुई है, कर्म के आधार पर नहीं। व्यक्ति के कर्म उसे श्रद्धा तथा सम्मान दिलाने में अवश्य सहायक रहे हैं। महात्मा विदुर कर्मगत दृष्टि से ब्राह्मण धर्म का निर्वाह कर रहे थे, पर सदैव उन्होंने अपने को दासी का ही पुत्र माना है। उसी प्रकार द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्थावली–2, राजकमल प्रकाशन, पृ0सं0 221
2. " " 19

ब्राह्मण होते हुये भी क्षत्रिय धर्म का निर्वाह करते हैं, फिर भी उन्हें ब्राह्मण ही स्वीकार किया गया। विश्वामित्र ने जन्मगत क्षत्रिय होते हुये भी त्यागपत तपस्या के कारण चाहे उसके पीछे वशिष्ठ ऋषि के प्रति जाग्रत ईर्ष्या ही रही हो– ब्रह्मर्षि पद प्रदान किया है। मनुस्मृति के अनुसार–"लोकवृद्धि के लिए ब्रह्म के मुख, बहुउर और पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की सृष्टि की है।"

चारों वर्णों में ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ वर्ण का माना जाता है। ब्राह्मणों के प्रति लोगों में श्रद्धा भाव रहता है। द्विवेदी जी ने 'पुनर्नवा' उपन्यास में देवरात के माध्यम से कहलवाया है –"देखो आर्य भूल न जाना यह शरीर क्षत्रिय का है। आपके प्रति मेरा वात्सल्य तो बराबर उसी प्रकार बना रहेगा जैसा श्यामरूप के प्रति है, पर गौरव तो देना चाहिए। ब्राह्मण तत्रापि विद्वान ब्राह्मण को सम्मान देना मेरा कुल धर्म है।"[1]

मनुष्य समाज की केन्द्रीय धुरी स्वयं मनुष्य ही है। समाज में मनुष्य की गुणवत्ता एवं शक्तिमत्ता पुरुष एवं स्त्री (तत्व) के रूप में द्विधा विभक्त है। स्त्री प्रेरणा शक्ति है, तो पुरुष उसका वाहककर्ता। नारी अपने भीतर विराजमान महाकर्षक देवता के द्वारा पुरुष को अपनी ओर आकृष्ट कर सामाजिकता की सिद्धि के लिए इसी आत्मदान का पाठ पढ़ाती है, किन्तु लोग उसको ठीक नहीं पहचानते हैं। वे मन्दिर (नारीपिण्ड) को ही आकर्षण का हेतु मान लेते हैं। विचारे कृपण हैं, उनका देवता (पुरुषतत्व) भी सुप्त हैं।

इससे नारी गुणों की उपेक्षा होने लगती है, जिससे पुरुष गुणों के साथ स्त्री गुणों का मेल नहीं हो पाता। वस्तुतः स्त्री का देवता (स्त्रीत्व) माध्यम खोजता है। ठोस ग्रहणीय माध्यम पुरुष के रूप में। नारी का जीवन किसी एक (पुरुष) को सम्पूर्ण रूप से समर्पित होकर ही चरितार्थ होता है। यूँ पुरुष (गुणों) के प्रति अपने स्त्रीत्व का सर्वात्मना समर्पण करके वह अपने स्त्रीत्व के देवता को पा जाती है।

स्त्री का ऐकान्तिक (वैयक्तिक) प्रेम तो सामाजिक हित साधना का सोपान मात्र है। वह माता होकर तो सामाजिक हित साधना का अवसर अनायास ही पा जाती है। वह अपने प्रेमी को माध्यम बनाकर मातृत्व (दया, माया, ममता, सेवा, सुश्रुषा, परोपकारादि) गुणों द्वारा विश्वात्मा अर्थात सामाजिकता को प्राप्त करने का अवसर सहज प्राप्त कर लेती है।

भारतीय संस्कृति में वस्तुतः नारी अपने ऐकान्तिक प्रेम में पुरुष के प्रति निश्शेष भाव से अपने समर्पण द्वारा पुरुषत्व को अपने में वशीभूत कर अपने मातृत्व के गुणों द्वारा सामाजिक हित में लगा देती है। द्विवेदी जी का 'पुनर्नवा' उपन्यास में विचार दृष्टव्य है –"यही आत्मदानी दाताभाव नारी का मूलस्वभाव है, जो उसे भगवान से मिला है, यथा भगवान ने तुम्हें ग्रहीता भाव दिया

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्थावली–2, राज0 प्रका0, पृ0सं0 143

ही नहीं है। तुम्हारा स्वभाव देना है, लुटाना है, अपने आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर महाअज्ञात के चरणों में उड़ेल देना है।"[2]

इस प्रकार नारी के सर्वात्मना आत्मदान का दाताभाव ग्रहीता पुरुष के स्वार्थी मदान्ध पौरुष को सामाजिक हित के लिए आत्मदान की ओर प्रेरित करते हुये समस्त सुख दुःखों की तेल बाती में जलाकर स्त्री एवं पुरुष दोनों की सार्थकता के रूप में सम्पूर्ण मानवता के जीवन को चरितार्थ करता है। द्विवेदी जी के विचार से किसी देश की संस्कृति तथा धर्माचार की कसौटी उस देश की स्त्रियों का सम्मान तथा निश्चिन्तता है।

द्विवेदी जी की दृढ़ आस्था है कि नारी गुणों में निहित निश्छल सेवा के पसीने से अधिक प्रभावकारी वस्तु विधाता की सृष्टि में है ही नहीं, सेवा का पसीना शरीर और मन के कलुष को धो देता है।

मानव समाज में पुरुष प्राकृतिक सभ्यता संस्कृति के आयोजन की कर्मठता के गुणों के साथ नारी प्राकृतिक दया, माया, ममता, अगाध, विश्वास, सेवा परोपकार, प्रभूति लोक कल्याणकारी गुणों का सामंजस्य सामाजिकता के योग क्षेम के लिए परम आवश्यक है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी 'नारी' के सम्मान की रक्षा में विश्वास रखते हैं। 'पुनर्नवा' उपन्यास नारी को केन्द्रित करके ही लिखा गया है, प्रस्तुत उपन्यास में पुरुष पात्र नारी का सम्मान करते हैं। नारी बाह्य क्षेत्र में प्रवेश करती है, समाज में अनेक प्रकार के प्रश्न उभर कर आते हैं। 'पुनर्नवा' उपन्यास में भी नारी बाहर निकलना चाहती है, मृणाल भी आर्यक को सहयोग देने हेतु उत्सुक होती है। द्विवेदी जी के विचार नारी के प्रति श्रद्धेय, सम्मानीय देवतुल्य है। 'पुनर्नवा' उपन्यास में देवरात में भी यही गुण बताया गया है। वह नारी का सम्मान करना तो जानते हैं पर नारी लम्पट या विडम्ब रसिक नही है। मंजुला, जिसका दर्प भी बाणभट्ट की नगरगणिका मदन श्री के समान ही था, मदन श्री के समान वह भी सत्य के अनुसंधान पर देवरात से कहती है–"अपराधिक हूँ आर्य। आपको सदा गलत समझा है। मैं विल्कुल नहीं जानती थी, कि कोई मेरे भीतर देवता का सन्धान भी पा सकता है। मुझे अब लगता है कि केवल आज नहीं, पहले भी तुमने मेरे सुप्त देवता को देखा था। मैं आजीवन पाप पंक में डूबी हुई, तुम्हारी भावनाओं को क्या जानूँ।..........हाय आर्य, मेरे अन्तरतर का देवता सुप्त रहकर भी तुम्हें जितना प्रभावित कर सका, उसका शंताश भी तुम्हारे जाग्रत देवता से यह पापिनी प्रभावित हो पाती।"[1]

शास्त्रों में नारी को किसी न किसी के आश्रय में रहने का निर्देश दिया गया है। इसके पीछे क्या भावना है? नारी को पति के रूप में माध्यम खोजने की सर्वाधिक आवश्यकता होती है। पति के माध्यम से वह एक आश्रय पा लेती है। फलतः वह पूर्ण शरणागति पाकर इस संसार

---

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्था0–2, राज0प्रका0, पृ0सं0 346
2. " " 29

में अपनी सार्थकता को सिद्ध कर पाती है। स्त्री को महामाया का साक्षात विग्रह माना जाता है। 'पुनर्नवा' उपन्यास में मंजुला कहती है –" कैसे बताऊँ स्वामिन् मंजुला का जीवन कितना दूषित है। तुमने कहा था, कि तेरा देवता तेरे भीतर है। मानती हूँ, अवश्य होगा। पर तुम जो नहीं समझ सकोगे, वह यह है कि स्त्री का देवता माध्यम खोजता है, ठोस ग्रहणीय नारी का जीवन किसी एक को सम्पूर्ण रूप से समर्पित होकर ही चरितार्थ होता है। वह अपने देवता को इसी प्रकार पा जाती है।"[1]

नारी को माध्यम की आवश्यकता को वैज्ञानिक सत्य द्वारा भी स्वीकार किया गया है। नारी पुरुष का सम्मिलन इस धरती पर होने से ही सृष्टि प्रक्रिया चल सकती है। नर और नारी मिलकर ही नई सृष्टि की रचना करते रहते हैं।

नारी का शोषण नारी ही करती है, सास, नंद, देवरानी, जेठानी, बहू बेटी, यह नारी ही होती है, संघर्ष भी उन्हीं में होता है। एक दूसरे को अच्छी स्थिति में नहीं देख सकती है। वह पूर्ण रूपेण स्वतंत्र नहीं हो पाती है, अतः उनके अन्तर्मन में कुण्ठा, ईर्ष्या, जलन द्वेष की भावना आ जाती है, सदैव वह अपने को असुरक्षित पाती है, अतः द्विवेदी जी ने नारी की मनःस्थिति को अभिव्यक्त किया है। 'पुनर्नवा' उपन्यास में स्त्रियों की मनःस्थिति के सन्दर्भ में मृणाल चन्द्रा से कहती है –"वे आपस में जब बात करती है, तो किसी न किसी की निन्दा ही करती हैं। बेचारी पुरुषों की तरह मुक्त तो होती नहीं, अपनी छोटी सी दुनिया में इस तरह बँधी रहती कि उन्हें सब समय यही लगता कोई न कोई उन्हें नष्ट करने पर तुला है।"[2]

भारतीय संस्कृति की पश्चिमी संस्कृति की स्त्रियों की स्थिति में अन्तर है। भारतीय संस्कृति में स्त्री को मर्यादित रहना होता है। भारतीय संस्कृति में समाज द्वारा मान्य मूल्यों आदर्शो तथा नियमों का पालन करना पड़ता है। समाज द्वारा मान्य नियमों का पालन न करना गलत साबित होता है। वह अपनी गरिमा को लुप्त कर देती है। वह पूर्णरूपेण स्वतंत्र जीवन व्यतीत नहीं कर सकती है। नैतिक नियमों का पालन न करने पर चारित्रिक दोष स्त्री पर आरोपित किया जाता है। अतः द्विवेदी जी ने भी प्रस्तुत उपन्यास में मृणाल द्वारा चन्द्रा से विचार इस प्रकार अभिव्यक्त किये हैं –"स्त्री का जीवन दूध भरा कटोरा है। इधर–उधर से थोड़ी सी छींट पड़ जाये तो दूध फट जाता है, इसीलिए इसे सावधानी से चलना चाहिए।"[3]

भारतीय संस्कृति में अतिथि देवोभव है, अतः धूता भाभी से चारूदत्त परेशानी की स्थिति में होने पर भी कहते हैं –"गोपाल आर्यक को सुरक्षित स्थान में रखना हमारा प्रथम कर्तव्य है। आज तक हमारे घर में किसी अतिथि को इतना कष्ट सहन नहीं करना पड़ा है।"[4]

---

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्थावली–2, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 60
2, 3 " " 172
4. " " 251

इस उपन्यास में कुल, आयु, सामाजिक प्रतिष्ठा, व्यक्तिगत सम्बन्धों के आधार पर सम्बोधन पदों का प्रयोग मिलता है। यथा देवरात को गुरुदेव, श्रद्धेय, विद्वानों को आचार्य, बराबरी में भद्र आदि इसके अतिरिक्त आलिंगन, प्रणाम, दण्डवत–प्रणाम, चरणस्पर्श, जयकार आदि क्रियाओं द्वारा तत्कालीन शिष्टाचार को प्रस्तुत किया है।

लहुरावीर की लोककथायें, सिद्ध बाबा प्रसंग में सिद्ध अलौकिक शक्तियों में विश्वास, भील बच्चों द्वारा टीले पर दिन के तीसरे पहर गायों के थन से दूध झरना तथा इस घटना द्वारा चन्द्रमौलि की विक्षिप्तता का शमन आदि प्रसंग मिलते हैं, जो कि आज भी ग्रामीण संस्कृति में देखने को मिलते हैं।

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। समाज में नित्य प्रतिदिन परिवर्तन समयानुसार होता रहता है। प्रारम्भ में मानव अत्यधिक रुढ़िवादी, अन्धविश्वासी होता था। वैज्ञानिक प्रगति के साथ–साथ उन रुढ़िवादिताओं में भी परिवर्तन होता आया है। प्रत्येक संकीर्ण विचार, अन्धविश्वास सदैव चल सकते हैं। उनमें परिवर्तन स्वाभाविक है। देश की प्रगति तभी सम्भव है जब व्यक्ति अतीत की परम्पराओं तथा सामाजिक व्यवस्थाओं पर विचार करे। द्विवेदी जी के अनुसार रुढ़ि परम्पराओं में स्वस्थ परिवर्तन होकर प्राचीन मान्यताओं का प्रति संस्कार आवश्यक हो जाता है।

'पुनर्नवा' उपन्यास में नायक गोपाल आर्यक और चन्द्रा के निषिद्ध प्रेम का प्रसंग भी उपन्यासकार ने व्यक्ति स्वतंत्रय और प्रचलित व्यवस्था के विद्रोह की प्रतीकात्मकता के रूप में प्रस्तुत किया है। सम्राट के निर्णय तत्कालीन समाज की न्याय व्यवस्था और परम्परा पुष्ट मान्यताओं से अनुमोदित न होने के कारण चन्द्रा और गोपाल आर्यक का सम्बन्ध लोकापवाद का कारण बनता है। वृथा लांछन का दण्ड भोगने के लिए आर्यक को भी दर–दर भटकना पड़ता है। उसका तिरस्कृत व्यक्तित्व सम्राट चन्द्रगुप्त के द्वारा भी प्रताड़ित होता है। उपन्यासकार ने व्यवस्था तंत्र के ऊपर व्यक्ति स्वतंत्रय को तरजीह दी, इसी सन्दर्भ में व्यवस्थाओं के शोधन परिशोधन का प्रश्न उठाकर 'पुनर्नवा' के पात्र आचार्य पुरगोभिल के मुख से उन्होंने कहलवाया है –"सामाजिक व्यवस्थायें ऐसी ब्रह्मरेख नहीं है, जो मिट नहीं सकती। इसलिए गुहातीत गुरू वरेष्ठ धर्म की रक्षा के लिए निरंतर विचार करते रहने की आवश्यकता है, व्यवस्था को व्यक्ति सत्ता और लोक मानस से अपना तालमेल बिठाकर अपने को जीवन्त और प्रासंगिक बनाये रखना चाहिए। ....परन्तु यदि निरन्तर शास्त्र सम्मत व्यवस्थाओं का परीक्षण न किया जाये तो एक दिन ऐसा आ सकता है कि सारा समाज गतिहीन होकर अपनी बनायी व्यवस्थाओं की बेड़ी में आप ही कस जायेगा।"[1]

---

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्थावली–2, राज0प्रका0 , पृ0सं0 172

इस उपन्यास में कुल, आयु, सामाजिक प्रतिष्ठा, व्यक्तिगत सम्बन्धों के आधार पर सम्बोधन पदों का प्रयोग मिलता है। यथा देवरात को गुरुदेव, श्रद्धेय, विद्वानों को आचार्य, बराबरी में भद्र आदि इसके अतिरिक्त आलिंगन, प्रणाम, दण्डवत–प्रणाम, चरणस्पर्श, जयकार आदि क्रियाओं द्वारा तत्कालीन शिष्टाचार को प्रस्तुत किया है।

लहुरावीर की लोककथायें, सिद्ध बाबा प्रसंग में सिद्ध अलौकिक शक्तियों में विश्वास, भील बच्चों द्वारा टीले पर दिन के तीसरे पहर गायों के थन से दूध झरना तथा इस घटना द्वारा चन्द्रमौलि की विक्षिप्तता का शमन आदि प्रसंग मिलते हैं, जो कि आज भी ग्रामीण संस्कृति में देखने को मिलते हैं।

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। समाज में नित्य प्रतिदिन परिवर्तन समयानुसार होता रहता है। प्रारम्भ में मानव अत्यधिक रुढ़िवादी, अन्धविश्वासी होता था। वैज्ञानिक प्रगति के साथ–साथ उन रुढ़िवादिताओं में भी परिवर्तन होता आया है। प्रत्येक संकीर्ण विचार, अन्धविश्वास सदैव चल सकते हैं। उनमें परिवर्तन स्वाभाविक है। देश की प्रगति तभी सम्भव है जब व्यक्ति अतीत की परम्पराओं तथा सामाजिक व्यवस्थाओं पर विचार करे। द्विवेदी जी के अनुसार रुढ़ि परम्पराओं में स्वस्थ परिवर्तन होकर प्राचीन मान्यताओं का प्रति संस्कार आवश्यक हो जाता है।

'पुनर्नवा' उपन्यास में नायक गोपाल आर्यक और चन्द्रा के निषिद्ध प्रेम का प्रसंग भी उपन्यासकार ने व्यक्ति स्वतंत्रय और प्रचलित व्यवस्था के विद्रोह की प्रतीकात्मकता के रूप में प्रस्तुत किया है। सम्राट के निर्णय तत्कालीन समाज की न्याय व्यवस्था और परम्परा पुष्ट मान्यताओं से अनुमोदित न होने के कारण चन्द्रा और गोपाल आर्यक का सम्बन्ध लोकापवाद का कारण बनता है। वृथा लांछन का दण्ड भोगने के लिए आर्यक को भी दर–दर भटकना पड़ता है। उसका तिरस्कृत व्यक्तित्व सम्राट चन्द्रगुप्त के द्वारा भी प्रताड़ित होता है। उपन्यासकार ने व्यवस्था तंत्र के ऊपर व्यक्ति स्वतंत्रय को तरजीह दी, इसी सन्दर्भ में व्यवस्थाओं के शोधन परिशोधन का प्रश्न उठाकर 'पुनर्नवा' के पात्र आचार्य पुरगोभिल के मुख से उन्होंने कहलवाया है –"सामाजिक व्यवस्थायें ऐसी ब्रह्मरेख नहीं है, जो मिट नहीं सकती। इसलिए गुहातीत गुरू वरेष्ठ धर्म की रक्षा के लिए निरंतर विचार करते रहने की आवश्यकता है, व्यवस्था को व्यक्ति सत्ता और लोक मानस से अपना तालमेल बिठाकर अपने को जीवन्त और प्रासंगिक बनाये रखना चाहिए। ....परन्तु यदि निरन्तर शास्त्र सम्मत व्यवस्थाओं का परीक्षण न किया जाये तो एक दिन ऐसा आ सकता है कि सारा समाज गतिहीन होकर अपनी बनायी व्यवस्थाओं की बेड़ी में आप ही कस जायेगा।"[1]

---

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्थावली–2, राज0प्रका0 , पृ0सं0 172

अन्य लौकिक एवं अलौकिक अवधारणायें :–

'पुनर्नवा' उपन्यास में तत्कालीन लौकिक जीवन का भी पर्याप्त चित्रण हुआ है। इस उपन्यास में कुल, आयु, सामाजिक, प्रतिष्ठा, व्यक्तिगत, सम्बन्धों के आधार पर सम्बोधन पदों का प्रयोग मिलता है, यथा देवरात को गुरू, देव, श्रद्धेय, विद्वानों को आचार्य, बराबरी में भद्र आदि। इसके अतिरिक्त आलिंगन, प्रणाम, दण्डवत प्रणाम, चरणस्पर्श, जयकार आदि क्रियाओं द्वारा तत्कालीन शिष्टाचार को प्रगट किया गया है। मंजुला का नृत्य प्रसंग, मृणाल की सज्जा, मंजुला द्वारा आभूषण त्याग में नारी वेशभूषा तथा आभूषणों का संकेत मिलता है। मंजुला के नृत्य के सन्दर्भ में लेखक लिखते हैं –"राजा के सभापतित्व में ही एक बार मंजुला का नृत्य इसी सरस्वती बिहार में हुआ। ....मंजुला ने उसदिन बड़ा ही मनोहर नृत्य किया था।...............वस्तुतः पूर्वानिल के झोंको से झूमती हुई शतावरी लता के समान उसकी सम्पूर्ण देहवल्लरी ही भावोल्लास की तरंग से लीलायित हो उठी थी। ऐसा लगता था, वह छन्दों से ही बनी है, रागों से पल्लवित हुई है, तानों से संवारी गयी है और तालों से ही कसी गयी है। सभा एकाग्र की भाँति, चित्रलिखित की भाँति मन्त्रमुग्ध की भाँति साँस रोककर उस अपूर्व तालानुग उत्ताल नर्तन का आनन्द ले रही थी। "[1] लेकिन देवरात द्वारा भावानुप्रवेश की कमी नृत्य में बताये जाने पर अगले आयोजन पर मंजुला नृत्य के समय विरह व्यथा की भाँति कूक उठी। द्विवेदी जी ने लिखा है–"उसने हृदय का समूचा रस उड़ेलकर उसके एक–एक अक्षर को भिगोया था।.......उसदिन वह वास्तविक 'भावानुप्रवेश' की अवस्था में थी।"[2]

धूता द्वारा आर्यक को सामने बैठाकर भोजन कराने में आतिथ्य सत्कार का उल्लेख हुआ है। राजा की मृत्यु पर शोक समारोह, कार्तिक पूर्णिमा द्वारा ग्रामोत्सव शार्विलक मांदी विवाह सम्बन्धी आर्यक भूता का हास परिहास का सहज वर्णन हुआ है। इसी तरह मैना मांजर देई। लहुरावीर की लोक गाथायें, सिद्ध बाबा प्रसंग में सिद्ध अलौकिक शक्तियों में विश्वास भील बच्चों द्वारा टीले पर दिन के तीसरे प्रहर गायों के थन से दूध झरना तथा इस घटना द्वारा चन्द्रमौलि की विक्षिप्ता का शमन आदि प्रसंग मिलते हैं, जो आज भी ग्रामीण जीवन में देखे जा सकते हैं।

द्विवेदी जी ने प्रस्तुत उपन्यास में 'अलौकिक' विषय का भी उल्लेख किया है। देवरात को एकान्त में मंजुला की याद आयी, वह सोचते हैं, "हाय देवि, तुम्हारी धाती को यह भण्ड देवरात सुरक्षित नहीं रख सका।" देवरात को "दूर दिगन्त में उन्हें एक ज्योति रेखा दिखायी पड़ी। बिजली की कौंध नहीं, थी, इन्द्रधनुष भी नहीं था। बिल्कुल शरच्चन्द्र की कोमल मरीचियों की बटी कमनीय रश्मि। ज्योति रेखा उतर रही है– विचित्र शोभा है। देवरात देख रहे हैं, देख रहे हैं। ऐसा भी प्रकाश होता है! ज्योति रेखा स्पष्ट दिखाई दे रही है। वह सिमट रही है।" देवरात ससम्भ्रम उठ खड़े

1.2. पुनर्नवा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रन्थावली–2, राज0प्रका0, पृ0सं0 201, 24

हो गये –''तुम हो देवि, तुम हो छन्दों की रानी, तालों की नर्म सखी, वासी को ताजा करने वाली पुनर्नवा। तुम हो देवि, क्या देख रहा हूँ शुभे, यह दिव्य शोभा, यह भावमूर्ति, यह अपूर्व शालीन चारूता! क्या सपना देख रहा हूँ? भाव लोक में उन्नमित हुआ हूँ? हँस रही हो? शुचिस्मिते, अपराधी को देखकर हंस रही हो मंजुलावयते!...............हँसो रानी, खूब हँसो, देवरात हँसते–हँसते सह लेगा।''[1]

माढ़व्य शर्मा अपना अनुभव देवरात से कहते हैं–''जिस समय मैं कारागृह में बेहोश पड़ा था और आग के जलते उल्का खण्ड आंगन में गिर रहे थे, उस समय अचानक होश में आकर मैं चिल्ला पड़ा था न? उस समय तुम्हें बताया नहीं, मगर मैंने प्रत्यक्ष देखा, तुम्हारे चारों ओर एक अपूर्व सुन्दरी चक्कर लगा रही है और ऐसा लगता था तुम्हें बचाने की कोशिश कर रही है। मैं इन डाकिनियों की माया जानता हूँ, आर्य! यह सब नाटक बचाने का नहीं था, तुम्हारे मस्तिष्क के कोमल माँस के खाने का था। वह तो कहो, मैं भय से जोर से चिल्ला उठा। वह एक ओर सटक गयी। लगता है, तभी से वह तुम्हारे पीछे खड़ी है।''

''सुना है आर्य कि डाकिनियाँ श्वेत वस्त्र पहनती है, पर वह लाल कौशेय पहने थी। बिल्कुल आग की लपट के समान लाल कौशेय।''[2]

---

1. ह0प्र0द्वि0, पुनर्नवा, ग्रन्था0–2, राजकमल प्रकाशन पृ0सं0 232
2. " "

उपसंहार

उपसंहार :–

हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का बहुआयामी व्यक्तित्व उनके उपन्यासों में भी स्पष्ट दिखाई देता है। आचार्य द्विवेदी जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथाएँ', 'चारूचन्द्रलेख', 'पुनर्नवा' तथा 'अनामदास का पोथा' इन चार उपन्यासों की रचना करके हिन्दी भाषा की श्री वृद्धि में अपने सहयोग सुमन अर्पित किये हैं। इन चारों उपन्यासों का प्रणयन एवं प्रकाशन क्रमशः सन् 1946, 1963, 1973, एवं 1976 में हुआ है। द्विवेदी जी के सभी उपन्यास अपना शाश्वत मूल्य रखते हैं। ये उपन्यास जिस देश एवं काल को आधार बनाकर लिखे गये हैं, उस देश व काल के लिए तो वे सत्य हैं ही, साथ ही साथ आज के युग में भी उनकी अर्थवत्ता ज्यों की त्यों बनी हुई है, और आने वाली पीढ़ियाँ भी इनके माध्यम से मानव–समाज के लिए सार्थक एवं उपादेय जीवन मूल्यों का सन्धान पा सकेंगी।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में आचार्य प्रवर की बहुज्ञता को उनके उपन्यासों में खोजने का प्रयास किया है। ज्योतिष, धर्म, आध्यात्म, संस्कृति, भाषा विज्ञान, दर्शन, राजनीति आदि विविध विषय आचार्य जी के उपन्यासों में न केवल वर्णित हैं, अपितु सम्पूर्ण वैभव के साथ उपस्थित हैं। इस शोध प्रबन्ध को सुविधा की दृष्टि से पाँच अध्यायों में विभाजित किया है।

प्रथम अध्याय में आचार्य द्विवेदी जी कृत चारों उपन्यासों (बाणभट्ट की आत्मकथा, चारूचन्द्रलेख, पुनर्नवा तथा अनामदास का पोथा) का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास द्विवेदी जी के उपन्यासों में प्रथम उपन्यास है। इस उपन्यास में आचार्य द्विवेदी जी ने नारी समस्या पर समाधानपूर्ण विचार प्रस्तुत करते हुए तत्कालीन समाज एवं संस्कृति का जीता जागता चित्र खींचने में सफलता प्राप्त की है, परन्तु इस उपन्यास के विषय में विचारणीय तथ्य यह है कि इसकी कथा अधूरी है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में हर्षकालीन समाज की सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनीतिक अवस्था का इतिहास सम्मत चित्रण है। तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब इस उपन्यास के दर्पण में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' बाणभट्ट, भट्टिनी तथा निपुणिका के प्रेम त्रिकोण पर आधारित कथा के मूल में अपनी जीवन यात्रा पूरी करता है। बाणभट्ट भट्टिनी के देवोपम सौन्दर्य एवं पावन व्यक्तित्व से अभिभूत हैं। निपुणिका बाणभट्ट के अतिमानवीय गुणों से प्रभावित हैं एवम् उसके प्रति आसक्ति का भाव रखती है। भट्टिनी के सागर के समान गम्भीर हृदय में भी बाणभट्ट के प्रति आकर्षण है जिसे वह सहज अभिजात्य के कारण कभी व्यक्त नहीं होने देती। तीनों

एक दूसरे के प्रति समर्पित है, परन्तु अपनी भावनाओं को व्यक्त करके समर्पण भावना को हल्का नहीं होने देते हैं। निपुणिका उन दोनों को मिलाकर अपनी इहलीला समाप्त करती हैं, परन्तु वे दोनों भी नदी के किनारों की भाँति मिलकर भी नहीं मिल पाते। अन्त में नरलोक से किन्नरलोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक ह्रदय के सन्धान में व्यस्त होकर बाण भी भट्टिनी से दूर जाने को बाध्य हो जाता है।

आचार्य द्विवेदी जी की चार औपन्यासिक कृतियों में कालक्रम के अनुसार दैनन्दिनी शैली में लिखा गया उपन्यास 'चारूचन्द्रलेख' का द्वितीय स्थान है। इस उपन्यास का सारबिन्दु यह है कि, मात्र तांत्रिक साधना ही जीवन की सफलता एवं समाज में सुख एवं कीर्ति प्राप्त करने का साधन नहीं है, प्रत्युत क्रिया शक्ति ही समाज में सुख एवं यश की प्राप्ति का आधार है। इस प्रधान बिन्दु के आवर्त के रूप में आसपास घूमती हुई 'चारूचन्द्रलेखा' की कथा विविध दिशाओं में विस्तृत आलोक मण्डल को स्वयं में संजोये हुये है।। इस उपन्यास की कथा ज्ञान, इच्छा, क्रिया के रूप में त्रिधा–विभक्त आद्यशक्ति की प्रतीक कथा है। इस उपन्यास की कथा एक काल्पनिक राजा सातवाहन एवं उसकी रानी चन्द्रलेखा से सम्बद्ध है। एक जैन अनुश्रुति में पार्श्वनाथ के सान्निध्य में योगी नागार्जुन तथा सिद्धयोगिनी चन्द्रलेखा के द्वारा कोटि बेधी रस साधना का वर्णन किया गया है। उसी अनुश्रुति के छोटे से कथासूत्र को आधार बनाकर इस उपन्यास का ताना बाना बुना गया है। इस उपन्यास में चन्द्रलेखा का तपस्वी नागनाथ की कठिन तपस्या की ओर करुणाप्रेरित आकर्षण, अज्ञात अश्वारोही राजा सातवाहन, का वरण तथा युद्ध का संयोग उपस्थित होने पर सैनिकों को उद्‌बोधन व जनजागरण चन्द्रलेखा के व्यक्तित्व की विशिष्टता का अहसास कराते हैं। रानी चन्द्रलेखा जरामरण पर विजय पाने के लोभ में घर छोड़कर रस साधना में संलग्न हो गयी थी। रानी के असन्नाध्यि में राजा किंकर्तव्यविमूढ़ता के कारण विद्याधर की देशोद्धार योजना छुटपुट युद्धों तक सीमित रह जाती है। भगवती विष्णुप्रिया एवं नाटी माता के द्वारा रानी के विक्षिप्त मानस का मनोवैज्ञानिक उपचार के प्रसंगों में कथाप्रवाह शिथिल गति से बढ़ता है। राजा व अशोक चल्ल से सहयोग लेने के लिए उत्तर की ओर प्रस्थान, मंत्री द्वारा सन्यासियों की सेना संघठन, मैना द्वारा बोधा का वरण और शाह एवं अक्षोभ्य भैरव से सहायता प्राप्ति के प्रयास कथा में पुनः कुछ गति बढ़ी थी। अन्त में भद्रकाली के अपहर्ता को ढूँढ़ती हुई मैना के द्वारा शाह का वध एवं पश्चाताप से आत्मघात कथा का आकस्मिक अन्त हो गया।

'पुनर्नवा' उपन्यास में चतुर्थ शताब्दी के भारत का चित्र अंकित किया गया है। इस उपन्यास में कुषाणों के पतन, समुद्रगुप्त का विजय उत्कर्ष, आभीरों एवं भारशिवों का

कुषाणों के संघर्ष आदि का उल्लेख किया गया है। इस उपन्यास में हलद्वीप, मथुरा, उज्जयिनी तथा वटेश्वर तीर्थ को मुख्य घटना स्थल बनाया है। इसका मुख्य कथानक है –मृणाल मंजरी, आर्यक तथा चन्द्रा की प्रणय कथा। इसमें गुप्तकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में मानव की चिरन्तन समस्याओं का चित्रण हुआ है। देवरात एवं चन्द्रमौलि के परिचय प्रसंग में औशीनरों तथा रघुवंश के अस्तित्व की सूचना देते हुए पुराणों को आधार बनाया है। मूल कथानक को पूर्णतः ऐतिहासिक सिद्ध करने के लिए काल्पनिक घटनाओं को भी इतिहास एवं धार्मिक ग्रन्थों के उद्धरणों से पुष्ट किया गया है। इस उपन्यास के प्रमुख पात्र आर्यक, शार्विलक , चारूदत्त, धूता, बसन्त सेना, मदनिका (मँादी) रोहसेन, चन्दनक, वीरक, राजा पालक भानुदत्त, शूद्रंक के मृच्छकटिकम से ही गृहीत है। इसके अतिरिक्त कालिदास के 'कुमार सम्भव' तथा मेघदूत की सामग्री का बहुत अधिक उपयोग किया गया है। 'मालविकाग्नि मित्रम' का भी उज्जयिनी एवं विदिशा के प्रसंग में प्रतिफलन हुआ है।

'अनामदास का पोथा' उपन्यास वैदिक युगीन पृष्ठभूमि पर लिखा गया प्रागैतिहासिक उपन्यास है। उपनिषद से ली गई रैक्व की कथा को लेखक ने मुख्य कथा से भिन्न कल्पना के माध्यम से एक नवीन रूप प्रदान किया है। रैक्व एवं जाबाला की प्रथम भेंट, स्पर्श अनुभूति के कारण रैक्व की पीठ की सनसनाहट, रैक्व की ऋतम्भरा एवं औषस्ति ऋषि से भेंट, शास्त्राध्ययन के द्वारा रैक्व का द्विजत्व, रैक्व में शुभा (जाबाला) की प्राप्ति की इच्छा, मामा द्वारा निःस्वार्थ जन सेवा का प्रसंग रैक्व द्वारा जनसेवा, जाबाला का अस्वस्थ होना तथा रैक्व के प्रति आकर्षक, रैक्व की जटिल बटु से भेंट, विवाह तथा उद्वाह की चर्चा, जाबाला एवं रैक्व के प्रेम को जानकर राजा जनश्रुति द्वारा विवाह हेतु ज्ञानयज्ञ का आयोजन, रैक्व का जाबाला से उद्वाह आदि घटनायें कल्पना प्रसूत हैं। लेखक ने वैदिक साहित्य, उपनिषदों नाट्यशास्त्र, आदि ग्रन्थों से संग्रहीत सामग्री को अपनी रचनात्मक प्रतिभा एवं कल्पना से एक उपन्यास के रूप में गूँथा है।

प्रथम अध्याय में आचार्य द्विवेदी जी के उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय के अतिरिक्त कथ्यगत अवान्तर विषयों का अनुशीलन किया गया है। कथ्यगत अवान्तर विषय हैं जैसे– ज्योतिष, आध्यात्म, दर्शन, गणित, भाषा विज्ञान, पौराणिक वृत्ति, इतिहास, राजनीति, धर्म, संस्कृति, अन्य लौकिक एवं अलौकिक अवधारणायें।

ज्योतिष भाग्यवाद नहीं है, बल्कि पुरुषार्थवाद या कर्मवाद की युक्ति संगत व्याख्या है। ज्योतिष सूर्य, चन्द्रमा पर आधारित विज्ञान है। ज्योतिष को वस्तुतः सूचनाओं एवं

सम्भावनाओं का शास्त्र कहा जाता है। ज्योतिष भविष्य में होने वाली घटनाओं एवं कठिनाइयों के प्रति मनुष्य को सावधान कर सकता है।

आध्यात्म को Science of soul कहा जाता है। आध्यात्मिक व्यक्ति का तन–मन शरद ज्योत्सना की भाँति शीतल हो उठता है। आध्यात्म आत्मिक चिन्तन का नाम है, जो सर्वथा अन्तुर्मुखी चेतना का निरूपण करता है।

दर्शन मनुष्य के चिन्तन की उच्चतम सीमा है। दार्शनिक वैचारिक संगति दर्शन, जिसमें लौकिक, अलौकिक जीवन जगत का संश्लेष्ट होता है। सत्य की खोज करना दर्शन का विषय है।

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को ही भाषा विज्ञान कहते हैं। वैज्ञानिक अध्ययन से तात्पर्य सम्यक रूप से भाषा के बाहरी एवं भीतरी रूप एवं विकास के अध्ययन से है। वेदों के उपरान्त वैदिक काल में 18 पुराणों की भी रचना हुई है, जिनमें विभिद् कथाओं के माध्यम से भारतीय उच्च आदर्शों की स्थापना हेतु जीवन शैली को प्रस्तुत किया गया है।

इतिहास को जीवन के अनुभवों का कोष माना गया है। अतीत की घटनाओं को भी इतिहास कहा जाता है। आधुनिक युग में इतिहास को मानव प्रगति या मानव सभ्यता के विकास का विवरण माना जाता है। संसार की भिन्न समाजों की सभ्यता के विकास के निष्पक्ष एवं क्रमबद्ध विवेचनात्मक विवरण को ही इतिहास कहा जाता है।

राजनीति की प्रकृति सदैव परिवर्तनशील रही है। प्राचीन यूनानी जगत के राजनीतिक दार्शनिकों ने राजनीति को एक सर्वव्यापी विषय के रूप में स्वीकार किया है। आजकल राजनीति का अभिप्राय शासन के दिन–प्रतिदिन के कार्यों और नीतियों से होता है, प्रमुख रूप से तो राजनीति के अन्तर्गत राज्य की उत्पत्ति, उसका विकास, प्रकृति और उद्देश्य, आदि शाश्वत समस्याओं एवं सिद्धान्तों का ही क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है।

धर्म मानव मात्र को उचित आहार विहार एवं उचित आचार विचार की शिक्षा देता है। उन्हें उनके अनुपालन की ओर प्रवृत्त करता है। धर्म के दो उद्देश्य हैं (1) अभ्युदय (2) निःश्रेयस। धर्म के वास्तविक स्वरूपों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं – (1) सामान्य धर्म (2) विशिष्ट धर्म (3) आपद्धर्म।

विकास के अनेक स्तरों से गुजरते हुये आज का मानव यदि इतना सभ्य और प्रगतिशील बन सका है, तो इसका एक मात्र कारण उसकी संस्कृति है। साधारणतया संस्कृति का अभिप्राय केवल शिष्टाचार के ढंगों अथवा विनम्रता के गुण से समझ लिया जाता है। संस्कृति एक व्यवस्था है, जिसमें हम जीवन के अनेक प्रतिमानों, व्यवहार के तरीकों, भौतिक और अभौतिक प्रतीकों, परम्पराओं, विचारों, सामाजिक मूल्यों मानवीय क्रियाओं तथा आविष्कारों को सम्मिलित करते हैं।" संस्कृति को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं – (1) भौतिक संस्कृति (2) अभौतिक संस्कृति।

लौकिक विषय से तात्पर्य लोक जीवन में होने वाले रीतिरिवाज, आचार–विचार से है, तथा जिन आदर्शों, मूल्यों को मानव अपनाता है।

इस लौकिक जगत से पृथक सत्ता अलौकिक सत्ता है। मानव जीवन जगत के भौतिक जीवन जगत से विमुक्त होकर परब्रह्म चिन्तन में निमग्न रहना अलौकिक सत्ता का परिचायक है। ब्रह्मवाद की व्यंजना ही अलौकिक है।

द्वितीय अध्याय में 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में आचार्य जी के कथ्यगत अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन किया गया है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में ज्योतिष विषय का उल्लेख किया गया है, द्विवेदी जी ने यवन लोगों के मध्य प्रचारित ज्योतिष के सन्दर्भ में लिखा है। द्विवेदी जी ने ग्रह गणना के आधार पर लोरिकदेव की आर्यावर्त की घृणित हाहाकार के प्रति सोच को अभिव्यक्ति किया है। द्विवेदी जी ने वर्णित किया है, कि हस्तरेखाओं द्वारा भविष्य के विषय में बताया जा सकता है। द्विवेदी जी ने होराशास्त्र एवं प्रश्नशास्त्र नामक ज्योतिष विद्या को यावनी पुराण गाथा के आधार पर रचा एक अटकल पच्चू विधान बताया है।

द्विवेदी जी ने आध्यात्म को भी प्रस्तुत उपन्यास में वर्णन किया है। आप ने वैष्णव भक्ति साधना का उल्लेख किया है। अघोरभैरव एवं भैरवी महामाया की वाममार्गी तंत्र साधना, चण्डी मण्डप के पुजारी की ढोंग आडम्बर युक्त पूजा, सुगतभद्र की बौद्ध साधना, वज्रतीर्थ की शक्ति साधना, सुचरिता विरतिवज्र की वैष्णव साधना भट्टिनी एवं निपुणिका की महावराह वैष्णव उपासना वर्णित की गई है।

द्विवेदी जी ने दर्शन विषय के अन्तर्गत भाग्य, संसार आदि के सन्दर्भ में विचार प्रस्तुत किये हैं, द्विवेदी जी ने मानव देह को विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि माना है। इस जगत का कर्णधार ईश्वर को ही स्वीकार किया गया है। सुचरिता बाणभट्ट से नारायण को इस नाव का

कर्णधार बताती है। भट्टिनी सभी लोगों के मानवों में अद्वैतभावना का दर्शन करती हुई कहती है–''इस नरलोक से लेकर किन्नरलोक तक ही रागात्मक़ हृदय व्याप्त है।''

भाषा विज्ञान के अन्तर्गत द्विवेदी जी ने कुछ शब्दों की उत्पत्ति और उनके इतिहास पर भी दृष्टि डाली है।

पौराणिक वृत्ति विषय में 18 पुराणों से लेकर विचार प्रस्तुत किये गये हैं। उपन्यासकार द्विवेदी जी ने महाभारत रामायण तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों के उदाहरण इस उपन्यास में प्रस्तुत किये हैं।

द्विवेदी जी ने ऐतिहासिक उपन्यास की अपेक्षा के अनुरूप युगानुसार वातावरण की ऐतिहासिकता का सफल निर्वाह किया। द्विवेदी जी ने 7वीं सदी के गुप्तकालीन शासन का, हर्षयुगीन धार्मिक स्थिति का भी उल्लेख किया है। कुषाण कालीन मूर्तिकला एवं गान्धार मूर्तिकला का भी उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

आचार्य द्विवेदी जी इस उपन्यास में राजनीति को भुजंग से भी अधिक कुटिल, असिधारा, से भी अधिक दुर्गम, विद्युत शिखा से भी अधिक चंचल मानते हैं। द्विवेदी जी ने वहाँ की अनुत्तरदायी भोगलिप्सा, अनाचार की स्थिति को वर्णित किया है। उन्होंने महामाया के माध्यम से दस्युओं के आक्रमण के समय जनता को एकता के सूत्र में बँधने का आदेश दिया है।

द्विवेदी जी ने धर्म के स्वरूप एवं ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म, तथा वाममार्गी धर्म साधना का प्रचुर मात्रा में वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त चण्डीमण्डप के पुजारी द्वारा धर्म की आड़ में ढोंग, पाखण्ड का चित्रण किया है।

द्विवेदी जी की दृष्टि में भारतीय संस्कृति का मूल आधार सर्वत्र या प्राणी मात्र के आत्यन्तिक कल्याण की भावना है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास में नगर, धर्म, उत्सव, संस्कार, कला और जीवन का व्यापक चित्रांकन किया है। राजाओं, राजबधुओं, सामन्तों, परिचारिकाओं, सैनिकों तथा सामान्य प्रजा के वस्त्राभूषणों का भी यथातथ्य विशद् विवेचन इसमें लक्षित होता है।

इन विषयों के अतिरिक्त अन्य लौकिक एवं अलौकिक अवधारणा को भी प्रस्तुत किया गया है। ज्वालादेवी मन्दिर के महत्व, गधैया ताल तथा उसके आगे स्थिति शिवलिंग के महत्व को भी वर्णित किया है। इस उपन्यास में यत्र तत्र सभी पात्रों की वेशभूषा, फूल–फलादि,

भोजन–सामग्री, तंत्र साधकों में माँस मदिरा का प्रयोग, साधकों द्वारा प्रयुक्त सामग्री, मंगोलों के आचार–विचार, चीनी मिट्टी के बर्तनों, मेखलाओं आदि के द्वारा लौकिक जीवन को संकेतित किया है। द्विवेदी जी ने लौकिकता का वर्णन करते समय चन्द्रलेखा की आविष्ट अवस्था का उल्लेख किया है।

तृतीय अध्याय में 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास के अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन किया है। प्रस्तुत अध्याय में ज्योतिष विषय को इस उपन्यास में से प्रस्तुत किया है। द्विवेदी जी ने बताया कि इस उपन्यास में शारीरिक लक्षणों के आधार पर भविष्य में होने वाली घटनाओं को ज्योतिषी बता सकता है। नागनाथ चन्द्रलेखा को देखकर रानी से बड़ी होने की बात बताते हैं।

द्विवेदी जी ने प्रस्तुत उपन्यास में आध्यात्म विषय को भी वर्णित किया है। आपके अनुसार आध्यात्मिक शक्ति का सन्धान पाकर भी यदि मनुष्य अन्तःकरण एवं बाह्य जगत का सामंजस्य नहीं खोज सका, तो भंयकर तमोगुण का शिकार हो जाता है।

इस उपन्यास में पात्र कहीं न कहीं योगी है या कर्मयोगी। प्रत्येक के विचार भारतीय दर्शन को ठोस पृष्ठभूमि का आश्रय लिये हुये से प्रतीत होते हैं, चाहे वह राजा सातवाहन हो या चन्द्रलेखा, नागनाथ, गोरक्षनाथ, विद्याधर भट्ट भगवती विष्णुप्रिया तथा नाटीमाता हो। आचार्य द्विवेदी जी ने भी विद्याधर के माध्यम से भौतिक सत्ता को नष्टप्राय प्रस्तुत किया है, तथा अज्ञानता को माया, प्रकृति के जड़पिण्डों का सुन्दर, सामंजस्यपूर्ण संघात मानव देह को बताया है।

इसमें लखमनिया शब्द लक्ष्मणसेन का अपभ्रंश रूप बताया है। भाषा को रहस्यमयी देवी बताया है।

इस उपन्यास में से पौराणिक उदाहरणों को भी खोजा गया है। आचार्य द्विवेदी जी महाभारत तथा पुराणों से सम्बन्धित विचारों से भी प्रभावित है, जिनका संकेत उनके उपन्यासों में स्पष्ट दिखाई देता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में 12वीं–13वीं शताब्दी के मध्ययुगीन भारतीय समाज का चित्रण है। द्विवेदी जी ने 12वीं–13वीं सती के भारत के ईर्ष्या, कलह, द्वेष, क्षुद्र स्वार्थों के संघर्ष में रुढ़ि गलित जीवन समाज का चित्र खींचा है। द्विवेदी जी ने भी मुहम्मद गौरी द्वारा चौहान नरेश पर अन्तिम बार आक्रमण करते समय जयचन्द्र का चौहान के प्रति असहयोग का उल्लेख किया है। प्राचीन नालन्दा शिक्षा केन्द्र का भी वर्णन किया गया है। जहाँ देश–देशान्तर से आये साधु एवं विद्वान शास्त्र चर्चा किया करते थे। दक्षिण भारत के प्रमुख राजाओं में चोल राजाओं की धर्म सम्बन्धी नीति को प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत उपन्यास में लेखक की समाजोन्मुखी दृष्टि राजनीति के जनकेन्द्रित रूप में आस्था रखती है। इस उपन्यास में रानी चन्द्रलेखा एवं राजा सातवाहन दोनों राजतंत्र के दोषों की आलोचना करते है। उनके अनुसार राज्य राजा का होता है।.............कुछ ऐसा होना चाहिए कि इस जीत या हार को प्रजा अपनी जीत या हार समझे। युद्ध के समय प्रजा में आत्मविश्वास आवश्यक माना है। द्विवेदी जी के अनुसार चक्रवर्ती राज्य सुख का भोक्ता नहीं, दीन और दलित का रक्षक या गोप्ता रहता है। लेखक के राजनीति सम्बन्धी विचार जनतांत्रिक भावना, लोकसेवा, राष्ट्र के लिए बलिदान भावना, धार्मिक सद्‌भाव और व्यापक जनकल्याण की भावना से ओत–प्रोत हैं।

'चारूचन्द्रलेख' उपन्यास में मध्यकालीन भारत में प्रचलित विविध सिद्धि साधनाओं तथा धर्माडम्बरों का चित्रण किया गया है। लेखक ने सम्पूर्ण उपन्यास में स्वयं के द्वारा लिखित पुस्तक मध्यकालीन धर्म साधना से सामग्री ली है। इसमें पारद अभ्रक की रसेश्वर साधना, शाक्त आगमों की षोडश कुमारी साधना, अमोघवज्र द्वारा वज्रयानी साधना, महाचीनाचार वामाचारियों का चक्रपूजन, जल्हन तथा अशोक चल्ल द्वारा नील सरस्वती की साधना, नाना गोसाई तथा घुण्डकेश्वर के द्वारा शैव तथा पाशुपत साधना, नाटीमाता की मधुर भाव वैष्णव उपासना तथा भगवती विष्णुप्रिया की वैष्णव साधना का वर्णन किया है।

प्रस्तुत उपन्यास में द्विवेदी जी ने संस्कृति को सहज रूप में प्रस्तुत किया है। द्विवेदी जी को भारतीय संस्कृति के समन्वय में अटूट आस्था रही है। इस उपन्यास में आचार्य द्विवेदी जी के अनुसार भारतीय संस्कृति के प्राण में एकत्व है। उसके रक्त में सहानुभूति है। रीतिरिवाज, संस्कारों को भी वर्णित किया गया है। इस उपन्यास में मंगोलों की संस्कृति को भी वर्णित किया गया है। मंगोलों के खान–पान, गान–सम्मान की भावना को उल्लिखित किया है। शिल्पकला का वर्णन तथा नाटीमाता का भाव विहवल नृत्य, कमल तथा मयूर नृत्य को जयत्रिचन्द्र द्वारा प्रदत्त सम्मान को प्रस्तुत किया है। द्विवेदी जी ने भगवती विष्णुप्रिया का आश्रम, नाटीमाता की आराधना का स्थल, नाना गोसाई का मठ, तपस्वी का आराध्य नील लोहित शिवलिंग तथा गधैया ताल एवं वज्रेश्वरी मन्दिर इत्यादि सांस्कृतिक स्थानों का नाम वर्णित किया है।

इन विषयों के अतिरिक्त लौकिक एवं अलौकिक अवधारणा को भी प्रस्तुत किया है। आचार्य जी ने शकुन, असकुन्न के सन्दर्भ में भी विचार वर्णित किये हैं।

चतुर्थ अध्याय में 'अनामदास का पोथा' उपन्यास में से ज्योतिष, दर्शन,

आध्यात्म, संस्कृति, पौराणिकवृत्ति, भाषा विज्ञान, आदि विषयों को खोजा गया है। इन उपन्यासों में ज्योतिष पर भी विश्वास किया गया है, लेकिन हस्तरेखा को संकल्प शक्ति से सीधा कर सकते हैं। इसमें शुभ अशुभ का ध्यान रखते हुये रंगमंच के निर्माण का उल्लेख किया गया है।

आचार्य द्विवेदी जी ने इसमें उपनिषद युगीन शुष्क ज्ञान साधना की विडम्बनाओं को अनावृत्त करते हुये मानव को लोकसेवाओं का सन्देश दिया है। इसमें एकान्त अरण्य में लोक परिचित से शून्य किशोर तापस ऋषिकुमार रैक्व ज्ञान समाधि को छोड़कर लोकसेवा के लिए जीवन संग्राम में कूद पड़ते हैं। द्विवेदी जी के अनुसार दूसरों के सुख हेतु अपने आपको निछावर कर देना ही सबसे बड़ा तप है। दुखियों का दुख दूर करना ही सच्ची आध्यात्मिक साधना है, यही तप है, यही मोक्ष है।

यह उपन्यास भारतीय शास्त्र चिन्तन और पुराण दर्शन से सर्वाधिक प्रभावित है। इसमें विशुद्ध तत्व चिन्तन पर विचार दिया है। इस उपन्यास में उपनिषद कालीन ब्रह्म, आत्मा, जगत के मूल कारणों के अन्वेषण की जिज्ञासा का दार्शनिक विवेचन किया गया है। इसमें प्राणोपासना द्वारा रैक्व की विशिष्ट सिद्धि प्राप्ति को स्वीकार करते हुये भी इसे अखण्ड सत्य का साक्षात्कार ही माना गया है।

इसमें द्विवेदी जी ने औपनिषदिक तत्व चिन्तन को कथाकृति के माध्यम से प्रस्तुत किया है। ऐतिहासिक उपन्यास लेखक के उत्तरदायित्व के अनुरूप आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने वैदिक शिष्टाचार, शिक्षापद्धति, पाठ्य विषय, नाट्य प्रयोग, समाज व्यवस्था के चित्रण में तत्कालीन साहित्य से उपलभ्य ऐतिहासिक संगति का समुचित ध्यान रखा है। नगर सभ्यता के विकास के पूर्व छोटे–छोटे राज्यों का अस्तित्व, ग्रामवासी जनता की आर्थिक विपन्नता तथा आश्रमवासी तपस्वियों का सादा जीवन उपनिषद युग की ग्रामाधारित अर्थव्यवस्था का संकेत करते हैं।

इस उपन्यास में वैदिक काल के शिथिल राजतंत्र का चित्रण किया गया है। जिसके सभी पात्र अकाल ग्रस्त लोगों की सहायता के लिए आकुल एवं प्रयत्नशील हैं। इस उपन्यास में लेखक ने सैद्धान्तिक ज्ञान का व्यावहारिक आचरणों में आना वास्तविक धर्म माना है। ओझाओं को बुलाने तथा गन्धर्व पूजा कराने के उपक्रम को धार्मिक अन्धविश्वास माना है।

द्विवेदी जी के अनुसार मनुष्य द्वारा यावज्जीवन किये जाने वाले महत्वपूर्ण क्रिया कलाप संस्कृति के ही अंग हैं। इसमें उपनिषद कालीन संस्कृति को अभिव्यक्त किया

गया है, गुरू पूर्णिमा के उपाकर्म के विषय में भी भगवती ऋतम्भरा द्वारा रैक्व को निर्देश देकर उस अवसर पर करणीय कार्यों का मार्ग निर्देशन भी किया गया है।

पचंम अध्याय में 'पुनर्नवा' उपन्यास के कथ्यगत अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन है। आचार्य द्विवेदी जी ने ज्योतिष, आध्यात्म, दर्शन, धर्म, पौराणिक वृत्ति, भाषा विज्ञान, आदि विषयों को वर्णित किया है। इस उपन्यास में वृद्धगोप श्यामरूप का पता लगाने हेतु ज्योतिषी एवं तांत्रिकों के पास जाते हैं। इसमें सुमेर काका द्वारा ज्योतिष को ढोंग बताया गया है।

लेखक की दृष्टि में आत्मसाधना के लिए व्यक्ति के स्वभाव का ज्ञान होना आवश्यक है। आचार्य द्विवेदी जी निश्छल सेवा भाव को ही सचराचर विश्व रूप भगवान के साक्षात्कार का साधन मानते हैं, द्विवेदी जी के अंनुसार प्राणी का राग विराग, मान–अभिमान, शरीर मन, सब कुछ प्रभु के प्रति समर्पित करने पर परमेश्वर का अनुग्रह प्राप्त होता है।

आचार्य, द्विवेदी जी ने इस उपन्यास में इस संसार व्याप्त शिव और शक्ति की जो अनादलीला है, उसे कण–कण में, रूप–रूप में स्फुरित बताया है। द्विवेदी जी के अनुसार पिण्ड रूप में द्विधा विभाजित शिव और शक्ति, पुरुष और नारी के रूप में विद्यमान है। इस उपन्यास में शरीर को नाशवान तथा संसार को क्षणिक माया लोक बताया गया है।

भाषा विज्ञान, पौराणिक वृत्ति के विषय से भी सम्बन्धित विचार अभिव्यक्त किये गये हैं।

उपन्यासकार आचार्य द्विवेदी जी ने 'पुनर्नवा' उपन्यास में गुप्तकालीन, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक स्थिति का वर्णन किया है। द्विवेदी जी ने इस उपन्यास में गुप्कालीन धर्मसंहिताओं के पुनरीक्षण के प्रयास तथा शक, कुषाण, नागवंशी शासकों की न्यायव्यवस्था में विद्वत्सभाओं के आयोजन की प्रथा का संकेत किया है। उज्जयिनी की आध्यात्मिक व्याख्या तथा वटेश्वर आदि तीर्थों के प्रसंग गुप्तकालीन पौराणिक साहित्य की तीर्थ प्रतिष्ठा प्रवृत्ति के अनुरूप ही है।

प्रस्तुत उपन्यास में सम्राट समुद्रगुप्त के रूप में ऐसे ही जनकल्याणकारी शासक का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। एकान्त में लिया गया निर्णय गलत बताया गया है। राजा को धर्म का अवतार बताया है। लेखक अत्याचार एवं शोषण से मुक्ति को ही राजनीति का आदर्श मानते हैं। शासन सूत्रधारों के अविवेकपूर्ण आचरण को समाज एवं राष्ट्र के लिए घातक मानता है। वह राज्य के द्वारा व्यक्ति स्वातंत्र्य में हस्तक्षेप के विरोधी हैं। लेखक द्विवेदी जी के अनुसार नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में राज्य को भी योगदान करना चाहिए।

द्विवेदी जी की दृष्टि में शुष्क आचरण मात्र धर्म नहीं हो सकता। द्विवेदी जी के अनुसार हृदयस्थ देवता के द्वारा अभ्यनुज्ञात आचरण ही वास्तविक धर्म होता है। लेखक की दृष्टि में सत्य और निर्भयता धर्म के अनिवार्य तत्व है। आचार्य जी द्वारा गुप्तकालीन धर्म के रूपों एवं विशेषताओं को उजागर करते हुये कथा का विस्तार किया गया है। प्रस्तुत उपन्यास में मृणाल मंजरी द्वारा गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण की पूजा का उल्लेख है। लेखक के अनुसार विधाता ने मनुष्य मात्र को समान भाव से श्रद्धालु बनाया है।

प्रस्तुत उपन्यास में आचार्य द्विवेदी जी ने प्रारम्भ में एक प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा आश्रम व्यवस्था को वर्णित किया है। इसमें सरस्वती बिहार में वसन्तारम्भ के दिन काव्य, नृत्य, संगीत आदि का आयोजन का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अक्षरच्युतक, बिन्दुमती, प्रहेलिका आदि प्रतियोगिता को भी वर्णित करते हैं। विभिन्न जातियों, एवं वर्णों के विषय में भी विचार अभिव्यक्त किये गये हैं। इन विषयों के अतिरिंक्त लौकिक एवं अलौकिकता के सन्दर्भ में भी विचार प्रस्तुत किये हैं।

इसके अतिरिक्त भाषा विज्ञान, पौराणिक, वृत्ति तथा लौकिक, अलौकिक विषयों का भी वर्णन किया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में आचार्य द्विवेदी जी द्वारा प्रणीत उपन्यासों के लक्ष्य में अन्तर्निहित अवान्तर विषयों का गवेषणात्मक अनुशीलन करने का प्रयास किया गया है। मेरे इस कार्य से आचार्य द्विवेदी के उपन्यासों पर एक नूतन दृष्टिकोण से शोध कार्य करने का मार्ग प्रशस्त होगा। आशा है, इस प्रकार के शोध कार्यों में मेरा यह शोध प्रबन्ध भी सहायक की एक छोटी सी भूमिका का निर्वाह करेगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

परिशिष्ट

(क) उपजीव्य ग्रन्थ :–

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – (बाणभट्ट की आत्मकथा)
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – (चारूचन्द्रलेख)
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – (पुनर्नवा)
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली – (अनामदास का पोथा)

(ख) उपस्कारक ग्रन्थ :–

हिन्दी के ग्रन्थ

1. कुछ विचार (प्रेमचन्द्र)
2. साहित्यालोचन (श्याम सुन्दर दास)
3. काव्य के रूप (गुलाब राय)
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल)
5. अग्नि पुराण का काव्य शास्त्रीय भाग (रामचन्द्र शुक्ल)
6. हिन्दी साहित्य (हजारी प्रसाद द्विवेदी)
7. आधुनिक हिन्दी साहित्य (लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय)
8. आधुनिक हिन्दी उपन्यास का उद्भव एवं विकास (डॉ० वेचन)
9. हिन्दी गद्य साहित्य (डॉ० शिवदान सिंह चौहान)
10. हिन्दी उपन्यास एवं अन्तर्यात्रा (डॉ० रामदास मिश्र)
11. हिन्दी उपन्यास एवं अध्ययन (डॉ० गणेशन)
12. आधुनिक समीक्षा (डॉ० देवराज)
13. हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ (डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय)
14. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र (राजनाथ शर्मा)
15. श्रीनिवास ग्रन्थावली (डॉ० श्रीकृष्ण लाल)
16. आधुनिक हिन्दी साहित्य (डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय)
17. प्रेमचन्द, पूर्व हिन्दी उपन्यास (डॉ० कैलाश प्रकाश)
18. हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य में सामाजिक चिन्तन (डॉ० राजेन्द्र प्रसाद शर्मा)
19. साहित्य संगम : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (डॉ० रामकुमार गुप्त)
20. हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव (भारत भूषण अग्रवाल)

संस्कृत ग्रन्थ

1.	रघुवंश	(कालिदास)
2.	याज्ञवल्क्यस्मृति	
3.	स्वप्नवास दत्तम्	(महाकवि भास)
4.	अमरकोष	
5.	नाट्य शास्त्रम	(भरत)
6.	दशरूपकम्	
7.	अभिज्ञान शाकुन्तलम्	(कालिदास)
8.	साहित्य दर्पण	(विश्वनाथ)
9.	काव्यालंकार	(भामह)
10.	काव्यादर्श	(दण्डी)
11.	कादम्बरी	(बाणभट्ट)
12.	काव्यालंकार सूत्रवृत्ति	(वामन)

अंग्रेजी की पुस्तकें

1- The Shorter oxford English dictionary.
2- The new Pictured encyclopeadia.
3- The novel and the people (Roly Fox)
4- Encyclopeadia Britanica.